प्रवासी जगत

प्रवासी जगत का साहित्य, साहित्यकार व संस्कृति केंद्रित पत्रिका

खंड-1 अंक-1 आश्विन-मार्गशीर्ष, 2074 / सितंबर-नवंबर, 2017

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

पद्मभूषण डॉ. मोटूरी सत्यनारायण

2 फरवरी 1902 - 6 मार्च 1995

आंध्र प्रदेश के कृष्णा जिले के दोण्डपाडू ग्राम में जन्मे, केंद्रीय हिंदी संस्थान के संस्थापक, हिंदी सेवी, पद्मभूषण श्री मोटूरी सत्यनारायण जी भारतीय संविधान सभा के सदस्य के रूप में हिंदी को राजभाषा के पद पर आसीन करवाने वालों में से थे। उनकी स्मृति में संस्थान द्वारा प्रति वर्ष भारतीय मूल के दो(2) विद्वानों को विदेशों में हिंदी के प्रचार–प्रसार हेतु पुरस्कार प्रदान किया जाता है।

प्रवासी जगत

प्रवासी जगत

प्रवासी जगत का साहित्य, साहित्यकार व संस्कृति केंद्रित पत्रिका

खंड-1 अंक-1

आश्विन – मार्गशीर्ष, 2074 / सितंबर-नवंबर, 2017

परामर्श मंडल

डॉ. वशिनी शर्मा
एम.ए., पी–एच. डी.
पूर्व प्रोफेसर, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा
ई–मेल : vashinisharma@gmail.com

डॉ. मीरा सरीन
एम.ए., पी–एच. डी.
पूर्व प्रोफेसर, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा
ई–मेल : omeerasarin@gmail.com

डॉ. सत्यदेव टेंगर
एम.ए., पी–एच. डी.
सदस्य, शासी समिति, विश्व हिंदी सचिवालय,
संपादक– आक्रोश, मॉरीशस
ई–मेल : s.tengur@yahoo.com

डॉ. पुष्पिता अवस्थी
एम.ए., पी–एच. डी.
माउंट एवरेस्ट भवन, विंटरकोइनिंग–28,
1722 सीबी जुईड चारवुड, नीदरलैंड
ई–मेल : info@pushpitaawasthi.com

डॉ. सुधा ओम ढींगरा
एम.ए., पी–एच. डी.
101, गुईमन कोर्ट, मोरिसविल्ले,
एनसी–27560, यू.एस.ए
ई–मेल : sudhadrishti@gmail.com

संरक्षक

डॉ. कमल किशोर गोयनका
एम.ए., पी–एच. डी.
उपाध्यक्ष, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा
ई–मेलः kkgoyanka@gmail.com

प्रधान संपादक

प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय
एम.ए., पी–एच. डी.
निदेशक, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा
ई–मेलः nkpandey65@gmail.com

संपादक

डॉ. गंगाधर वानोडे
एम.ए., पी–एच. डी.
विभागाध्यक्ष, अंतरराष्ट्रीय हिंदी शिक्षण विभाग
ई–मेलः gwanode@gmail.com

प्रकाशन सलाहकार

डॉ. स्वर्ण अनिल
एम.ए., पी–एच. डी.
केंद्रीय हिंदी संस्थान, दिल्ली केंद्र
ई–मेलः swarananilkhs16@gmail.com

अंतरराष्ट्रीय हिंदी शिक्षण विभाग

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा
मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार
हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा – 282005
दूरभाष : 0562-2530683/684/705

प्रवासी जगत का साहित्य, साहित्यकार व संस्कृति केंद्रित हिंदी में प्रकाशित त्रैमासिक पत्रिका
–प्रवासी जगत

खंड-1 अंक-1, आश्विन–मार्गशीर्ष, 2074 / सितंबर–नवंबर, 2017

© सचिव, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा

प्रकाशक : विभागाध्यक्ष, अंतरराष्ट्रीय हिंदी शिक्षण विभाग,
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

संपादकीय कार्यालय : अंतरराष्ट्रीय हिंदी शिक्षण विभाग, केंद्रीय हिंदी संस्थान,
हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005
फोन/फैक्स -0562–2530684
ईमेल - pravasijagat.khsagra17@gmail.com

सदस्यता शुल्क : व्यक्तिगत – प्रति अंक ₹ 40 / – , वार्षिक – ₹ 150 / –
संस्थागत – वार्षिक शुल्क ₹ 250 / –
(डाक व्यय प्रति अंक ₹ 35 / – तथा
वार्षिक ₹ 100 / – अतिरिक्त होगा)
विदेशों में प्रति अंक $ 10, वार्षिक $ 40

आवरण : **डॉ. विजय एम. ढोरे**

मुद्रक : **राष्ट्रभाषा ऑफसेट प्रेस, आगरा**

इस पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं के विचारों से केंद्रीय हिंदी संस्थान का सहमत होना आवश्यक नहीं है।
प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए स्वामी/प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।

स्वामित्व : **सचिव, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा**

पुरोवाक्

'प्रवासी जगत' के नाम से एक नई पत्रिका का जन्म हो रहा है, बल्कि यह कहना उपयुक्त होगा कि उसका जन्म हो चुका है। 'प्रवासी जगत' का प्रवेशांक अब आपके हाथ में है। देश-विदेश में प्रवासी संसार पर अनेक पत्रिकाएँ निकल रही हैं। विदेशों से 'वसंत' तथा 'इंद्रधनुष' (मॉरीशस), 'पुरवाई' (ब्रिटेन), 'विश्वा', 'विभोर स्वर', एवं 'हिंदी जगत' (अमेरिका), 'हिंदी चेतना' एवं 'प्रयास' (कनाडा) आदि निकलने वाली कुछ महत्वपूर्ण पत्रिकाएँ हैं। भारत से 'प्रवासी संसार', 'प्रवासी जगत' आदि पत्रिकाएँ निकल रही हैं। प्रवासी साहित्य का जिस गति से विस्तार हो रहा है तथा स्तरीय कृतियाँ आ रही हैं उसे देखकर कुछ और भी पत्रिकाएँ निकलें तो उनका हिंदी संसार स्वागत ही करेगा। अत: मुझे आशा है कि 'प्रवासी जगत' पत्रिका प्रवासी-संसार में वृद्धि के साथ उसे और अधिक लोकप्रिय तथा उच्चकोटि की कृतियों से संपन्न करेगी। हिंदी में प्रवासी साहित्य एक नया विमर्श है जिसकी हलचल है, गोष्ठियाँ, सम्मेलन तथा लोकार्पण जैसे कार्यक्रम होते रहते हैं तथा पत्रिकाएँ प्रवासी साहित्य विशेषांक निकालने से भी पीछे नहीं रहती। प्रवासी साहित्य एक आंदोलन है, एक नया साहित्य-विमर्श है और हिंदी की साहित्य-धारा का एक प्रमुख अंग है। इधर कुछ वर्षों से स्त्री-विमर्श तथा दलित-विमर्श की खूब चर्चा हुई हैं और अनेक उच्चकोटि की रचनाएँ सामने आई हैं तथा पत्र-पत्रिकाओं तथा गोष्ठी-सम्मेलनों में बहस के महत्वपूर्ण विषय हैं। अब आदिवासी-विमर्श के साथ प्रवासी-विमर्श भी चर्चा और बहस का अंग बन गया है और साहित्य प्रेमियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। 'प्रवासी जगत' पत्रिका इस उद्देश्य से आरंभ की गई है कि वह प्रवासी साहित्य को लोकप्रिय बनाते हुए उस पर चर्चा एवं विवेचन के नये द्वार खोलेगी। साहित्य के विकास में पत्र-पत्रिकाओं का कितना योगदान है, उसे हम सब जानते हैं। अत: विश्वास है कि हिंदी संसार इस नई पत्रिका 'प्रवासी जगत' का हृदय से स्वागत करेगा और देश-विदेश के लेखकों को मंच प्रदान करेगा।

प्रवासी साहित्य को लेकर इधर कई बार अच्छी बहस हुई हैं। असल में प्रवासी साहित्य एक नए भाव-बोध, एक नए रचना-संसार तथा एक नए रचना-उद्देश्य को लेकर आया है। यह हिंदी में तोताराम की फिजी पर पुस्तकों, बच्चन की प्रवासी की डायरी, गांधी के प्रवासियों के लिए किए संघर्ष, मॉरीशस के हिंदी साहित्य के आगमन से शुरू हुआ और स्वतंत्रता के बाद इंग्लैंड, अमेरिका आदि देशों में गए शिक्षित भारतीयों की लेखन प्रतिभा से विकसित हुआ। इससे एक ओर गिरमिटियों का साहित्य आया और दूसरी ओर पूंजीपति देशों में गए प्रवासी भारतीयों की कृतियों से दूसरे रूप में आया। असल में, इन दोनों की संवेदनात्मक अनुभूतियों, परिवेश तथा उद्देश्यों में अंतर होने के कारण दो भिन्न रूपों में साहित्य उपलब्ध होता है, किंतु इनमें एक समानता है कि ये तो भारतवंशी लेखकों द्वारा लिखा गया है अथवा प्रवासी भारतीय लेखकों के द्वारा। भारत किसी न किसी रूप में इनमें विद्यमान है।

अंत में मुझे आशा है कि 'प्रवासी जगत' प्रवासी साहित्य की एक प्रमुख पत्रिका बनेगी और प्रवासी साहित्य के मर्म को एवं प्रवासी लेखकों की सर्जनात्मक कृति का समुचित साक्षात्कार करा सकेगी। आशा है, पाठक समय-समय पर हमें अपने सुझाव एवं अभिमतों से अवगत कराते रहेंगे जिससे पत्रिका को निरंतर बेहतर बनाया जाता रहे।

'केंद्रीय हिंदी संस्थान' एक ऐसी संस्था है जो स्वयं सात पत्रिकाएँ निकालने में कार्यरत है, और लगभग चालीस पत्रिकाओं को अनुदान देती है। प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय के निदेशक बनने के बाद अब 'समन्वय पूर्वोत्तर', 'समन्वय दक्षिण', 'समन्वय पश्चिम', 'गवेषणा', 'शैक्षिक उन्मेष', 'संवाद पथ' और 'प्रवासी जगत', ये सात पत्रिकाएँ निकल रही हैं और साथ ही हिंदी की चालीस लघु पत्रिकाओं को लगभग पचास हजार रुपये वार्षिक अनुदान दिया जा रहा है। इस प्रकार 'केंद्रीय हिंदी संस्थान' देश की एकमात्र ऐसी संस्था है जो सबसे अधिक संस्थागत पत्रिकाओं को निकालती है और पत्रिकाओं को अनुदान देकर अपना सहयोग प्रदान करती है। हिंदी पत्रिका इतिहास में यह अनूठी घटना है जब एक संस्था ने पत्रिकाओं का इतना बड़ा संसार निर्मित कर के हिंदी की सेवा की है। इस कार्य में सबसे अधिक योगदान संस्थान के निदेशक प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय का है जो निरंतर हिंदी पत्रिकाओं की प्रगति और विस्तार के बारे में सोचते हैं और उसे क्रियान्वित करते रहते हैं।

डॉ. कमल किशोर गोयनका
उपाध्यक्ष
केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा
मानव संसाधन विकास मंत्रलाय
(भारत सरकार)

प्रधान संपादक की कलम से.....

'प्रवासी जगत' पत्रिका का प्रकाशन करते हुए अपार हर्ष की अनुभूति हो रही है। हिंदी के प्रवासी लेखकों के लिए भारत से निकलने वाली एक साहित्यिक पत्रिका के अभाव को भारतीय एवं प्रवासी लेखक लंबे समय से अनुभव कर रहे थे। एक ऐसी त्रैमासिक पत्रिका की आवश्यकता थी जो निरंतर प्रकाशित होती रहे। कई लेखकों से इस संबंध में चर्चा हुई। इस समय कोई तीन सौ से अधिक रचनाकार भारत से बाहर रहते हुए निरंतर हिंदी में लिख रहे हैं। प्राय: जहाँ भी प्रवासी भारतीय रहते हैं वहाँ हिंदी की कोई न कोई पत्रिका प्रकाशित करते हैं। उन पत्रिकाओं की हिंदी साहित्य को समृद्ध करने में बड़ी भूमिका है। विभिन्न देशों से निकलने वाली इन पत्रिकाओं को सूचीबद्ध कर उसमें प्रकाशित रचनाओं को विश्लेषित करने का कार्य अभी बाकी है। हिंदी में प्रवासी साहित्य को केंद्र में रखकर कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। कई शोधपरक भी हैं। कुछ अन्य पुस्तकों में प्रवासी साहित्य से संबंधित एक-दो आलेख हैं। कहीं-कहीं समीक्षाएँ हैं। कई पुस्तकों में प्रवासी लेखकों की सूची है। इस कार्य में निरंतरता और इसके लिए भारत में लिखे जाने वाले साहित्य एवं उनके मूल्यांकन की तरह ही प्रवासी साहित्य के प्रकाशन एवं मूल्यांकन की आवश्यकता है। इस क्षेत्र में कार्य करने के लिए शोधार्थियों की रुचि को बढ़ाना होगा। एकत्रित सामग्री का अभाव भी बहुत से शोधार्थियों तथा समीक्षकों को निराश करता है।

वस्तुत: प्रारंभिक प्रवासी साहित्य भारतीय श्रमिकों द्वारा लिखी गई उनकी वेदना और श्रम की वृहद् गाथा है। हिंदी को विदेशों में ले जाने का श्रेय विशेषत: पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के मजदूरों को है, जिन्हें शर्तबंदी के तहत अंधेरे में रखकर ब्रिटिशकाल में विदेशों में ले जाकर खेतों में झोंक दिया गया। इन्हें 'गिरमिटिया' नाम मिला। ये 'एग्रीमेंट' के तहत गए थे। ये जिन स्थितियों में गए, चाहे जिन स्थितियों में रहे, अपनी भाषा, धर्म और संस्कृति को नहीं छोड़ा। इनके साथ हनुमान चालीसा, सत्यनारायण की कथा और कंठ पर रामचरित मानस का सुंदरकांड था। यह ही उनके श्रम परिहार का साधन था और यही संस्कृति के प्रति श्रद्धा और रक्षण के लिए हथियार भी। जो कुछ भी स्मरण रह गया था, प्रारंभिक दिनों में उसे ही लिख कर संरक्षित किया और खंडित रूप में ही सही अपनी अगली पीढ़ी को याद कराकर और लिखकर सौंप दिया। गयाना के साहित्यकार पंडित रामलाल ने अपना शोध कार्य केंद्रीय हिंदी संस्थान से किया है। वे वहाँ के प्रथम कवि भी हैं। उन्होंने एक गीत में प्रवासियों की दुर्दशा के साथ उनके मनोबल का चित्रण किया है–

कलकत्ता छोड़ा मदरास छोड़ा
डमरा मुलुक अपनाय के
कुली नाम धराय के।

घर छोड़ा रिसता मोड़ा
बारह आने कमाई के

गोरन के हंटर लात खाए
दुख सहै नया देस बनाइ कै।

धर्म न छोड़ा भाषा न छोड़ी
संस्कृति रखी बचाई के।

भारतीय भाषा एवं संस्कृति प्राचीनकाल में विभिन्न देशों में पहुँची थी। वे भाषाएँ संस्कृत और पालि थी। रामायण और महाभारत की कथाएँ वहाँ पहुँची। मॉरीशस, फिजी, सूरीनाम, त्रिनिदाद और गयाना जैसे देशों में हिंदी और भोजपुरी का पहुँचना 19वीं शताब्दी की बात है। मॉरीशस पर डच, फ्रांसीसी और बाद में अँग्रेज़ों का शासन रहा। ब्रिटिश शासनकाल में वहाँ भारतीय गए। भारत जैसे गरीब देश के लिए अँग्रेज़ों के एग्रीमेंट की शर्तें लुभावनी थी। उन शर्तों में निश्चित राशन के अलावा एक धोती, एक कमीज़, दो कंबल, एक फितुई, दो टोपी, 05 रुपए पुरुष और 03 रुपए महिला का मासिक वेतन था। इसके लिए पाँच वर्ष की शर्तबंदी होती थी। छह माह का वेतन अग्रिम मिलता था उसके पश्चात मासिक रूप से वेतन मिलता था। इस आकर्षण को मज़दूरों ने स्वीकार किया, करवाया गया और 19वीं शती के तीसरे दशक से मॉरीशस जाने का क्रम प्रारंभ हुआ। यह क्रम 1923 ई० तक चला। सुबह से शाम तक का काम था । रविवार को मात्र तीन घंटे का अवकाश मिलता था। मॉरीशस ने हिंदी के बड़े साहित्यकार दिए। प्रो० वासुदेव विष्णुदयाल को भारतीय संस्कृति का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने मॉरीशस में शिक्षा और विशेषकर हिंदी शिक्षा के लिए बहुत प्रयास किया। 'मेरी कोठरिया' और 'मेरी बंगाली कोठरिया' उनकी आत्मकथा है। 'विष्णुदयाल लेखावली', 'विष्णुदयाल निबंधावली' एवं 'विष्णुदयाल रचनावली' उनके निबंधों का संग्रह है। उन्होंने अनेक भारतीय कृतियों का फ्रेंच में भी अनुवाद किया। विष्णुदयाल ने 1945 ई० में 'आर्यवीर जागृति' नामक दैनिक एवं 'जमाना' पाक्षिक पत्र का संपादन भी किया। बृजेंद्र भगत मधुकर ने भोजपुरी के गीतों का संग्रह 'मधुकलश' नाम से किया। इसकी भूमिका रामधारी सिंह 'दिनकर' ने लिखी है। मुनीश्वर लाल चिंतामणि, अभिमन्यु अनत, प्रह्लाद रामशरण और सोमदत्त बखौरी की रचनाओं को मॉरीशस और भारत में बहुत प्रतिष्ठा मिली। अजामिल माताबदल ने त्रैमासिक 'अजामिल' का संपादन किया। पं० आत्मारामजी विश्वनाथ ने हिंदुस्तानी, मॉरीशस आर्य पत्रिका तथा आर्योदय का संपादन किया। उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं। इंद्रदेव भोला, कृष्णलाल बिहारी 'बेखबर', गणपत प्रसाद, पं० गया सिंह, गिरिजानन रंगू, खेर जगत सिंह, जयनारायण राय, जयदत्त जीउत, जनाब मुहम्मद, जनार्दन कालीचरण, ठाकुर दत्त पाण्डेय, दयानंद लाल, बंसत राय, दीपचंद बिहारी, पं० दौलतराम शर्मा, नेमनारायण गुप्त, पूजानंद नेमा, बलवंत सिंह नौबत सिंह, बेनीमाधव रामखेलावन, वीरसेन जागा सिंह के अतिरिक्त पचास से अधिक लेखक हैं। एक बहुत बड़ा समूह है जो निरंतर हिंदी भाषा में लेखन कार्य कर रहा है। इनमें से बहुत से लेखकों को भारत की संस्थाओं ने सम्मानित-पुरस्कृत किया है। फिजी के लेखकों में पं० अमीचंद, कुँवर सिंह, चंद्रदेव सिंह, जे०एस० कमल, पं० गुरदयाल शर्मा, ए०डी०पटेल, भारत बी० मोरिस, तोताराम सनाढ्य, माता प्रसाद, पंडित राघवानंद शर्मा, डॉ० सुब्रमणि तथा विवेकानंद शर्मा का नाम प्रमुखता से लिया जाता है।

सूरीनाम के जीतनारायण ने सरनामी हिंदी में कविताएँ लिखी हैं। देवनारायण ने भोजपुरी में लिखा है। महातम सिंह ने सूरीनाम से 'सेतुबंध' नामक पत्रिका का प्रकाशन-संपादन किया। मुंशी रहमान खाँ ने दोहा, चौपाई और कुंडलिया छंद में रचनाएँ की हैं। सुरजन राम पहोड़ी का काव्य संग्रह 'मोहिनी' नाम से प्रकाशित हैं।

सन् 1845 से 1917 के बीच एक लाख सैंतालीस हजार मज़दूर त्रिनिदाद गए। इन शर्तबंद मज़दूरों ने अपनी भाषा और संस्कृति को बचाए रखने के लिए अथक श्रम किया। त्रिनिदाद के प्रमुख रचनाकारों में छोटकन लाल, पेगी मोहन, डॉ० सिल्विया मूदी, कुबलाल सिंह, प्रो० हरिशंकर आदेश तथा शंभूनाथ कपिलदेव हैं। इस समय कई साहित्यकार गद्य और पद्य लेखन के क्षेत्र में सक्रिय हैं।

प्रवासी साहित्य की चर्चा आते ही मॉरीशस, फिजी, गयाना, सूरीनाम और त्रिनिदाद के साहित्य पर बात होती रही है। इन देशों में भारत से श्रमिक जबर्दस्ती शर्तबंदी के तहत भेजे गए। इनका स्वाभाविक लगाव भारत के प्रति रहा है। इनमें अधिकांश अनपढ़ थे। इन लोगों के अथक श्रम से अगली पीढ़ी शिक्षित हुई। आज विश्व के तमाम देशों में प्रवासी भारतीय हैं। वे आप्रवासी के नाम से जाने जाते हैं। इनमें से बहुत बड़ी संख्या ऐसी है जो कुछ समय के लिए विदेश गई और फिर भारत आ गई। यूरोपीय, अमरीका, इंग्लैंड, कनाड़ा, नार्वे, स्वीडन, ऑस्ट्रेलिया, सऊदी अरब, दक्षिण अफ्रीका, रूस, जापान आदि देशों में बड़ी संख्या में भारतीय हैं। इनमें हिंदीतर क्षेत्र के निवासी भारतीय भी हैं। ये लोग हिंदी जानते हैं। आपस में हिंदी में बातचीत करते हैं। आप्रवासी भारतीयों में हिंदीतर भाषी लेखकों की बड़ी संख्या है। भारतीय मूल के लोग आज विदेशों में प्रतिष्ठित पदों पर हैं। उन देशों में विज्ञान, तकनीक तथा चिकित्सा के क्षेत्र को विकसित करने में इनकी बहुत बड़ी भूमिका है। कई देशों की अर्थव्यवस्था का नियंत्रण भारतीयों के हाथ में है। श्रमिकों की स्थिति भी गिरमिटिया मजदूरों की तरह नहीं है। आज भारत से गए श्रमिक शिक्षित और कुशल हैं। भारतीय पर्व-त्योहारों को प्रांतीय भेद-भाव को भूलकर एक साथ मनाते हैं। इन आयोजनों में हिंदी योजक की भूमिका में होती है।

अमरीका में हिंदी के लेखकों-कवियों की संख्या बहुत बड़ी है। इनमें से प्रायः सभी आप्रवासी हैं। कुछ अमरीकी विद्वानों ने भी हिंदी के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया है। पिंकाट की चर्चा हिंदी जगत में आदर के साथ की जाती है। डॉ० वेदप्रकाश बटुक, तुलसी जयरामन, गुलाब खंडेलवाल, डॉ० कुँवर चंद्रप्रकाश सिंह, सुरेंद्र गंभीर, तेज भाटिया, भूदेव शर्मा, यमुना काचरू, उषा प्रियंवदा, सुषम बेदी, कीर्ति चौधरी, अंजना संधीर आदि के कार्यों का अभी मूल्यांकन नहीं हुआ है। भारतीयों ने अमरीका की जिंदगी को भारत से जोड़कर काफी लिखा है। भारत से जुड़े रहने का भाव तथा देश छोड़ने की पीड़ा की अभिव्यक्ति उस साहित्य को रोचक, विचारणीय और मूल्यवान बनाती है।

बहुत से विदेशी विद्वानों ने हिंदी भाषा को समृद्ध बनाने के लिए अपना पूरा जीवन होम किया है। विश्व की तमाम भाषाओं में हिंदी के चर्चित ग्रंथों का अनुवाद वहाँ

के मूल निवासियों ने किया है। संस्कृत के ग्रंथों के अनुवाद की तो एक लंबी परंपरा रही है। संस्कृत जानने वाले कई विद्वान हिंदी की तरफ भी प्रवृत्त हुए। हिंदी साहित्य और इतिहास पर कार्य करने वाले विद्वानों में हम मि०फ्रिन थीसन, डॉ० कोलंबी कोवावे, डॉ० मारिया नैजेशी, प्रो० कैथरिन जी० हैन्सेज, डॉ० दीमशित्स का उल्लेख विशेष रूप से करना चाहेंगे। एक बहुत बड़ी संख्या भारतीय भाषाविदों की अलग-अलग देशों में है। इन भाषा शास्त्रियों ने व्याकरण, कोश निर्माण, अनुवाद और इतिहास लेखन के रूप में कार्य किया है। कई निरंतर कर भी रहे हैं। विदेशी मूल के विद्वानों ने मध्यकालीन हिंदी साहित्य के हस्तलिखित ग्रंथों को संपादित करने के लिए अपने पूरे जीवन की साधना अर्पित की है। इनकी सेवाओं के कारण हम अपने धरोहरों को आज समझ पा रहे हैं। यद्यपि इस पत्रिका का नाम 'प्रवासी जगत' है, लेकिन हम विदेशी विद्वानों द्वारा की गई हिंदी सेवा तथा अनवरत उनके द्वारा किए जा रहे कार्यों का मूल्यांकन परक लेखों का स्वागत करेंगे। हम विशेष रूप से हिंदी सेवा के लिए जॉर्ज ग्रियर्सन, वारान्निकोव, तैस्सीतोरी, जॉन कैटेलर, थामस कालब्रुक, गार्सा द तासी, शोल वर्ग, विलियम प्राइस, जॉन फरगुसन, डॉ० रूपर्ट स्नेल, सुयोतानाका, मोनियर विलियम्स, जान केटलर, डॉ० गिलग्राइस्त तथा विलियम कैलवर्ट के कार्यों को स्मरण कर रहे हैं।

'प्रवासी जगत' के प्रवेशांक के लिए हिंदी के वरिष्ठ विद्वानों ने लिखा है। इस अंक में अमरीका, सूरीनाम, मॉरीशस, फिजी, नार्वे, त्रिनिदाद तथा जापान पर अलग-अलग प्रकार से लिखी गई सामग्री है। प्रो० सूर्य प्रसाद दीक्षित भारतीय हिंदी परिषद् के सभापति के रूप में तथा साहित्य अकादमी में हिंदी संयोजक के रूप में विश्व पटल पर हिंदी को स्थापित करने के लिए निरंतर सक्रिय हैं। उनकी प्रेरणा थी कि संस्थान से विदेशों में रहकर हिंदी के लिए किए जाने वाले कार्यों के प्रकाशन हेतु एक पृथक पत्रिका प्रकाशित होनी चाहिए। डॉ० कमल किशोर गोयनका, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा के उपाध्यक्ष हैं। उनकी प्रतिष्ठा विश्व भर में प्रेमचंद विशेषज्ञ के रूप में है। प्रेमचंद के प्रकाशित, अप्रकाशित साहित्य पर व्यापक एवं गंभीर लेखन डॉ० गोयनका ने किया है। प्रवासी साहित्य पर लेखन और संपादन की दृष्टि से भी डॉ० गोयनका ने प्रभूत लेखन किया है। हम कह सकते हैं—सर्वाधिक प्रवासी साहित्य को जन सामान्य तक पहुँचाने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका है। यह पत्रिका भी आपके ही संरक्षकत्व में प्रकाशित हो रही है। इस अंक के लिए भी आपने एक आलेख के रूप में लेखकीय योगदान किया है।

वैश्विक स्तर पर हिंदी को केंद्र में रखकर जो भी लेखन कार्य हो रहा है, उसका 'प्रवासी जगत' में स्वागत है। आशा है केंद्रीय हिंदी संस्थान से प्रकाशित इस पत्रिका के कारण विश्व स्तर पर हिंदी को मज़बूती प्रदान करने में सफलता प्राप्त होगी तथा लेखकों को एक समृद्ध मंच प्राप्त होगा।

आपकी प्रतिक्रियाओं की प्रतीक्षा रहेगी।

– प्रो० नन्द किशोर पाण्डेय
प्रधान संपादक

मेरी बात

केंद्रीय हिंदी संस्थान इस सकारात्मक प्रयास में कार्यरत है कि "प्रवासी जगत" पत्रिका के माध्यम से एक ऐसे जगत का निर्माण हो, जहाँ हिंदी से जुड़े हर प्रवासी की लेखनी को उसके सृजन को समुचित स्थान मिले। "प्रवासी" शब्द से मेरा परिचय लगभग 35-40 वर्ष पूर्व "केवलादेव, घाना राष्ट्रीय उद्यान" के माध्यम से हुआ था, जिसे हम "भरतपुर पक्षी अभयारण्य" के नाम से भी जानते हैं। प्राणी मात्र के कल्याण को समर्पित महादेव का यह अभयारण्य जिन प्रवासी पक्षियों को संरक्षण देता है उनमें विदेशों से आए पक्षियों के साथ-साथ भारत के सुदूर क्षेत्रों से आए पक्षी भी आनंदपूर्वक कुछ समय के लिए जीवन यापन करते हैं। प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती इसलिए "प्रवासी" शब्द में मुझे बचपन से ही स्थान, समय, देश, विदेश और परंपराओं का एक सीमाहीन विस्तार दिखाई देता है। सत्य तो यह है कि "प्रवासी" शब्द की व्यापकता जगत के विस्तार सी ही लगती है। केंद्रीय हिंदी संस्थान आगरा से प्रकाशित होने वाली इस त्रैमासिक पत्रिका "प्रवासी जगत" के शीर्षक पर अपने आलेख जुटाते समय, हिंदी को समर्पित कई विद्वानों ने बहुत ही प्रेमपूर्वक, अपनत्व के भाव से "प्रवासी" शब्द के अर्थ से जुड़ी वैश्विक स्तर पर फैली विरोधाभासी आशंकाओं व चिंताओं से मुझे परिचित करवाया। किसी भी शब्द का जो अर्थ प्रचलन में आ जाता है उसमें सबसे बड़ी मुश्किल यही होती है कि उस रूढ़ शब्द के अर्थ का सही तालमेल कैसे बिठाया जाए? इसका उदाहरण हम भारतवासियों ने अपने देश के लिए प्रयुक्त होने वाले 'धर्मनिरपेक्ष-राष्ट्र' के प्रयोग के रूप में देखा है। सभी धर्मों में समभाव रखने वाले देश को पहले तो सभी धर्मों के प्रति उदासीन बना दिया गया और बाद में खींचतान कर निरपेक्ष शब्द में सभी धर्मों के प्रति आदर भाव को जोड़ने की कोशिश की गई। सही अर्थ में किसी शब्द का प्रयोग, उस भाषा से जुड़े हर व्यक्ति का अभीष्ट होता है।

'प्रवासी' शब्द के समाजशास्त्रीय, सांस्कृतिक, भूगोलीय और भाषागत अर्थ की व्यापकता मुझे विस्मित करती है। समाजशास्त्र की "प्रवासी" शब्द की अवधारणा के प्रमाण हमें सन् 1831 से 1961 तक की जनगणना के सरकारी गजट में मिलते हैं जहाँ जन्म स्थान से दूसरे स्थान पर जाने वाले व्यक्ति को उस नई जगह का प्रवासी कहा गया है। सन् 1971 में इसमें संशोधन कर, स्वास्थ्य लाभ, तीर्थाटन एवं संबंधियों से मिलना आदि को प्रवास की श्रेणी से बाहर निकाल दिया गया है। वर्तमान में, प्रवासी व्यक्ति के स्थान निर्धारण के संबंध में गाँव, शहर, जिला, राज्य, अंतरराष्ट्रीय सीमा को सीमा क्षेत्र माना गया है।

भारतीय संस्कृति में प्रवास की परंपरा आदिकाल से है। ज्ञानार्जन हो या अर्जित ज्ञान का विस्तार करना दोनों ही दृष्टियों से प्रवास का महत्व हमारी संस्कृति में हमेशा रहा है। ऋषि-मुनियों, राजाओं, विद्वानों के प्रवास की कथाएँ हमारे प्राचीन भारतीय साहित्य में सब ओर बिखरी हैं। सन्यासी का तो सारा जीवन ही प्रवास में ही बीतता

था। यहाँ प्रवासी शब्द अधिकांशत: भारत की विशाल सीमाओं के भीतर और बाहर (विश्व में), अपने जन्म स्थान से दूर किसी नई जगह बसने वाले व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होता रहा है। भूगोलीय दृष्टि से भी अपने जन्म स्थान से दूर देशी-विदेशी भूमि को आवास बनाने वाला हर प्राणी प्र + वासी है।

भाषागत दृष्टिकोण को अपनाए तो; "प्रवासी जगत" पत्रिका का संबंध हिंदी साहित्य से है, इसलिए मुझे हिंदी साहित्य के मूर्धन्य साहित्यकार श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' रचित महाकाव्य "प्रियप्रवास" का वर्णन करना समीचीन लगता है। हम सब जानते हैं "प्रिय प्रवास" का वर्ण्य विषय गोकुल में सब के परम प्रिय श्रीकृष्ण के प्रवास से उपजी स्थितियाँ और उनका समाधान हैं .... और यह भी जानते हैं कि गोकुल को छोड़कर जाने वाले प्रवासी श्रीकृष्ण ने भारत की भौगोलिक सीमाओं को नहीं त्यागा था।

मेरी दृष्टि में; हिंदी भाषा बोलने-पढ़ने-लिखने की योग्यता रखने वाला, उसमें साहित्य रचना करने वाला, अपनी भाषा-बोली के साहित्य का हिंदी में अनुवाद करने वाला.... भारतीय मूल का हो या विदेशी मूल का.... हिंदी को विश्व भाषा के स्तर पर पहुँचाने में उन सबके प्रयास प्रशंसा के योग्य हैं। बेल्जियम के पद्मभूषण फ़ादर क़ामिल बुल्के का हिंदी-अंग्रेजी शब्दकोश, आयरलैंड के डॉक्टर जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन, रूस के पीटर वरान्निकोव, जिन्होंने रामचरितमानस का अनुवाद किया। टोक्यो यूनिवर्सिटी में हिंदी पढ़ाने का कार्य करने वाले जापान के अकियो होगा; भारत के वर्धा विश्वविद्यालय के विजिटिंग प्रोफेसर हैं जिनकी जापानी कहानियों के हिंदी अनुवादों को सराहना मिली। न्यूजीलैंड के रोनाल्ड स्टुअर्ट मैकग्रेगॉर जिनके "आउट लाइन ऑफ़ हिंदी ग्रामर" तथा "हिंदी अंग्रेजी कोर्स" को पश्चिम में हिंदी के प्रसार का श्रेय दिया जाता है। उन्होंने कैंब्रिज यूनिवर्सिटी में 1964 से 1997 तक हिंदी शिक्षण का कार्य किया। आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन में हिंदी सेवा के लिए सम्मानित प्रोफेसर च्यांग चिंगख्वेइ, पिछले 29 वर्षों से पेइचिंग यूनिवर्सिटी के हिंदी विभाग में कार्यरत हैं। हंगरी के "इमरै बंघा" बुडापेस्ट यूनिवर्सिटी में इंडोलॉजी पढ़ रहे थे। वहाँ ब्रजभाषा के कवि "आनंदघन" की कविताओं के आकर्षण से ऐसे बँधे कि 'इमरै बंघा जी' ने शांतिनिकेतन विश्वविद्यालय आकर आनंदघन की कविताओं पर पी-एच्. डी. ही कर डाली। "सनेह को मारग" इनका काव्य संग्रह है। हिंदी प्रेमियों को प्राचीन कवि आनंदघन को नए दृष्टिकोण से देखने की दृष्टि देने के साथ-साथ उन्होंने कवि के लुप्तप्राय पदों को भी ढूँढ़ निकाला। वर्तमान में इमरै बंघा जी ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में हिंदी के प्राध्यापक हैं। इनकी पुस्तक "मध्य और पूर्वी यूरोप में हिंदी" भी खूब चर्चित और यूरोप में हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार का माध्यम बनी है।

केंद्रीय हिंदी संस्थान के "हिंदी सेवी सम्मान" से पुरस्कृत विदेशी मूल के विद्वानों की सूची में डॉ. लोठार लुत्से, डॉ. मारिया क्षिश्तोफ बृस्की, डॉ. ओदोलेन स्मेकल, डॉ. रूपर्ट स्नेल, प्रो. जिन दिंग हान, डॉ. तोमियो मिजोकामी आदि दर्जनों नाम सुशोभित हैं। उपर्युक्त हिंदी प्रेमियों एवं हिंदी सेवियों ने चाहे भारत प्रवास के दौरान हिंदी सीखी या फिर भारतीय संस्कृति, दर्शन और भारतीय साहित्य के प्रति आकर्षित

होकर अपने देश में हिंदी सीखने के बाद वे पूरी तत्परता से हिंदी के विकास और प्रचार-प्रसार को समर्पित हो गए।

'प्रवासी जगत' के इस अंक को उसकी अपेक्षित गरिमा प्रदान करने के लिए मैं सभी विद्वतजनों के प्रति अपना आभार प्रकट करती हूँ। आदरणीय कमल किशोर गोयनका, देवी नागरानी, सुषम बेदी, शशि पाधा, सुधा ओम ढींगरा, रमेश जोशी, सुनीता पाहूजा, स्नेहा ठाकुर, कृष्ण गोपाल मिश्र, महेश दिवाकर, करुणा पाण्डेय, हरजेंद्र चौधरी, भावना सक्सेना, विमलेश कांति वर्मा, कविता वाचक्नवी, अनीता कपूर, सुरेशचंद्र शुक्ल, विजय शर्मा, राकेश पांडेय और अभिनव जी ने विश्व में हिंदी की उपस्थिति और प्रवासी विमर्श के हर पहलू को अपने आलेखों का विषय बना कर संस्थान की पत्रिका को जो गांभीर्य प्रदान किया है उसके लिए संस्थान कृतज्ञ है।

"केंद्रीय हिंदी संस्थान" की पत्रिकाओं के संदर्भ में इस सत्य का उद्घाटन मैं अपना नैतिक दायित्व मानती हूँ कि एक वर्ष के कार्यकाल में यदि 'समन्वय दक्षिण' के तीन अंक, 'समन्वय पश्चिम', 'समन्वय पूर्वोत्तर', 'संवाद पथ' के एक-एक अंक प्रकाशित हुए हैं तथा 'समन्वय पश्चिम' का दूसरा अंक व 'शैक्षिक उन्मेष' का प्रथम अंक प्रकाशनाधीन है तो इसका पूरा श्रेय संस्थान के कर्मठ और निष्ठावान निदेशक "प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय जी" के दिशा निर्देशन को है। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उनकी सकारात्मकता और सहिष्णुता ने पत्रिकाओं के प्रकाशन को जो गति प्रदान की वह श्लाघनीय है।

मेरा व्यक्तिगत मत है कि आज सूचना क्रांति के इस युग में जब पूरा जगत एक विश्व ग्राम में परिवर्तित हो गया है तब "प्रवासी जगत" हिंदी भाषा का वह विशाल फलक बनकर उभरेगा जिसमें हर प्रवासी की लेखनी अपनी अदम्य ऊर्जा से हिंदी जगत को गौरवान्वित करेगी। इस दिशा में सुधी पाठकजनों की प्रतिक्रियाओं और लेखकों के सहयोग की अपेक्षा रहेगी।

शुभकामनाओं सहित....

डॉ. स्वर्ण अनिल
प्रकाशन सलाहकार
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

संपादकीय

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा के 'अंतरराष्ट्रीय हिंदी शिक्षण विभाग' द्वारा प्रकाशित की जा रही 'प्रवासी जगत' पत्रिका 'प्रवासी हिंदी साहित्य लेखन' के क्षेत्र में एक वैशिष्ट्यपूर्ण एवं अनूठा प्रयास है। संस्थान का यह विभाग एक लंबे अर्से से विदेशी छात्रों को हिंदी का शिक्षण दे रहा है। इस विभाग में 30 से अधिक अलग-अलग देशों के लगभग 100 छात्र प्रति वर्ष हिंदी का अध्ययन करने के लिए आते हैं। विदेश में हिंदी की स्थिति सुदृढ़ हो, हिंदी को विश्वव्यापी मान्यता मिले, इतना ही नहीं आज वैश्वीकरण के इस युग में हिंदी की माँग को देखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि प्रवासी साहित्य, प्रवासी भारतीय उसके उन्नयन के लिए निरंतर सचेष्ट और प्रतिबद्ध रहें। संयुक्त राष्ट्र संघ में उसे औपचारिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठा मिले।

प्रवासी देश, प्रवासी लेखक एवं उनके द्वारा रचित साहित्य को साहित्य जगत की मुख्य धारा में स्थान मिले, इनके द्वारा विकसित हिंदी के विविध रूपों, विविध भाषिक शैलियों के महत्व को हम समझें, उनके कार्यों का मूल्यांकन कर उन्हें यथोचित सम्मान और सहयोग दें तो विदेश में हिंदी के विकास की गति में तेजी आएगी। इस परिप्रेक्ष्य में 'प्रवासी जगत' पत्रिका के प्रकाशन का महत्व बढ़ जाता है। यह निश्चित है कि भूमंडलीकरण के इस युग में हिंदी के प्रयोग का वैश्विक ढाँचा काफी मज़बूत है। किंतु यदि हम सही रूप में यह समझ लें कि इन देशों में हिंदी के विकास क्षेत्र क्या हैं, वहाँ क्या संभावनाएँ एवं समस्याएँ हैं, तो निश्चित ही सच्चे अर्थों में हिंदी विश्वभाषा हो सकेगी। संस्थान अपनी इस जिम्मेदारी का वहन 'प्रवासी जगत' पत्रिका के माध्यम से पूरा कर रहा है।

केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल के उपाध्यक्ष डॉ. कमल किशोर गोयनका तथा केंद्रीय हिंदी संस्थान आगरा के निदेशक प्रो नन्द किशोर पाण्डेय के विचार मंथन से 'प्रवासी जगत' पत्रिका का जन्म हुआ है। 'प्रवासी जगत' के प्रवेशांक में कुल 20 सर्जनात्मक एवं शोधपरक आलेख हैं। सभी लेखों का अपना महत्व है। कुछ आलेख गिरमिटिया हिंदी से संबंधित हैं। आज प्रवासी साहित्य एवं साहित्यकार की परिभाषा भारत से दूर विदेश में रहकर हिंदी साहित्य का लेखन करने वाले साहित्यकारों से ही नहीं है अपितु इसका श्रेय और भी अधिक व्यापक एवं विस्तृत है।

गिरमिटिया कौन है? और उनके द्वारा रचित साहित्य ही 'गिरमिटिया साहित्य' है? इन सभी से संबंधित आलेख-त्रिनिडाड एवं टुबैगो में हिंदी, गिरमिटिया हिंदी भाषा और साहित्य, सूरीनाम में हिंदी, प्रवासी हिंदी कथा साहित्य आदि आलेखों में विस्तार से चर्चा की गई है। इनमें गिरमिटिया देशों (फिजी, सूरीनाम, मॉरीशस तथा दक्षिण

अफ्रीका) की स्थिति, वहाँ रहने वाले भारतवंशी तथा उनके द्वारा विकसित हुई हिंदी, जो फिजीबात, सरनामी तथा नैताली आदि नामों से प्रसिद्ध हुई, के संबंध में महत्वपूर्ण जानकारी प्रस्तुत की गई है।

प्रथम प्रवासी भारतवंशी वे हैं जो 19वीं सदी के पूर्वार्ध से 20वीं सदी के पूर्वार्ध तक गुयाना, त्रिनिडाड, दक्षिण अफ्रीका, सूरीनाम, मॉरीशस तथा फिजी आदि देशों में गिरमिट के रूप में गए थे। दूसरी कोटि में उन प्रवासी भारतीयों की गणना की जा सकती है जो स्वाधीन भारत से विकसित देशों जैसे अमेरिका, कनाडा, जर्मनी, इंग्लैंड, हॉलैंड, फ्रांस और खाड़ी देशों में गए। इन देशों में हिंदी भाषा की स्थिति तथा हिंदी में रचित साहित्य, हिंदी के विविध रूपों से विकसित हिंदी की शैलियों की चर्चा लेखों में विस्तार से की गई है।

डॉ. सुधा ओम ढींगरा का 'प्रवासी हिंदी कथा साहित्य पर परिचर्चा' आलेख वास्तव में विदेशों में रचे गए कथा साहित्य में परिवर्तन की जीवंतता, स्फूर्ति और अस्मिता की खोज से जुड़ा है। इस परिचर्चा के माध्यम से विभिन्न देशों में रचित कथा साहित्य की पड़ताल, प्रवृत्तियाँ, दशा और दिशा की खोज का एक दुर्लभ प्रयास है। जिस प्रकार भारत में रचित 'कहानी साहित्य' ने एक क्रांतिकारी परिवर्तन की शुरुआत की है, विदेशों में रचित साहित्य विशेषकर कहानी विधा का स्थान कहाँ निश्चित है, इसकी जानकारी लेने के लिए आपने विभिन्न देशों में स्थापित कहानीकार जिनकी अपनी साख है से परिचर्चा कर इसकी पड़ताल की है।

दूसरा पक्ष 'भारतीय स्त्री : सर्जनात्मक लेखन' के अंतर्गत आधुनिक देशों में स्त्री विमर्श के प्रतिमान भारतीय स्त्री विमर्श से कई अर्थों में भिन्न है, जिसका विस्तार से उल्लेख इन रचनाओं में मिलता है। इसके अतिरिक्त कुछ आलेख सांस्कृतिक धरोहर के संवाहक-प्रवासी भारतीय से संबद्ध हैं। इसमें भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार, हमारी भाषा, साहित्य और धर्म को विश्व के कोने-कोने में कैसे पहुँचाया इसका उल्लेख है।

इन सबके मध्य गोयनका जी का आलेख 'हिंदी प्रवासी साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन की दिशाएँ' महत्वपूर्ण है, जो हमें भारतीय साहित्य और हिंदी प्रवासी साहित्य की विशेषताओं से संबंधित जानकारी देता है।

लेखकों ने प्रवासियों का दर्द और हिंदी के संबंध में चिंता व्यक्त की है। 'जापान में हिंदी : एक आकलन' आलेख से हमें जापान में हिंदी की स्थिति का पता चलता है। 'फिजी फिरदौस है' में फिजी में हिंदी की स्थिति दर्शाता है। स्नेह ठाकुर ने 'हिंदी का रोमन लिपि' में लेखन के संबंध में चिंता व्यक्त की है।

लेखकों ने प्रवासी साहित्य एवं साहित्यकारों की रचनाओं की समीक्षा प्रस्तुत की है, जिसमें उषा प्रियंवदा का 'आधा शहर', प्रवासी साहित्यकार सुरेशचंद्र शुक्ल की काव्यकृति 'गंगा से ग्लोमा तक' भारतीय-नॉर्वेजीय संस्कृति का पूर्व संगम, तथा प्रो. हरिशंकर आदेश रचित 'निर्वाण' : महाकाव्य के निकष पर प्रमुख है।

हमारा यह प्रयास रहेगा कि प्रवासी साहित्य सलिला का प्रवाह निरंतर उद्‌वेग के साथ होता रहे और साहित्य प्रेमियों के मानस को ज्ञान सुधा से अभिसिंचित कर पुष्पित–पल्लवित करता रहे। इस अंक के प्रवासी साहित्यकारों तथा लेखकों द्‌वारा प्रदत्त सामग्री के लिए संस्थान की ओर से हार्दिक साधुवाद। पत्रिका के सफल प्रकाशन के लिए प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग करने वाले सभी महानुभावों का हार्दिक आभार।

'प्रवासी जगत' के इस प्रवेशांक में प्रस्तुत सामग्री के माध्यम से प्रवासी–साहित्य, साहित्यकारों तथा संस्कृति से संबंधित विषयों की जानकारी सुधी पाठकों को होगी। आपकी प्रतिक्रिया एवं सुझावों का स्वागत है।

डॉ. गंगाधर वानोडे
संपादक
विभागाध्यक्ष, अंतरराष्ट्रीय हिंदी शिक्षण विभाग
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

अनुक्रम

क्र. सं.	आलेख का नाम	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
1.	प्रवासी लेखकों की दोहरी भूमिका और जिम्मेदारियाँ	**सुषम बेदी**	1
2.	अमेरिका के प्रवासी भारतीयों का हिंदी काव्य साहित्य	**देवी नागरानी**	13
3.	सांस्कृतिक धरोहर के संवाहक– प्रवासी भारतीय	**शशि पाधा**	24
4.	हिंदी प्रवासी साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन की दिशाएँ	**कमल किशोर गोयनका**	29
5.	प्रवासी हिंदी कथा–साहित्य पर परिचर्चा	**सुधा ओम ढींगरा**	39
6.	सूरीनाम का सृजनात्मक हिंदी साहित्य	**भावना सक्सेना**	64
7.	गिरमिटिया हिंदी–भाषा और साहित्य	**विमलेश कांति वर्मा**	81
8.	प्रवासी हिंदी साहित्य और गिरमिटिया जीवन (मॉरीशस, फिजी और सूरीनाम देशों के विशेष संदर्भ में)	**अभिनव**	101
9.	विदेशी धरती पर भारतीय स्त्री : सर्जनात्मक हिंदी–लेखन	**कविता वाचक्नवी**	107
10.	प्रवासी कथा साहित्य और स्त्री	**अनीता कपूर**	119
11.	भाषा : हमारी अस्मिता और स्वतंत्रता का रक्षा कवच	**रमेश जोशी**	124
12.	नॉर्वे में हिंदी जगत : विस्तार एवं संभावनाएँ	**सुरेशचंद्र शुक्ल 'शरद आलोक'**	131
13.	त्रिनिडाड एवं टुबैगो में हिंदी	**सुनीता पाहूजा**	139
14.	जापान में हिंदी : एक आकलन	**हरजेंद्र चौधरी**	149

15.	प्रवासियों का दर्द और हिंदी	**करुणा पांडेय**	157
16.	हिंदी : रोमन लिपि में लेखन?	**स्नेह ठाकुर**	162
17.	उषा प्रियंवदा का 'आधा शहर'	**विजय शर्मा**	167
18.	प्रवासी साहित्यकार सुरेशचंद्र शुक्ल 'शरद आलोक' की काव्यकृति – (गंगा से ग्लोमा तक : भारतीय–नॉर्वेजीय संस्कृति का अपूर्व संगम)	**महेश 'दिवाकर'**	171
19.	प्रो. हरिशंकर आदेश रचित 'निर्वाण' : महाकाव्य के निकष पर	**कृष्ण गोपाल मिश्र**	181
20.	फिजी फिरदौस है	**राकेश पांडेय**	188

प्रवासी लेखकों की दोहरी भूमिका और ज़िम्मेदारियाँ

सुषम बेदी

ज़्यादातर एक लेखक अपने समय और समाज का सच कहता है। अपने समय और समाज के सच को ईमानदारी से काग़ज़ पर उतारने की उसकी ज़िम्मेदारी रहती है। डायसपोरा के लेखक की यह ज़िम्मेदारी दोहरी हो जाती है क्योंकि उसकी ज़िम्मेदारी एक तो उस देश के प्रति है, जहाँ कि वह रह रहा है और दूसरा जहाँ से वह आया है यानि कि जो उसका मूल देश है।

वर्षों तक विदेश में रह लेने के बाद भी कोई अपने मूल देश की छाप से छुटकारा नहीं पा सकता, चाहे वह चाहे या न चाहे। फिर मैं तो यहाँ एक सरकारी अफ़सर की पत्नी के रूप में ही पहले यहाँ आयी थी। सो यहाँ रुक जाने और एक आवासी बन जाने की संभावना का अहसास तब बिल्कुल नहीं था। मैं पूरी तरह से भारतीय बनकर ही रह रही थी। न तो अमेरिकी बनने का शौक था, न ही कोई वजह।

लेकिन जहाँ, जिस ज़मीन पर आप रह रहे होते हैं, उसके संस्कार, संस्कृति भी अपने आप आपके भीतर कहीं प्रवेश कर रहे होते हैं, आपके जाने बिना। इसका पता तो सालों साल बाद चलता है जब आप ख़ुद या दूसरे उन प्रभावों या बदलावों की ओर ध्यान दिलाते हैं। ऊपरी तौर पर आप चाहें नई ज़मीन के प्रभावों के प्रति एक विद्रोही का भाव ही रखें। पर वह प्रभाव अवश्यंभावी होता है। इस तरह जो कुछ भी आप बनते हैं उसमें दोनों जगहों के तत्वों का मिश्रण बना रहना भी स्वाभाविक है। इसमें कितना कहाँ का और किसी तरह का या किस रूप में होगा इसकी भी कोई गारंटी नहीं। जिस तरह हर व्यक्ति दूसरे से अलग होता है उसी तरह कितना अंश कहाँ का रहे या दब या मिट जाय, यह भी हर किसी में अलग ही होता है।

मेरा भारत क्या है या मेरी भारतीय संस्कृति क्या है? यह एक बहुत अहम सवाल है। साथ ही इस सवाल का यह पक्ष कि मेरी भारतीयता में कितनी अमेरिकियत आ चुकी है या कहाँ मैं उससे बचने की कोशिश करती रही हूँ। मेरे लेखन में उठाए सवाल, या नज़रिए कितने भारतीय हैं, या कितने अमेरिकी या पश्चिमी नज़रिए इतने

घुलमिल गए हैं, या उलझ गए हैं, इन सभी सवालों से ही इस लेख में मुझे जूझना है और इन सवालों का सामना करते हुए खुद को टटोलना है।

क्या है मेरा भारत? क्या है वह संस्कृति जिसे मैं अपनी कहती हूँ या जो मेरे भारतीय होने की पहचान देती है या कि जिसका मैं सोचती हूँ कि मैं प्रतिनिधित्व कर रही हूँ।

क्या मेरा पहनावा?

मेरी सोच?

मेरी भाषा?

मेरा हिंदी शिक्षण?

शायद यह सब कुछ और कुछ और भी?

इस कुछ और में शायद वे सब मूल्य, वे सब संस्कार शामिल हैं जो मेरी भारतीयता ने मुझे दिए। तो क्या थे वे मेरे मूल्य और संस्कार?

शायद इसे एक से ज्यादा ढंग से देखना होगा।

सबसे पहले मैं एक औरत हूँ। भारतीय औरत होने का मतलब है बहुत सारे परिवार से मिले संस्कार, शिक्षाएँ, निषेध और आत्मदमन की अपेक्षाएँ। आर्यसमाजी परिवार था सो आर्यसमाज के शिक्षा, जागरूकता और सुधार लाने वाले सिद्धांत, साथ ही उनका मूर्तिपूजा विरोधी वैदिक उत्थान और प्रकृति के तत्वों का मंत्र उच्चारण और यज्ञ के माध्यम से पूजन तथा सहज मानवीय इच्छाओं का दमन, जो कि बहुत सीमा तक आर्य समाज पर ईसाइयत या जैन धर्म का प्रभाव है।

मेरे भारतीय होने का दूसरा मुख्य पक्ष है वे सारे मूल्य जो मेरे बड़े होते हुए घर के बाहर के अपने समाज से मुझे मिले। चाहे वह नेहरू के जमाने की धर्म निरपेक्षता हो, नान-अलाइनमेंट हो, आज़ादी की लड़ाई का इतिहास हो, प्रगतिवाद हो या समाजवाद के प्रति झुकाव।

तीसरी मुख्य बात यह है कि चूँकि मैं लगभग 30 बरस से भारत से बाहर अमरीका में रहती हूँ, इसलिए मेरे लिए कोई बंदिश नहीं कि मैं हर भारतीय मूल्य का अनुसरण करती चलूँ। लेकिन मैं उन मूल्यों या संस्कारों में से क्या चुनती हूँ, क्या त्यागती हूँ। वे क्या चीजें हैं जिनसे मैं आज भी मुक्त नहीं हो पायी और वे जिनको शुरू से ही मैंने छोड़ने की कोशिश की। यह चुनाव आखिर मैं किसी आधार पर करती हूँ, यह भी एक अहम सवाल है जिसकी खोज इस लेख में करनी है।

मसलन मैं बार-बार अपने लेख और कहानियों में यह चेतावनी देती हूँ कि भारतीय प्रवासी अपने बच्चों की पीढ़ी पर बहुत दबाव डालते हैं। उन्हें सहज ढंग से बड़ा होने नहीं दिया जाता। 'पीढ़ियों की सीढ़ियाँ' लेख में इसी समस्या को उठाया गया है। इसी तरह 'नाते' कहानी में पिता के चरित्र के माध्यम से यही कहना चाह रही हूँ कि

अपने बच्चों से यह अपेक्षा कि वे अपनी जवानी माँ-बाप की देखभाल में ही गँवा दें, भारतीय समाज की यह अपेक्षाएँ सही नहीं हैं कि पानी नीचे की ओर बहता है, यही प्राकृतिक है, स्वाभाविक है।

और अंतिम सवाल यह कि अपने लिखने या पढ़ाने के संदर्भ में किस तरह से, किन-किन तत्वों को सामने लाती हूँ, पुचकारती हूँ और क्या है जो मेरी अवहेलना के शिकार बने हैं।

कौन से वे लेखक हैं जिनको मैं अपने विद्यार्थियों से परिचित कराना चाहती हूँ जो मेरी दृष्टि में भारतीयता का प्रतिनिधित्व करते हैं कि जिनको हिंदी साहित्य के अध्यापन में शामिल करती हूँ।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि मेरी रुचि आधुनिक भारत में है। आधुनिकता में भी मैं उस साहित्य को चुनती हूँ जो आज के मूल्यों, संघर्षों, भारतीय समाज की मौलिक समस्याओं और मुद्दों से वास्ता रखें। मैं इसीलिए श्रीलाल शुक्ल को चुनती हूँ कि उन्होंने स्वतंत्र भारत के बदलते गाँव, कस्बे और समाज में बदलते हुए मूल्यों को बहुत बारीकी से पकड़ा है। किस तरह भ्रष्टाचार और भ्रष्ट राजनीति ने आज के गाँव की सरलता को तहस नहस कर दिया है। यह आज के भारत को समझने के लिये जानना बहुत जरूरी है।

इसी तरह कविता में आज की समस्याओं से जूझने वाले नए कवि मुझे प्रिय हैं। एक पूरा सेमेस्टर हमने सप्तकों के कवि पढ़े और विद्यार्थियों ने मुक्तिबोध को खास तौर से सराहा।

इसी तरह आधुनिक भारत में महिला लेखन किस तरह इतने आत्मविश्वास के साथ सामने आया है कि नवें दशक के बाद से तो उसने पूरे हिंदी जगत को छा लिया है। मैं मानती हूँ कि बहुत जरूरी है कि मैं अपने छात्रों को उससे परिचित कराऊँ। अपने अध्यापन में मैं महिला लेखिकाओं को शामिल करती रही हूँ और अब अपनी एक योजना के तहत एक वेबसाईट भी तैयार कर रही हूँ।

महिला लेखिकाओं में भी मैं उन लेखिकाओं को चुनती हूँ जिन्होंने बड़ी बेबाकी से औरतों की समस्याओं को उठाया है और उनके प्रति एक नए नारी दृष्टिकोण से देखा है। इनके मुद्दे घरेलू भी हो सकते हैं, प्यार और सेक्स संबंधी या फिर सदियों से पिसे हुए भारतीय नारी समाज में उठते उद्‌गेलन और विद्रोह के। कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, राजी सेठ, मैत्रेयी पुष्पा या नासिरा शर्मा ने औरत की अंदरूनी उलझनों को बड़ी साफगोई और बारीकी से पेश किया है।

दरअसल मुक्ति यानि कि लिबरेशन भी एक मूलभूत मूल्य है जिसे मैंने अपनाया है। यह मूल्य भारत में भी मैं अपनाये हुई थी। लेकिन एक साफ सोच यही आकर उभर पायी। मैं आज़ाद भारत में बड़ी हुई थी। आज़ादी की बात हर संदर्भ में उठ

जाती थी। मानसिक और भौतिक दोनों रूपों से आज़ाद होना व्यक्ति के लिये अनिवार्य था। यह हमारे युग की माँग और दिशा थी।

अपनी कहानियों में युवाओं की आज़ादी, उनकी अपनी चाह और सोच का महत्व मेरे लिए ज़रूरी सवाल थे।

'हवन' की अणिमा अंतत: माँ के कहे को टाल कर पति को छोड़ने में अपना भला देखती है। यह आज़ादी कभी-कभी भटका भी देती है जैसा कि राधिका के साथ हुआ। पर वह भी अकारण नहीं होता। जब अनजाने समाज में माँ-बाप का पूरा सहयोग और निर्देशन नहीं मिलता तो बच्चों का भटकना भी स्वाभाविक है। बीच की भटकन में भी वीना ने आज़ादी को लेकर सवाल उठाया है। कितनी आज़ादी? शायद यह ही भारतीय मानसिकता थी जो मुक्ति के प्रति आकर्षित होकर भी उसे पूरी तरह से आँख बंद करके नहीं अपना पाती। सही या गलत का विश्लेषण करती रहती है। वह चाहे 'लौटना' उपन्यास की मीरा हो, या 'सड़क की लय' की नेहा, हर स्तर पर अपनी आज़ादी को चेक करते रहना उनके लिए जरूरी हो जाता है।

मैंने आँख बंद करके भारतीयता को भी स्वीकार नहीं किया। लगातार उन मूल्यों पर सवाल लगाए हैं जो मेरे अनुमान में भारतीय हैं जैसे कि 'हवन' की गुड्डो के विधवा संस्कार। मैं यह कभी स्वीकार नहीं कर सकती कि विधवा होकर औरत को पति की स्मृति के बूते पर ही सारा जीवन जीना होगा। गुड्डो दूसरे पुरुष के प्रति आकर्षित होती है। पर दुविधाओं से मुक्त वह नहीं है क्योंकि भारतीय संस्कारों से भी मुक्त नहीं हो सकती जो उससे पवित्रता का आग्रह करते हैं। सही बात है कि अपने परिवारगत संस्कारों और परंपराओं से वह मुक्त नहीं हो पाती। वह आर्यसमाजियों की तरह बेटियों को उच्च शिक्षा देने में विश्वास रखती है, वहीं बड़े होने पर समय पर वह उनके विवाह कर देना चाहती है। उसकी बेटी अणिमा अमेरिका में है तो अपनी मन पंसद से शादी करे। नहीं गुड्डो इंतजार नहीं कर पाती और बेटी की शादी भारत में जाकर एक भारतीय डॉक्टर से रचा देती है।

इसी तरह उसकी दूसरी बेटी तनिमा यूँ तो माँ से अपनी मन पंसद के लड़के से शादी करने की अनुमति पा जाती है पर एक बार शारीरिक संबंध हो जाने पर तनिमा के लिए यह ज़रूरी हो जाता है कि उसी लड़के से शादी करे जबकि वह विवाह से पूर्व ही उसकी खामियाँ देख पा रही होती है।

पवित्रता के इस आग्रह को मेरे उपन्यास 'लौटना' की नायिका मीरा ने एकदम खारिज कर दिया है। वह अपने पति को लेकर कहती है—विजय! मैं तुम्हें कितना भी प्यार करूँ, तुम मेरे जीवन के अंतिम सत्य नहीं हो सकते। मेरा व्यक्तित्व हमेशा कुछ और माँगता रहेगा... तुमसे बाहर... तुमसे हटकर... तुम मेरे जीवन की धुरी नहीं बन सकते। मेरे जीवन की धुरी मेरी अपनी आइडेंटिटी है... अपनी अस्मिता है... पर फिर भी मुझे तुम्हारी उतनी ही ज़रूरत है जितनी कि तुम्हें मेरी। (पृ. 49)

एक और जगह मीरा कहती है—पति होने मात्र से कोई तुम्हारे तन-मन का पूरा अधिकारी तो नहीं हो जाता... और अगर किसी शास्त्र के अनुसार हो भी जाता है तो उसे मानने को मीरा क्यों बाध्य हो? अलग-अलग लोगों ने अलग-अलग बातें कही हैं। मीरा उनमें से किसी को भी चुन सकती है जो उसके मुताबिक पड़े... या फिर वह खुद के बनाए नियमों को भी चुन सकती है। (पृ. 61)

एक दूसरी परिस्थिति में 'मोरचे' की तनु भी पवित्रता से मुक्त होने को आकुल है। तनु को भी पतिभक्ति के मूल्य अपनी माँ और संस्कारों से मिले हैं। वह मार खाकर भी पति को छोड़ने का सोच तक नहीं पाती। उसे तलाकशुदा औरत कहलाये जाने में भी शर्म महसूस होती है लेकिन एक बार जब पति उसे त्याग ही देता है तो वह भी अपने आपको मुक्त महसूस करती है। पहली बार जब वह एक दूसरे पुरुष के साथ शारीरिक संबंध स्थापित कर पाती है तो माँ को आकर बताती है—फलोरिया से लौटते ही पहला काम जो तनु ने किया वह था मम्मी के सामने अपने सतीत्वभंग की घोषणा। कहते कहते तनु को लगा कि जैसे इतने सालों से अनुज से अलग रहते-रहते वह फिर से कुमारी हो गयी थी। रजीनो के सानिध्य ने उसे ऐसा महसूस कराया था जैसे कि वह जीवन में पहली बार शरीरसुख का आनंद मना रही हो। उसने मम्मी को कंधों से झकझोरते हुए कहा—सतीत्व नहीं, मैं कर रही हूँ कौमार्यभंग की घोषणा (पृ. 151) और वह अपनी माँ के दिये मूल्यों को चुनौती देती कहती है—आप सोच भी नहीं सकतीं कि कितना बड़ा बोझ मेरे सर से हटा है। आपने जैसा पतिव्रता बनना सिखा रखा था उस घेरे से निकलना मुझे नामुमकिन ही लगा था—अब तो मैं एकदम मुक्त हो गयी हूँ उस जाल से।

इसी तरह 'नवाभूम की रसकथा' की नायिका भी भारतीय संस्कारों का थैला अपनी पीठ पर उठाए हैं जिसका कुछ बोझ उतार चुकी है और बाकी का उतार नीचे धरने को बेसब्र है। वह प्रेम करती है पर विवाह से घबराती है क्योंकि भारतीय विवाह की अपेक्षाएँ उसे रास नहीं आतीं। कहती है—शादी चीज़ ही ऐसी है। कोई कितना भी काम्य हो, कितना भी प्रिय। दिनचर्या के साधारण बोझ उस काम्यता, कोमलता को धर दबोचते हैं। शादी के मूल मुद्दे हो जाते हैं कि फलाँ रिश्तेदारी कैसे निभाई जाये, किसको क्या दिया जाये, घर कैसा बनाया जाये और यह सब इतने अहम हो जाते हैं कि जो दो व्यक्ति एक दूसरे के लिए सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण होते हैं, जिनकी इच्छाएँ सर्वोपरि होती थीं, अब वही सबसे बड़ी समस्या बन जाते हैं। उसी व्यक्ति को जिंदगी से काट देने की ज़रूरत सबसे बड़ी हो जाती है जिसका साथ सबसे ज़्यादा अहम होता है या जिसके साथ की वजह से ही इंसान शादी के जुए को पहनता है। (पृ. 94)

हर लेखक की भारतीयता का अपना रूपांतर होता है। आवासी जीवन जीते हुए हम लगातार अनुवाद कर रहे होते हैं अपनी हस्ती का। खुद अनुवाद के ज़रिये से अपनाए देश की संस्कृति को समझते हैं और अपनी संस्कृति को समझाते हैं। भारत में लिखा जाने वाला अंग्रेजी साहित्य भी एक तरह से भारतीयता का अपने ढंग से अनुवाद

ही तो करता है। आर.के. नारायण ने अपने उपन्यासों के माध्यम से भारतीयता को ही तो समझाने की कोशिश की है। पर हर किसी का अनुवाद भी उसका अपना रूपांतर पेश करता है। नारायण ने जहाँ भारत की आत्मा को खोलने की कोशिश की है वहाँ अरुंधती राय उसकी जातीयता की जकड़ में कसी इंसानियत को उभारती हैं। सलमान रशदी उपनिवेशवाद की वजह से भारतीय समाज में आए अंतर्विरोधों को पकड़ने की कोशिश करता है और मैं स्वयं प्रवास की परिस्थितियों में पैदा हुए मानसिक द्वंद्वों और उहापोहों का अंकन करने का प्रयास करती हूँ।

'सड़क की लय' की नेहा में भी कुछ इस तरह की उलझन है। एक ओर उसके माँ-बाप पूरी छूट देते हैं दोस्तों के साथ घूमने फिरने की। पर वहीं जब बात उठती है शारीरिक संबंध की तो उसे विपरीत संकेत मिलते हैं और वह समझ नहीं पाती कि उसके लिए क्या सही है। कितनी आज़ादी और कितना आत्मानुशासन या आत्मदमन, यह द्वंद्व लगातार चलता रहता है। परंपरा के साथ जुड़ना और नये समाज के नये तौर तरीके को किस हद तक अपनाना है यह द्वंद्व 'अवसान' कहानी में एक और स्तर पर उभरा है। वह है कि शंकर अपने दोस्त की अंत्येष्टि क्रिया में कहाँ तक वह चर्च के इंतज़ाम को स्वीकार करे। अंततः वह रुक नहीं पाता और मंत्रोच्चारण से उसको विदा देता है। इसी तरह एक कविता लिखी थी मैंने जो विवाह वेदी पर बदलते हुए आचारों या रस्मों के बारे में है—

जब कार से उतर दूल्हा
घोड़ी पर चढ़ जाता है दुलहन के घर
या कंगना खेलते
पहली बार
करता है उन पहचानी उंगलियों को छूने का नाटक,
तो सोचती हूँ
कैसा होगा यह गठबंधन
कैसा होगा यह विधिवत समागम
कैसा होगा यह झूठ को सच करने का
या सच को झूठ करने का अनुष्ठान
कैसे हैं ये
क्यों कर रहे हैं ये—
मतलब या बेमतलब हैं ये—
नई दुनिया के पुराने खेल!
या कहूँ कि
नई दुनिया के नए खेल!

एक तरह से यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि एक तरह से हम यहाँ अपने जीवन का ही अनुवाद कर रहे होते हैं। जैसे अनुवाद में भाषा बदल जाती है और जहाँ सही शब्द नहीं मिलता वहाँ कुछ न कुछ तोड़ मरोड़ करके गुजारा कर लिया जाता है, उसी तरह हम अपने अनुष्ठानों, अपनी परंपराओं को यहाँ के माहौल के अनुसार अनूदित करके जिंदगी चलाते रहते हैं। चाहे वह भोजन हो, पहनावा हो, जन्मदिन, विवाह और मौत के संस्कार हों, हम अपनी समझ से कोई न कोई सही रास्ता निकाल ही लेते हैं।

तो आज के वैश्वीकृत समाज की एक नियति है अनुवाद। उसके बिना गति नहीं।

एक कविता भी लिखी थी मैंने इसी भाव पर। बहुत कुछ समझा हुआ फिर भी समझे और जाने हुए से अलग—

अनुवाद और मैं
मैं अनुवाद से जीती हूँ
अनुवाद को जीती हूँ
स्कर्टनुमा साड़ी या लहंगानुमा स्कर्ट
पैंटनुमा सलवार या पाजामानुमा पैंट
पीतानुमा रोटी या टाकोनुमा चपाती
तंदूरी टर्की या सिज़लिंग मुर्गी
काटेल-चीज़-साग या मटर तोफू
बदल गया है मेरा रूपरंग
मेरा मिजाज़।
बदल गया है—
मेरे प्यार का ढंग
मेरे प्यार की रीत।
अब विवाह की वेदी पर
आदान-प्रदान होता है चुंबन का।
माँ का अर्थ होता है नली द्रव्य की—
बेबाप शिशु "बास्टर्ड" नहीं होता
"चुनाव" होता है।
"डेट" का अर्थ रोमांचक मुलाकात नहीं
बलात्कार होता है।

औरत का अर्थ इंसान नहीं
शरीर होता है।
कत्ल का अर्थ हिंसा नहीं
अत्यधिक प्यार होता है।
अनुवाद में जीती हूँ या अनुवाद में खो गयी हूँ
कौन जाने?

मेरा बाहरी रूप या कहूँ कि वेशभूषा भी मेरे लिये बहुत महत्वपूर्ण अंश है इस सारे आकलन का। जैसा कि मैं बता चुकी हूँ, मैं एक डिप्लोमैट की पत्नी के रूप में भारत के प्रतिनिधि की तरह ही इस देश में आई थी। इसलिए साड़ी का पहनावा ज़रूरी था। खासकर मेरे लिए किसी भी औपचारिक कार्यक्रम में साड़ी पहनना ज़रूरी था। फिर मैं जब कोलंबिया विश्वविद्यालय में पढ़ाने लग गयी तो क्लास की औपचारिक माहौल को सही ढंग से निभाने के लिए मैं साड़ी पहन कर ही जाती रही। यूँ इससे पहले शहर के सरकारी दफ्तर में कुछ दिन काम किया था तो वहाँ पूरे के पूरे अमेरिकी माहौल में साड़ी पहनना असंभव लगा। पर यूनिवर्सिटी के खुले माहौल में, जहाँ कुछ दक्षिण एशियाई लोग भी थे, ठीक था।

समय के साथ अंततः कई तरह से अपने पहनावे में सुधार करने पड़े। यूँ साड़ी अब भी पहनती हूँ, सलवार कमीज़ भी। लंबी स्कर्ट एक तरह से भारतीय अमेरिकी पहनावे के बीच की चीज़ थी जिसे मैं खास तौर से यूनिवर्सिटी के माहौल के बाहर बहुत इस्तेमाल करती हूँ ताकि न तो पूरी भारतीय परंपरागत महिला बनूँ जो मैं नहीं हूँ, न ही पूरी अमेरिकी जो कि मैं आज तक बन ही नहीं पायी हूँ।

यहाँ तक कि जो खाना मेरे घर में बनता है। उसमें सेहत के सरोकार की वजह से या कुछ स्वाद के बदल जाने की वजह से अमरीकी भारतीय का मिश्रण कर डालती हूँ।

मैंने पहले इस बात का भी जिक्र किया है कि नेहरू के राज में बड़े होते हुए मैंने धर्मनिरपेक्षता को अपनाया, गुटबाजी से हटकर मध्यमार्ग पर चलने की ही बात की। नेहरू की ही समाजवाद के प्रति निष्ठा तथा अन्य धर्मों के प्रति सहनशीलता का भाव मेरे लिए भी आदर्श बने। मैंने स्वयं धर्मांधता का हमेशा विरोध किया। धर्मनिरपेक्ष भारत में ही विश्वास था मेरा। इसलिए मंटो, इस्मत चुगताई, निदा फ़ज़ली या असगर वज़ाहत को पढ़ने पढ़ाने के लिये खासतौर से चुनती हूँ। बड़े होते हुए नेहरू के भारत ने जो मूल्य मुझे दिए वह थी धर्मनिरपेक्षता। मैंने जब तक मौका लगा धर्मांधता का विरोध किया। धर्मनिरपेक्षता न केवल मेरे रोजमर्रा के जीवन का अंग थी। जिसका प्रमाण मेरे करीबी मुस्लिम, क्रिस्तान मित्रों को होना इत्यादि।

धर्म के ठेकेदारों का जो खुला विरोध मैंने किया है वह 'इतर' उपन्यास में। 'इतर' की अल्पना लगातार इस बात पर जोर देती है; ये गुरु आश्रम सब ढोंग है और असली ईश्वर व्यक्ति को अपने भीतर ही मिलता है। उसे किसी व्यक्ति, संप्रदाय या अंधविश्वासों में खोजने की जरूरत नहीं। 'इतर' भी मेरे दूसरे उपन्यासों की तरह अमेरिका में बसे आवासियों की ही कहानी है पर ये आवासी भौतिकता की दौड़ में खोए एक मानसिक व मनोवैज्ञानिक संतुलन की खोज में गुरुओं, आश्रमों का सहारा खोजते हैं। संस्कृत का वह रूप जहाँ धर्म उसका मुख्य वाहक बन जाता है, इस उपन्यास का अंग बना है। लेकिन जैसा कि कह चुकी हूँ धर्म के बाहरी ढोंग या अनुष्ठानों का विरोध ही यहाँ दिखेगा। मेरी यही दृष्टि भाषा के क्षेत्र में भी विकसित हुई।

लेखक जिस भी भाषा का चुनाव करे उसकी सोच और संस्कारों की छाप भाषा पर भी पड़ती है। अंग्रेज़ी में लिखने वाले भारतीय लेखक कभी भारतीय छाप से मुक्त नहीं हुए। इसी से हमें अंग्रेज़ी साहित्य में भारतीय हिंदी का भी एक नया मुहावरा मिला।

भारत में मैं कई शहरों में बड़ी हुई थी। जालंधर (पंजाब), अंबाला (हरियाणा), लखनऊ, इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश), पानागढ़ (बंगाल) और दिल्ली। इस तरह मेरी भाषा में कई प्रांतों के रंग घुलमिल गए हैं। खासकर पंजाबी और उर्दू। पंजाबी इसलिए कि छठी क्लास तक मैं पंजाबी के माहौल में रही और उर्दू का असर लखनऊ, इलाहाबाद से हुआ। देखा जाए तो मेरी हिंदी भी इन दो शहरों में पक्की हुई।

हिंदी, उर्दू को मैं दो भाषाएँ मान कर नहीं चलती। मैंने इन भाषाओं को एक ही रूप में जाना। कभी चाहे उसे उर्दू का शब्द कह लें तो चाहे हिंदी का। मैं ग़ालिब की ग़ज़लें भी गाती थी और प्रसाद के गीत भी।

मेरी यही वृत्ति भाषा के संदर्भ में कुछ इसी तरह विकसित हुई। मेरे सामने हिंदी उर्दू का सवाल हमेशा उठा। मैं स्वयं हिंदी उर्दू दोनों ही बोलती हूँ। पर न तो मेरी हिंदी संस्कृतनिष्ठ है न ही उर्दू फ़ारसी-अरबी शब्दों से लदी।

हाँ साहित्य यानि कि कविता की परंपरा दोनों में कुछ अलग विकसित हुई है पर मैं मूलत: हिंदी उर्दू को एक ही भाषा मानती रही हूँ। मैं कुछ साल लखनऊ में रही शायद इसलिए मेरी जबान में दोनों का ही सहज मिलाप है। पर मैं अकेली ऐसी लेखिका नहीं हूँ। मैं ऐसे ही मित्रों के साथ बड़ी हुई जो इनको एक ही भाषा मानकर कभी एक या दूसरे शब्द का परिहार नहीं करते कि वह उर्दू का है। प्रेमचंद या उनके बाद के जिन नए कहानीकारों को पढ़ती हुई मैं लेखक बनी उन सबने उर्दू या देशज शब्दों का खुला इस्तेमाल किया है और हिंदी उर्दू को दो खाँचों में नहीं ढाला।

मेरा यही रवैया शिक्षण के क्षेत्र में भी रहा है। मैं ऐसे लेखकों को पढ़ना तथा अपने पढ़ाने में भी भाषा के उन्हीं रूपों का इस्तेमाल करती हूँ जहाँ कि दोनों की शब्दावली का मिश्रण हुआ। मेरे द्वारा चुने हुए लेखक ऐसी ही बोलचाल की हिंदी का

इस्तेमाल करते हैं जहाँ अरबी फ़ारसी के शब्द भाषा की सरलता, सहजता को बनाये हुए आते हैं। फिर वह चाहे मोहन राकेश हों, कृष्ण सोबती हों। भीष्म साहनी, कमलेश्वर या राजेंद्र यादव, परसाई या अमरकांत, श्रीकांत वर्मा या उदयप्रकाश। क्या इनकी भाषा को हम हिंदी नहीं कहेंगे? ये दिग्गज कथाकार तथाकथित उर्दू शब्दों का भरपूर इस्तेमाल करते हैं। उनमें यह आग्रह नहीं कि कौन सा शब्द संस्कृत से आया है, कौन सा अरबी या फ़ारसी से। उनके लिए मुद्दा संप्रेषण का है। बात को अपने पूरे असर के साथ जमाने के लिए वह बेखटके स्थानीय, देशज प्रचलित शब्दों का इस्तेमाल बिना किसी दुराग्रह के करते हैं।

यही मेरा आदर्श मेरे लेखन में भी रहा है। लेखन की जो मूल्यगत दृष्टियाँ भारत में ही मुझमें विकसित हुईं, भाषा के प्रति या लेखकीय प्रवृत्तियों या आंदोलनों के प्रति, वे अपनी जड़ें पूरी तरह जमाए रहीं। अमेरिका में बसे कई भारतीयों की संकीर्ण मनोवृत्तियों का मुझे इसी कारण विरोध करना पड़ा। मेरी कहानी अवसान पर अमेरिका के एक गुट ने यह दोष लगाया कि इसमें उर्दू के शब्दों का इतना इस्तेमाल है कि हिंदी वालों को यह कहानी समझ में नहीं आएगी और उन्होंने इसके शब्दों का हिंदीकरण करके प्रकाशित किया जिसके लिये मैं आज तक उनको माफ नहीं कर पायी। लेकिन यही कहानी गिरिधर राठी के संपादन में जब समकालीन भारतीय साहित्य में छपी तो भाषा पर इस तरह कोई आपत्ति का कोई सवाल ही नहीं उठा।

हिंदी उर्दू को लेकर यह विवाद बना ही रहता है कि वे दो अलग भाषाएँ हैं या एक, दो अलग लिपियों में लिखी जाने वाली। यह सवाल अब बहुत राजनैतिक हो गया है, सो कुछ भी कहना खतरे से खाली नहीं। इतना ज़रूर कहना चाहूँगी कि जो लोग हिंदुस्तान में हिंदी के साथ बड़े होते हैं, उर्दू उनके लिए पराई भाषा या कोई नई भाषा नहीं बनी रहती। पर जो इसे खास तौर से विदेश में सीखते हैं और बृहत शब्दावली से जिनको परिचित नहीं कराया जाता, वे ही खास तौर से इस बात को प्रसारित करते हैं कि ये दो अलग भाषाएँ हैं। साथ ही भारत की कई दूसरी भाषाएँ भी संस्कृत से उपजी हैं। इस कारण उन भाषाभाषियों को संस्कृत आधारित हिंदी शब्द जल्दी पहचान में आ जाते हैं। उर्दू दूसरी भाषा लगने लगती है।

मेरा कथाकार

मेरे कहानीकार होने का एक असर तो यही हुआ कि पढ़ाने में कहानियों को चुनना मुझे बहुत प्रिय लगा। दूसरे कि मेरे विद्यार्थी मेरी कहानियों का हिस्सा बनते रहे। एक तरह से यह दुहरी प्रक्रिया थी। जिसमें अध्यापक और कथाकार दोनों का ही मिश्रण था। मैं उनको कहानियाँ सुनाती और उनकी कहानियाँ सुनकर उन्हें अपने उपन्यासों, कहानियों में बुनती। इस तरह वे मुझे अपनी संस्कृति कहानियों के जरिए से उपलब्ध करते। मैं उनके जीवन के करीब जाकर यहाँ की नई बनती भारतीय संस्कृति को पकड़ने की कोशिश करती। इस तरह से एक ओर तो मैं छात्रों के लिए भारतीय

संस्कृति की प्रतिनिधि, उसकी वाहक बनी दूसरी ओर मैं खुद ही भारतीय संस्कृति को दूर से एक बाहरी व्यक्ति की तरह वस्तु बनाकर देखने की कोशिश करती पर साथ ही मैं एक तरह से खुद भारतीय थी ही। यानि कि बाहर से अंदर और अंदर से बाहर एक साथ देख रही थी। जैसा कि मैं कह चुकी हूँ। अपने भीतर कहीं मैं बहुत मुक्त थी। मेरा लिखा कभी कोई पढ़ेगा, इसका ख्याल नहीं आता था। मैं तो स्वयं एक ऐसे स्पेस में थी जहाँ मैं खासी अनचीन्ही या कि इनविजिबल थी, इसलिए कहीं से भी कहानी उठा लेने में मुझे अंदरूनी रोकटोक नहीं थी। न तो मेरे विद्यार्थियों ने ही मेरा काम पढ़ना था न यहाँ के मेरे दूसरे पहचान वालों ने। सब लोग तो अंग्रेजी दाँ हैं।

विद्यार्थी अकसर मुझमें अपनी माँ या मौसी की झलक देखते और मेरे बहुत करीब आ जाते। खासतौर से भारतीय विद्यार्थी जिनको प्रोफेसर होने के साथ ही मैं एक माँ और गृहणी के रूप में भी दीखती। मैंने सांस्कृतिक अनुभव बढ़ाने के लिए उनके लिए अपना घर भी खोला हुआ था। भारतीय खाना या घरेलू माहौल उस पाठन का ही हिस्सा था जिसके असर में वे मुझसे खुल जाते और करीब आकर अपनी उलझनें मुझसे बाँटते, क्लास के विवादों में भी खुल कर हिस्सा लेते। एक स्नेहमय आदान-प्रदान बना रहता। बहुत से विद्यार्थी इस बात को महसूस कर सकते कि आपकी क्लास तो हम बहुत इन्जॉय करते हैं। मुझे जानने के बाद वे मेरा लिखा साहित्य भी पढ़ना चाहते। जो विद्यार्थी ऊँचे स्तर पर पहुँच जाते वे अकसर मेरे उपन्यास कहानियों पर काम करना चाहते और वे उनसे बहुत आईडेंटिफाई भी करते।

यह भी सच है कि विद्यार्थियों को कितना भी भारतीय संस्कृति का अनुभव देने की कोशिश करूँ, अंततः जो कुछ वे अपने भीतर जज़्ब कर पाते हैं उसका परिणाम एक सम्मिश्रण या कहें फ्यूजन ही होता है क्योंकि उनकी मानसिक स्थितियों में घुल कर वह विशुद्ध भारतीय रह ही नहीं सकता। यूँ भी विशुद्ध क्या है इसे लेकर कोई एकमत नहीं हो सकता। ये युवक युवतियाँ भी जो कुछ अपने अमेरिकी समाज से सीख पाए हैं, उसके संदर्भ में ही हर नए को ग्रहण करते हैं। इसलिए जो भारत में उनको देती हूँ इन तक पहुँचते-पहुँचते वह कुछ और हो चुका होता है और यूँ भी जो मैं देती हूँ वह सिर्फ मेरा ही रूपांतर तो होता है तब संस्कृति का कौन-सा रूप कहाँ, कब कैसे पहुँचेगा, क्या बनेगा यह वक्त के साथ ही अपना रूप रंग खोलता है।

जिस नज़र से जो कुछ मैं देखती हूँ वह मेरी नज़रों में भारतीय होकर भी बहुतों की नज़रों में शायद अमेरिकी या कुछ और हो। तब मैं चाहे यह सोचूँ कि मैं तो भीतर वाली हूँ कि जो बाहर से देख रही हूँ पर दूसरे, खासतौर से भारतीय लोग यह भी तो कह सकते हैं कि मैं बाहर वाली हूँ और बाहर वालों की निगाह से ही बाहरी की तरह देख रही हूँ।

मुझे याद है जब 'हवन' का अंग्रेज़ी अनुवाद इंग्लैंड में छपा था और वहाँ मुझे एक अमेरिकी लेखक की तरह देखा गया। मेरे उपन्यास की कथा भी एक आवासी

की अमेरिका पर डाली नज़र थी। लेकिन मेरे नज़र में मैं एक भारतीय की तरह वहाँ गई थी। सो बात देखने वाले की ही नहीं, उनकी भी हो जाती है जो एक पाठक या आलोचक के तौर पर अपना नज़रिया बनाते हैं। इस ग्लोबलाईज़्ड दुनिया में भारत भी बहुत तेज़ी से बदल रहा है। उसके नित नए रूपांतर हो रहे हैं। यह भी सच है कि भारत में बहुत कुछ स्थिर या ठहरा हुआ भी है।

मेरे हिसाब से मैं कुछ हद तक तो भीतर वाली हूँ ही पर यह भी जानती हूँ कि बहुत हद तक बाहर वाली हो चुकी हूँ। इसलिए जिस भारतीय संस्कृति की मैं खुद को वाहक मानती हूँ और जिसका ज्ञान मैं अपने पाठकों या छात्रों को देती हूँ वह मेरी ही समझ, मेरे संस्कार, मूल्य या समय की छाप से अंकित रूपांतर (वर्जन) है। उसमें जो भारत प्रवाहित है वह मेरी और शायद मेरे जैसे बहुतों की नसों में बह रहा है और बहता रहेगा। पर संस्कृति गतिशील है और देश भी। इसलिए जिस तरह भारत और उसकी संस्कृति समय के साथ गतिशील है, तो उसकी संस्कृति के कई-कई नए-नए रूपांतर भी होते रहेंगे।

❑❑

अमेरिका के प्रवासी भारतीयों का हिंदी काव्य साहित्य

देवी नागरानी

रचना की हर विधा की अपनी एक पहचान है लेकिन उसके अस्तित्व का भव्य भवन शब्द के तानों—बानों से बुनी हुई एक वाटिका है जो सोच की उधेड़बुन की उपज है। प्रो. रमेश तिवारी 'विराम' जी ने अनछुए को छुआ है और अनकहे को कहते हुए लिखा है 'समर्थ साहित्यकार जब अपने मन को अभिव्यक्त करता है तब उसके शब्द बाँसुरी बन जाते हैं। जब वह सामाजिक विषयों पर प्रहार करता है तब उसके शब्द लाठी बन जाते हैं।' उसका मानना है कि शब्द वेण कि तरह होते हैं, वेण अर्थात् बाँस-बाँस से लाठी भी बनती है और बाँसुरी भी.....

साहित्य कला भी ऐसा एक मधुबन है जिसमें हम शब्द बीज बोते हैं, परिश्रम का खादजुगाड़ करते हैं, और सोच से सोचते हैं, तब कहीं जाकर इंद्रधनुषी शब्द—सुमन निखरते हैं, तब ही काव्य के सौंदर्य-बोध का आभास होता है। काव्य के इस सौंदर्य बोध को परखने के लिए भावुक परखी हृदय की आवश्यकता है। अपने मनोभाव व उदारी की शब्दों में अभिव्यक्त करने की कला ही कविता का निर्माण करती है। वैसे हर कविता एक तजुर्बा है, एक खाब्ब है, एक भाव है। जब दिल के अंतर्मन में मनोभावों का तहलका मचाता है, मन डावाडोल होता है, अंतर्मन में हलचल का शोर होता है तो लहरें अपने बाँध को उलाँघ जाती हैं, ऐसी परिस्थिति में कविता का जन्म होता है। पहले-पहल रचनात्मक सृष्टि के लिए शब्द बहुत जरूरी है, जिनको करीने से सजाकर, सँवारकर एक भव्य भवन का निर्माण किया जाता है। इसी भव्य भवन के निर्माण में जिन हस्ताक्षरों के नाम हैं, उनकी भावनाओं से आज परिचित होते हैं।

प्रवासी भारतीय रचनाकार सुधा ओम ढींगरा जी किसी परिचय कि मोहताज नहीं हैं। एक जाना माना नाम, कैनाडा से निकल रही 'हिंदी चेतना' की मुख्य संपादिका जी, जो संपादन कार्य में जितनी दस्तावेजी हस्ताक्षर हैं उतनी ही तेवरी विशेषता जो उनके गद्य व पद्य लेखन को मुखरित करती है, और वह है शब्दों को जीवंत बनाने की कलात्मक अभिव्यक्ति जो मन में देश-परदेश की भूली-बिसरी यादों को जीवंत

करता, उनका काव्य संग्रह 'धूप' से रूठी भरी अभिव्यक्ति बनकर आया है। उसकी एक रचना का यह अंश सुनें.....

विस्मृतियों के गर्भ से / यादों की अंजुरी भर लाई हूँ.....

कुछ यादें टिकी हैं इसमें / कुछ रिस रहीं हैं.....

आज की व्यवसायिक परिस्थितियों में आदमी अपने उलझने के दायरे से निकलने के प्रयासो में और गहरे धँसता चला जा रहा है। ऐसे दौर में मनोबल में सकारात्मक संचार कराती सुधा जी कविता मैं दीप बाँटती हूँ अपने सर्वतम दायित्व से हमें मालामाल करती हैं.....

मैं दीप बाँटती हूँ / इनमें तेल है मुहब्बत का /

रौशनी करती जो हर अंधियारे हृदय और मस्तिक को

अर्थशास्त्र के सही मायने में इस दिशा में उनके दावेदारी तेवर देखिये जब वह कहती हैं.....

मैं दीप लेती भी हूँ / पुराने टूटे-फूटे नफरत, ईर्ष्या, द्वेष के दीप / जिनमें तेल है / कलह-कलेश का / बाती है बैर-विरोध की / लौ करती है जिनकी जग उजियारा

आपने परिवेश में जो देखा, महसूस किया और भोग, उसे विषय-वस्तु बनाकर सुधा जी अपनी रचनाओं द्वारा पाठक को अनुभव सागर से जोड़ लेती है, जैसे इस कविता में देखे.....

परदेस से चिट्ठी आई, माँ की आँखें भर आईं / लिखा था खुश हूँ मैं चिंतन न करना / घर लिए है किस्तों पर / कार ले ली है किस्तों पर / फर्निचार ले लिया है किस्तों पर / यहाँ तो सब कुछ ख़रीदा है किस्तों पर सोच की हर सलवट पीड़ा से भीगी हुई, आँख फिर भी नाम नहीं।

चलो एक बार / चलते हैं हकीकत में /

खिलते हैं फूल जहाँ / सरसों के फूल और लहलहलाती है फसलें

कहने वाली डॉ. अंजना संधीर अब किसी परिचय की मोहताज नहीं है, उन्होंने भारतीय प्रवासी नारी के अस्तित्व को एक अनूप और अनोखा सकारात्मक रूप देकर अपने संपादित किये संग्रहों में एक सूत्र की तरह पिरोकर प्रस्तुत किया।

सन् 2006 में 'प्रवासिनी के बोल का आगमन प्रवासी नारियों से सर्जनशीलता का प्रतीक बन गया, जिसमें 81 अमरीकी हिंदी कवयित्रियों की सचित्र रचनाएँ, परिचय सहित प्रस्तुत हैं, तथा 33 महिला प्रतिभाएँ जो हिंदी से जुड़ी हुई हैं, उनका परिचय, 'आवाज' के संपादन से 44 प्रवास में रह रहे भारतीय कहानीकारों को मंच प्रदान किया। ये जुड़वाँ संग्रह निश्चय ही संदर्भ-ग्रंथ की मानद शोधार्थियों को लाभान्वित करेंगे और पुस्तक-कोश की शोभा बढ़ाएँगे।

2013 में उनके द्वारा संपादित—स्वर्ण आभा गुजरात-एक अद्‌भुत भागीरथ कार्य (काव्य) प्रकाशित हुआ। यह गुजरात की 100 महिलाओं की हिंदी में लिखी

कविताओं का संपादित काव्य संग्रह है, जिसमें पहली बार 1950 से अब तक की महिलाओं की हिंदी कविताओं का संपादन हुआ है। उनका परिचय, तस्वीर व संपर्क सूत्र भी उनमें शामिल है.....!!

जल्द ही हम रूबरू होंगे 'स्वर्ण कलश गुजरात' गुजरात से पहली बार हिंदी कहानियों का यह जुड़वाँ संपादित कहानी संग्रह होगा।

इसे हम प्रवासी न कहकर अगर प्रवासी भारतीयों का हिंदी साहित्य कहें तो ज़्यादा उचित होगा, शायद इसलिए कि यह नारी शक्ति ही है जो परिवार, परिवेश, समाज को एक सूत्र में, भारतीय संस्कृति और सभ्यता के सहारे बाँधकर रखती है, चाहे वह यहाँ भारत में हो या भारत से बाहर उस नए प्रवास के परिवेश में।

ख्याल उसका हरेक लम्हा मन में रहता है
वो शम्मा के मेरी अंजुमन में रहता है
मैं तेरे पास हूँ, परदेस में हूँ, खुश भी हूँ,
मगर ख्याल तो हर दम वतन में रहता है

हिंदी भाषा से उनका लगाव इस बात से प्रमाणित होता है जब वह कहती हैं हिंदी मेरी साँसों की भाषा है, भला साँस लेना भी भूलता है कोई उनकी एक कविता 'चलो, एक बार फिर' के कुछ अंश इस बात का समर्थन करेंगे....

चलो / फिर एक बार लिखें / खुशबू से भरे ख़त /
जिन्हें पढ़ते-पढ़ते भीग जाते थे हम /
इंतजार करते थे डाकिये का / बंद करके दरवाजा /
पढ़ते यह चुपके-चुपके / वे भीगे ख़त तकिये पर सिर रखकर /
चौकते थे आहात पर / धड़कते थे दिल टेलीफोन की घंटी पर /

काश समय थम जाता और मैं अंजना जी के साथ सोच में उसी अतीत में लौट जाती.....

साहित्य जगत की एक और जानी मानी हस्ताक्षर है कल्पना सिंह चीटिंनस, जो कविता की परिभाषा इस तरह करती है मनुष्य में आत्म अभिव्यक्त की इच्छा आरंभ से होती रही है, अपनी कविताओं में अपने आपको अभिव्यक्ति करना उसी स्वाभाविक और इच्छा का प्रतिफल है।

हिंदी मेरी आत्मा है, मेरी पहचान है, मेरी जुबान है। जिनको अपनी भाषा के लिए इतना प्रेम है, आत्मियता और निष्ठा है, वे अपनी आत्मा को अपनी पहचान को, अपनी जुबान को प्रवासी कैसे मान लें?

सहारा में उठी रेत की आँधियाँ / जैसे झुके तुम्हारे सिर प्रार्थना में / इससे पहले / कि तुम्हारी विजयी बंदूकों से / पहली गोलियाँ निकलीं....

लहू, शब्, सिसकियाँ और धुआँ, हमारी सभ्यता को एक बार फिर से / परिभाषित करते!

प्रवासी भारतीय लेखिकाओं में एक और हस्ताक्षर है डॉ. सुषम बेदी, कोलंबिया (अमेरिका),कोलंबिया यूनिवर्सिटी में हिंदी भाषा और साहित्य का अध्यापन करते आ रही हैं। शिक्षा प्रणाली से जुड़ी हुई हैं, और अपने नज़रिये से हमें वाक़िफ़ कराते हुए कहती हैं..... कविता मेरे भीतर के व्यक्तित्व की निजी अभिव्यक्ति है और यह लेखनी का वह जौहर है जो भाषा को और लेखक को अपनी पहचान दिला पाएगा। सुषम जी उपन्यासकार, कहानीकार के साथ-साथ एक रचनाकार भी हैं। उनका काव्य संग्रह 'शब्दों की खिड़कियाँ' से एक कविता का अंश आपके सामने है.....

न्यूयार्क एक मशाल है / एक ऊँची अटारी पे धरा दिया / जिसकी रौशनी दूर तलक जाती है / उसे बुझाने की जुगत मत करना वरना / अँधेरा भी जायेगा / बहुत दूर तलक /

यह है कलम के सिपाहियों का बयान जो रचना के भीतर शब्द-रचना का निर्माण करते चला जाता है।

डॉ. उषादेवी विजय कोलहटकर मराठी भाषा के साहित्य संसार का एक जाना माना नाम हैं। डॉ. उषादेवी विजय कोलहटकर जो अपने लेखन में अमेरिकी जन-जीवन को, अनुभव-चित्र, कहानियों तथा उपन्यासों में रेखांकित करने की पूरी कोशिश में शायद इसी पीढ़ा से द्रवित होकर लिखती हैं.....

आँसू समझते हैं, सच्चे प्यार की भाषा / आँसू जीते हैं ममता की आशा /
आँसू समझते हैं, विदाई का दर्द / जब चला जाता है कोई अपना हमदर्द /
आँसू बनते हैं मोती / जब गिरते हैं, हमदम की हथेली पर /

डॉ. कमलेश कपूर का काव्य संग्रह 'अस्तित्व के परमाणु' बहुत चर्चित रहा है। उन्होंने श्रीमद्भगवद् गीता का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया है, उनके लिए कविता आत्मा का रुझान तथा मन का लुभान है तथापि इस रुझान और लुभान से ही जीवन के तथ्य व सत्य झाँकने लगते हैं। इसी संदर्भ में उनकी कविता की चार पंक्तियाँ—

तुम मेरे जीवन साथी जो बने / तो मेरी तलाश के साझीदार भी बनो
मेरे व्यक्तित्व को नए नुस्ख न दो / इसके भीतर का सत्य पहचानो।

आज की कविताएँ काव्य-शिल्प और काव्य-भाव की समस्त भूमिका तोड़ती हैं और व्यवस्था की प्रतिगामी शक्तियों के प्रति समवेत रूप से हस्तक्षेप करती हैं, यूसटेन की जानी मानी साहित्यकार इला प्रसाद की कविताएँ मानव संघर्षों के इतिवृत्त को लक्षित करती हुई आगे बढ़ती हैं, जहाँ सुख के क्षण और दु:ख के क्षण भी हैं, वहाँ अश्रु भी हैं, मन का खिलना भी है, मुरझाना भी, जहाँ असफलता के साथ-साथ हौसला

भी है, वही गिर कर उठने का साहस भी। उनका काव्य संग्रह शब्दों की शिलाकृति-धूप का टुकड़ा उनके हृदय की पारदर्शी अभिव्यक्ति का संकलन है.....

जिनकी आहट उनके शब्दों में सुनते हैं.....

वक़्त की शाखों से / गिरते हैं पत्ते / दिनों के / आज, कल परसों /

पत्ते के साथ / मुरझाता जाता है मन

इला जी ने जिंदगी के महाभारत को लगातार जाना है, और शब्दों की शिलाकृतियों के माध्यम से अपनी जद्दोजेहद को व्यक्त किया है, ऐसे ही 'दरार' नामक इस रचना के अंश में उसके भावार्थ से जुड़िए और महसूस कीजिए।

सच की जमीन पर खड़ी / विश्वास की ईमारत तो / कब की ढह गई

अब तो नज़र आने लगी है / बीच में उग आई / औपचारिकता की दरार...

इन सुंदर शब्दों में आपबीती-जगबीती बनकर सामने आई। उसी गहराई में सच अपने दर्द की पीड़ा अभिव्यक्त कर रहा है...!

शशि पाधा-शब्द—शिल्प सौंदर्य को साथ प्राकृतिक सौंदर्य की वादियों में अपनी सशक्त लेखनी की रौ में हमें बहा ले जाने वाली लेखिका शशि पाधा जी जम्मू नगरी के पर्वतों की गोद में पली बढ़ी, जब अमेरिका में निवास करते हुए उसी सौंदर्य की परिभाषा अपनी रचनात्मक लय-ताल में इस तरह रखती हैं कि उनसे बहुत देर तक अजनबी रह पाना बहुत ही मुश्किल है, उनकी रचनाओं की तरलता और संगीतमय आलाप इतना मुखरित है कि ख़ामोशी भी चुप रह जाती है, कोमल भावनाओं की कलियाँ शब्द तार में पिरोती हुई हमारे साथ-साथ सुगंधित खुशबू ओढ़े टहल रही हैं। 'अनंत की ओर' उनका काव्य संग्रह अपने गर्भ में अंकुरित शब्द बीज से हमें मन की अनेक दशाएँ और दिशाओं से जोड़ता है....उनकी 'पाती' नामक रचना का यह अंश मनोभावों का प्रतीक है, महसूस कीजिए....

'हवाओं के काग़ज़ पर लिख भेज पाती / क्या तुमने पढ़ी?

न था कोई अक्षर / न स्याही के रंग / थी यादों की खुशबू / पुरवा के संग...

डॉ. किशोर काबरा ने एक जगह लिखा था—सच्ची कविता की पहली शर्त यह है कि हमें उसका कोई भार नहीं लगता, जिस प्रकार पक्षी अपने परों से स्वच्छंद आकाश में विचरण करता है, उसी प्रकार कवि स्वांत: सुखाय और लोक हिताय के दो पंखों पर अपनी काव्य यात्रा का गणित बिठाता है ऐसी ही होती है शशि जी की रचनाएँ. ..एक कल्पना से यथार्थ तक का सफ़र....!

शशि पाधा जी ने सैनिकों के अदम्य साहस और बलिदान के विषय पर अनेकों रचनाएँ लिखी हैं और कारगिल युद्ध के समय सैनिकों द्वारा एक संदेश स्वरूप रचना का निर्माण किया है जिनके शब्दों से मातृभूमि के प्रति सैनिकों की सद्भावना और उनकी निष्ठा से साक्षात्कार होने का गौरव हमें हासिल हो रहा है....!

एक सैनिक की जीवन संगनी होने के नाते यादों की अनगिनत परछाइयाँ उन्हें घेर लेती है जो शब्दों में सिसक उठती हैं.....

हम लौटे या न लौटे / ना आँच तिरंगे पे आएगी
इस मातृभूमि के चरणों में / चाहे जान हमारी जाएगी
है अमरत्व का वरदान मुझे / ये बात उन्हें बतला देना
ऐसे जाँबाज वीरों का हमारा नमन!

हिंदी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार पं. नरेंद्र शर्मा जी की सुपुत्री लावण्या शाह हैं। उनकी सरल सुंदर अभिव्यक्ति उनके मनोभावों से परिचय कराती हुई लिखती है.....

पल-पल जीवन बीता जाए / निर्मित मन के उपवन में / कोई कोयल गए रे / लावण्या जी को पढ़ते ही लगता है जैसे हम अपने आराध्य के सामने मंदिर में उपस्थित हुई हैं, सब कुछ अर्पित भावना को लेकर उनके साथ कह रहे हैं....

ज्योति का जो दीप से / मोती का जो सीप से / वही रिश्ता मेरा तुम से! प्रणय का जो मीत से / स्वरों का जो गीत से / वही रिश्ता मेरा तुम से! गुलाब का जो इत्र से / तूलिका का जो चित्र से / वही रिश्ता मेरा तुम से! सागर का जो नैय्या से / पीपल का जो छैंया से / वही रिश्ता मेरा तुम से! किसी ने खूब कहा है कवि और शब्द का अटूट बंधन होता है, कवि के बिना शब्द तो हो सकते हैं, परंतु शब्दों के बिना कवि नहीं होता है। लावण्या जी की शब्दावली का गणित देखिए कैसे सोच और शब्द का तालमेल बनाए रखता है।

अनंत कौर का संग्रह-अनंत जी का लिखा एक बेमिसाल ग़ज़लों का नगीना है जो यादों से गुजरकर साँसों में जुड़ गया है। किसी शायर ने खूब कहा है ग़ज़ल एक सहराई पौधों की तरह होती है जो पानी की कमी के बावजूद उसका विकास जारी रखती है। अनंत कौर की जुबान में उर्दू की मिठास घुल-मिलकर उसके हर शेर से उनकी तारीफ़ करती है, पंजाब की खुशबू अपनी साँसों के लिए हुए देस-परदेस की पीड़ा को जब्त करते हुए लिखती हैं—

मैं अपने आपको कहीं और छोड़ आई हूँ / जहाँ पे रहती हूँ शायद वहाँ नहीं हूँ मैं
मुझको मोम समझता है पर ख्याल रहे / मैं एक शम्मा हूँ लेकिन पिघलने वाली नहीं

परिवार से, परिवेश रहने की पीड़ा अंतर्मन के मंथन के पश्चात् जिनके हृदय की मौन पीड़ा शब्दों के ज्वालामुखी से प्रवाहित लावा बनकर हम तक पहुँची है..... ग़ज़ल की सिन्फ़ पर कलम आजमाते हुए अपने मनोभावों के माध्यम से हमारे दिल और दिमाग़ पर दस्तक देती उनकी पुरअसर शब्दावली देखिये....

इतनी रंजिश का सबब क्या है बताए कोई
किसलिए रूठे हैं, बोले तो मनाए कोई।

रचना का जन्म कोरे सिद्धांतों या वैचारिक आदर्शों की प्रेरणा से नहीं बल्कि कवि की वास्तविक सृजनात्मक अनुभूति से होता है, जहाँ विचार मन की सर्वश्रेष्ठ कहता है। और जब उनकी रचनात्मक ऊर्जा की परिधि में संवेदन का संचार होता है तब कहीं जाकर भीतर और बाहर की दुनिया से जुड़ पाता है।

रेखा मैंत्र ने देश-परदेश के जीवन के बीच में एक संधिपूर्ण पहलू से निबाह और निर्वाह की नींव पर रखे बेनाब रिश्ते काव्य संग्रह के माध्यम से हमारा परिचय अपने सोच-शब्दों के अनुपम संगम के माध्यम से वाक़िफ़ कराती है। जब कल्पना यथार्थ में परिवर्तन होती है तब कहीं अपने वजूद से परिचित होने की अनुभूति का आभास होता है। ऐसी ही एक अद्भुत रचना जिसमें रेखांकित किया गया सच सरलता से कह रहा है :

आध्यात्मिक ऊर्जा से भरपूर श्रीमद् भागवत का काव्यनुवाद, सामवेद का हिंदी पद्यानुवाद, ईशा जी ने उपनिषदों का काव्यात्मक अनुवाद.... अनेक शास्त्रों को छंद-बध करने वाली परमज्ञानी विदुषी डॉ. मृदुल कीर्ति के मनोभाव भी सच से परिचय कराते हुए कह रहे हैं....

लक्ष्य का संधान / रति के बाद की विरति / भोग के बाद का अवसाद / कर्म के बाद का विश्राम / ही सिखा पाते हैं कि / ममत्व में कुछ भी तेरा नहीं है / समत्व में सब कुछ तेरा है। अंतिम लक्ष्य का संधान करना हो तो / हमारी प्रार्थना का मूल यही हो कि हे ईश्वर / तन परिश्रमी हो / मन संयमी हो / बुद्धि विरागी हो / हृदय अनुरागी हो।

रजनी भार्गव हिंदी के शिक्षा माध्यम से जुड़ी हुई है और बहुत से आयोजनों में अनूप भार्गव की सहकरिणी रजनी भार्गव की कविताओं के तेवर अपनी एक अलग पहचान का परिचय खुद देते हुए कह उठते हैं.....

किताबों में कुछ किस्से हैं / मेरी उम्र के कुछ गुजरे हुए हिस्से हैं

उनकी 'अभिमान' नामक कविता का यहाँ अंश क्या कहता है आइए देखते हैं :

यह अभिमान मेरा है / मुखरित मौन मेरा / ओस की बूँद की तरह / बैठा है हरी दूब पर / ठंडा और नाम सा है / ये अभिमान मेरा।

अनूप भार्गव भावनात्मक अभिव्यक्ति के मालिक हैं। ई-कविता ग्रुप के संचार और संचालन से जुड़े हुए मौन साधक की तरह हिंदी भाषा का प्रचार-प्रसार करते रहते हैं। उनकी रचनाएँ गहराई और गिराई के रंग में ओतप्रोत अपनी बात पुरअसर रंग और ढंग से सामने रखते हैं, जैसे.....

कल रात एक अनहोनी बात हो गई / मैं तो जगता रहा खुद रात सो गई।

उनकी एक कविता जो मुझे बहुत पसंद प्रिय है.....

मैं और तुम / अपने हिस्से का / अर्धव्यास पूरा कर लिया,

क्या तुम / मुझसे मिलने के लिए / केंद्र पर आओगी ?

शब्दों की सरलता में सौंदर्य-बोध का दर्शन होता है।

रमेश जोशी : अंतरराष्ट्रीय हिंदी समिति, अमरीका की त्रैमासिक पत्रिका 'विश्वा' के प्रधान संपादक हैं, इस वक्त वे ओहायो में रहते हैं।

केंद्रीय विद्यालय में हिंदी अध्यापन के बाद आप सेवा निवृत्त हुए। गद्य और पद्य दोनों में लगातार लिखते हैं। अपने व्यंग तीखी नजर, कविता और ग़ज़ल पर भी कलम आजमाई है। बानगी के एक स्वरूप ग़ज़ल, उनके अपने नज़रिये से देखिये। जितनी सटीक अनुभूति, उतनी ही निखरी हुई अभिव्यक्ति मिलेगी :

ऊपर से जो ठहरी दिखे / झील वही तूफानी है
दहशत को भी रंग दे दिया / तब से भय हो गया रंग का
मन का मधुबन ठूंठ पड़ा जब / तब क्यूँ नाटक फग-चंग का?

तंज के तेवर शब्दों से झाँक रहे हैं। फिर चाहे वह ग़ज़ल हो, चाहे द्वंद्व काव्य का रूप-हैलो उनकी बानगी के साथ रु-ब-रु होते हैं।

रोटी पानी न मिले, तो दु:ख की क्या बात
मोबाईल सस्ता हुआ, कर जी भरकर बात।
कह जोशी कवि नहीं भरा हो मन जो अब भी
देखो जी भर अब सस्ता एल. सी. डी. टी. वी.।

लेखक के मनोभावों को काग़ज़ पर पढ़ने से उनके व्यक्तित्व से परिचित होने की संभावना बनी रहती है।

अमरेंद कुमार मिशिगन प्रांत में रहते हैं। साहित्य, चित्रकला, संगीत एवं भ्रमण में आपकी रुचि है। आप संयुक्त राज्य अमेरिका से निकलने वाली पत्रिका 'क्षितिज' और 'ई-विश्व' का संपादन भी करते रहे हैं। वे हिंदी साहित्य का प्रचार-प्रसार अपने लेखन के माध्यम से करते हैं, वे गद्य भी कुछ ऐसे लिखते हैं जैसे काव्य का कोई निर्झर झरना बह रहा हो....

ऊँचे आदर्शों के उतंग शिखरों से / कवि, निकले तेरी ऐसी कविता धरा।
फोड़ कर संकुचित वृत्ति के पाषाणों को / बहा ले जाए तो कलुषित विचार सारा /

सुरेंद्रनाथ तिवारी न्यू जर्सी के जाने माने लेखक हैं। संवेदनशील मनोभावों को अभिव्यक्त करने में उनकी अलग पहचान है। उनका एक संग्रह 'पार्थ गांडीव उठाओ' समर्पित करते आ रहे हैं। उसी संग्रह से ये पंक्तियाँ उनकी भावनाओं के तत्व को परिभाषित करती हैं....

उठो पार्थ गांडीव संभालो / दूर करो अपनी दुविधा
युद्ध धर्म है, युद्ध कर्म है / मात्र शेष यदि युद्ध-विधा

श्री रामबाबू गौतम = अमेरिका में हिंदी का परचम लहराने वाले अंतरराष्ट्रीय हिंदी समिति के प्रख्यात हिंदी सेवी, न्यू जर्सी चैप्टर के अध्यक्ष श्री रामबाबू गौतम एक प्रतिमान रचनाकार हैं। भारतीयता से ओत-प्रोत उनकी रचनाएँ भारत की सभ्यता और संस्कृति की नई किरणें, प्रवासी नई पीढ़ी और पुराने पीढ़ी के बीच की राहें रौशन कर रही हैं।

माटी तेरे देश की चंदन, माथे पे लगाकर देखो

याद में बहती गंगा जमुना, आँखों से बहाकर देखो।

श्रीमती सीमा अरोरा का दुखद निधन का समाचार साहित्य जगत में एक न भरने वाला खालीपन छोड़ गया। उनके शब्दों की गूँज हमारे बीच में उनकी याद को प्रतिध्वनित करती रहेगी इन रचनात्मक पँक्तियों की गूँज आज भी हमारे कानों तक आकर हमसे कहती है.....

हिंदी को मैं अपनी माँ मानती हूँ जो सारी जिंदगी मेरे साथ रह रही है। आगे वह कहती है मैं लिखती हूँ क्योंकि काव्य मेरी केवल कल्पना मात्र नहीं, परंतु यह हृदय में उठी वो हूक जो स्वयं में गुँजन पैदा करके मुझे आत्मबल, प्रोत्साहन तथा मनोवृत्ति को संतुलित रखने की अनुभूति देती है। मेरे लिए यह औषधि और उपचार दोनों का काम करती है।

कविता कोरी मानवीय चिंता से नहीं रची जाती। स्वरूप तब ही खिल पाता है जब उनमें ऊर्जामय भाव-बोध, समृद्ध कल्पना, रचनात्मक भाषा और सौंदर्य के बारीक और नए संवेदन हो। अपनी संवेदना को लगातार विकास के नए क्षितिज प्रदान करते हुए नारी मन की पीड़ा, अपने होने और न होने के अंतर को अभिव्यक्त करते उनका कथन हमसे बतियाता है....

टूटी हुई टहनी का पत्ता समझ कर / हवा में यूँ कितना उड़ाते हो मुझको / मुझे रौंदने की, मसलने की इच्छा ले / पैरों से ठोकर लगाते हो मुझको।

डॉ. सुदर्शन प्रियदर्शनी जानी मानी कवयित्री होने के साथ एक मंजी हुई कहानीकार भी है, उनकी एक रचना का अंश आपके सामने है, देखिए कैसे शब्द प्रवाहित हो रहे हैं.....

जिंदगी नदी पर बना हुआ / लकड़ी का एक अस्थायी पुल है / जिस पर हम डगमगाते / डोलते / हिलोरें खाते / उस पार की ललक लिए / चले जाते हैं।

पूर्णिमा देसाई न्यू यार्क में शिक्षायतन नामक संस्था की संस्थापिका एवं निर्देशिका हैं। साहित्य के साथ-साथ संगीत और नृत्य में इन्हें दक्षता हासिल है और अनेक कला-प्रेमी शागिर्द उनकी तरह सीख लेते हैं.... ऐसी भावनाओं की टकसाल मन में संजोने वाली हस्ती सिर्फ भारतवर्ष की उपज हो सकती है। देश से दूर हम बेशक जाते

हैं पर सीने में हिंदोस्तान का दिल धड़कता है, जहाँ देश और भाषा का गुंजन प्रतिध्वनित होता है.... लीजिए उनकी बात जो भारत का समर्थन करती है—

मैं हिंदी हूँ / भारत माँ की बिंदी हूँ / मैं भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी हूँ।

कैलिफोर्निया की एक सशक्त लेखिका जिसकी भाषा में कुछ चुभन का एहसास, तो कभी मरहम का छुवाव भी पाया जाता है।

जिंदगी यूँ तो उनका काव्य संग्रह साँसों का एक ख़त है जो खुशबू के नाम लिखा गया है!

देखिए उनकी बानगी और सुनिए उनकी दस्तकें....!

लोग कहते हैं / कोई गीत लिखो

मैं उन्हें कैसे बताऊँ / जिंदगी मुझे लिखती है....!

बहुत ही सुंदर हकीकत बया-बाजी में प्रवीण अपनी क्षणिकाओं द्वारा बिंब बनकर सामने आ उछाल दो

मुहब्बत के दो चार लफ़्ज

जिंदगी के दरिया में..... वो डूबेंगे नहीं / तैरते रहेंगे और

बन जाएँगे पुल / हमारे बीच

इनमें दुनिया दारी के तजुर्बा के साथ-साथ एक एहसास व जिंदादिल का स्पर्श भी है।

डॉ. अनीता कपूर कैलिफोर्निया में निवासी, एक सुलझी हुई संवेदनशील नारी, लेखिका, पत्रकार व संपादन में अपनी कुशलता की मोहर लगाने वाली अनीता जी की रचनात्मक शैली, शिल्प, मुहावरेदार भाषा तथा अभिव्यक्ति का सौंदर्य देखते ही बनता है। वह कुछ भी आधा-अधूरा नहीं चाहतीं, शायद बीते पल उसके बहुत कुछ छीन ले गए हैं और आने वाले जीवन के लिए वह पूरा का पूरा खुला आसमान तलाश रही हैं, देखें उनकी आशाओं का ताजमहल—

आत्मा निर्णय के / संकटापन्न क्षणों में उग आते हैं

मस्तिष्क में / नागफनी के काँटे अभिव्यक्ति मन को चोट किए बिना नहीं रहते, यह उनके काव्य-संग्रह साँसों के हस्ताक्षर पढ़ते हुए यह आभास होता है। अपनी हस्ताक्षर रचना नया आकाश में वे अपनी ईमानदारी, सोच हमारे सामने रखते हुए कहती हैं—

आज / मैं खुद को समेटने लगी हूँ / मैंने आकाश तराशने के लिए एक नई औरत को आमंत्रण दिया है.....

डॉ. सरिता मेहता आजकल हिंदी शिक्षा के प्रचार-प्रसार में लगी हुई हैं। बच्चों को मनोवैज्ञानिक रूप से शिक्षा देने में वे माहिर हैं। प्रवासी परिवेश में भारत के तीज त्योहार का मूल्यांकन करते-कराते वे कहती हैं—

फिर बरस के बाद दिवाली आई अब की बार

बैठी हूँ मैं अकेली साथ समंदर पार

देवी नागरानी : इन कविताओं को पढ़कर, सुनकर यही लगता है देस से भारतीय प्रवासी अब भी भारत को, उसकी संस्कृति को, सभ्यता को अपने सीने में धड़कता हुआ पाते हैं, तब ही तो वे उस पीड़ा की तड़प को महसूस करते हैं, इजहार करते हैं। इसी दर्द की एक झलक मेरी इस ग़ज़ल में भी छलकती हुई दिखाई देती है—बादे-सबा वतन की चंदन सी आ रही है / यादों के पालने में मुझको झुला रही है / शादाब मेरे दिल में एक याद है वतन की / तेरी भी याद उनमें घुल-मिलकर आ रही है।

यह महक है प्रवासी भारतीय लेखकों व लेखिकाओं की रचनाओं की, जो दिलों पर अपनी छाप अंकित कर पाने में सक्षम है। मेरी एक ग़ज़ल का शेर इसी ओर इशारा कर रहा है.....

कहाँ किसने इन कोरे काग़ज़ों से कुछ नहीं मिलता

कभी शब्दों में घुल-मिल जाती है मल्हार की खुशबू..... स्वचरित

देश प्रेम प्रवासी भारतीय लेखकों की कलम से खुद अभिव्यक्त करता है..... तीज हो चाहे त्योहार, भाई दूज हो या रक्षा बंधन, हर रिश्ता यादों के पालने में सदा ही झूलता रहता है—

'देवी महक है इसमें, मिट्टी की सौंधी सौंधी

मेरे वतन की खुशबू, केसर लुटा रही है। जय हिंद !

❑❑

सांस्कृतिक धरोहर के संवाहक- प्रवासी भारतीय

शशि पाधा

भारतीय संस्कृति के प्रचार और प्रसार का सर्वाधिक श्रेय उन साहसी एवं उत्साही भारतवासियों को जाता है जिन्होंने समय-समय पर विदेश गमन करके विभिन्न देशों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना की। भारत से सुदूर उन उपनिवेशों में भारतीय संस्कृति, सभ्यता और धर्म प्रचार को दृष्टि में रखकर कई केंद्र स्थापित किए और अपने संपर्क में आने वाले विदेशियों के मन में भारतीय संस्कृति और सभ्यता के प्रति विशेष आकर्षण जागृत किया। बरसों पहले सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रसार-प्रसार के लिए अपने पुत्र, पुत्री को श्री लंका भेजा और अपने भाई एवं अन्य दूतों को मिस्र, सीरिया, अफ़गानिस्तान, इंडोनेशिया आदि देशों में भेजा। इस तरह भारतीय संस्कृति इन देशों में पहुँची और पुष्पित-पल्लवित होती रही। इसी प्रकार हमारी संस्कृति, भाषा, साहित्य और धर्म विश्व के कोने-कोने में पहुँच गया। जापान, मंगोलिया, फिलीपाइन, इंडोनेशिया, साइबेरिया, चीन, जावा, सुमात्रा आदि देशों के निवासियों ने हमारी संस्कृति को सराहा और उसके मुख्य अंशों को अपने दैनिक जीवन एवं अपनी संस्कृति में सहर्ष सम्मिलित कर लिया।

सर्व विदित है कि मॉरीशस, फिजी, त्रिनिडाड, सूरीनाम आदि देशों में जब भारतीय आजीविका कमाने के लिए गए तो वे अपने धार्मिक ग्रंथों के साथ अपनी परंपराएँ, रीति-रिवाज़ और संस्कृति को भी ले गए। सुना है कि उन्हें अपने धार्मिक त्योहारों को मनाने का अधिकार नहीं था किंतु फिर भी चोरी छिपे वे लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी संस्कृति की रक्षा करते रहे और इसके प्रचार में सदैव प्रयत्नरत रहे। आज जब इन देशों के लोगों से मिलना होता है इनके पास भाषा और सांस्कृतिक संपदा की निधियाँ देखकर सुखद आश्चर्य होता है।

इस संदर्भ में मेरे पास यही तर्क है कि विदेशों में जाने वाले भारतीय वहाँ केवल शारीरिक रूप से नहीं जाते। अपने भौतिक सामान के साथ वे अपने मन की

गठरी में चुपचाप अपनी संस्कृति, जीवन मूल्य और परंपराएँ बाँध के ले जाते हैं और विदेशी धरती पर बड़े यत्न से इस धरोहर के रक्षण और संवर्धन में जुटे रहते हैं।

अमेरिका जैसे विशाल देश में भी भारत के विभिन्न प्रांतों से बुद्धिजीवी आजीविका कमाने, व्यापार के कारण अथवा उच्च शिक्षा प्राप्ति के ध्येय से आते हैं। पाश्चात्य संस्कृति भारतीय संस्कृति से बिलकुल भिन्न है। आते ही उनकी मन:स्थिति अपनी मिट्टी से उखड़े हुए और दूसरे स्थान पर आरोपित किये हुए पेड़ की तरह हो जाती है। और फिर कुछ दिन नई जगह, नये वातावरण में व्यवस्थित होकर खोज आरंभ हो जाती है उन संस्थाओं, समुदायों की, जहाँ वो अपने मन की गठरी को खोल कर अपनी परंपराओं के साथ पूर्णतया जी सकें। पाँच हजार वर्ष पुरानी हमारी संस्कृति ही हम भारतीयों की आत्मा है और मैंने उस अमूर्त आत्मा का अमेरिका में शाश्वत और मूर्त रूप देखा है। चाहे कोई समुदाय हो, कोई प्रांतीय त्योहार हो, कोई धार्मिक पर्व हो, इस देश में प्रवासी भारतीय मिलजुल कर, बड़े उत्साह के साथ उसे मना कर विदेशी धरती पर "वसुधैव कुटुंबकम" और "सर्वधर्म सद्भाव" जैसे समरसता और एकता का पाठ पढ़ाने वाली भारतीय संस्कृति की धरोहर को और समृद्ध करने में एकजुट हो जाते हैं।

चूँकि अमेरिका में भारत की तरह हर भारतीय त्योहार पर छुट्टी नहीं होती, इसीलिए हर त्योहार शनिवार या रविवार को मनाया जाता है। लोग अधिकतर मंदिरों के प्रांगण, किसी कम्युनिटी सेंटर, स्थानीय चर्च या स्कूल के खेल-मैदान में एकत्रित होते हैं। सभी परिवार पूरी भारतीय वेशभूषा में सजधज कर आते हैं और त्योहार का आनंद लेते हैं। यहाँ भारतीय पोशाकें और मिठाइयाँ प्रचुर मात्रा में बिकती हैं, यहाँ तक कि पूजा की सामग्री और व्रत में खाई जाने वाली चीजें हर भारतीय स्टॉल पर आसानी से उपलब्ध हो जाती हैं। होली, दीवाली, गणेश चतुर्थी, उगाधि, बीहू, कृष्ण जन्माष्टमी, दुर्गा पूजा, ईद, गुरपूरब आदि भारतीय त्योहार मनाने की तैयारी कई सप्ताह पहले ही बड़े जोर शोर के साथ हो जाती है।

अमेरिका में गुजराती समुदाय के लोग बहुत मात्रा में बसे हुए हैं। नवरात्रि इस समुदाय का महत्वपूर्ण त्योहार है। इस अवसर पर पूरे सात दिन लोग संध्या के समय एकत्रित होकर डांडिया और गरबा नृत्य का आयोजन करते हैं। केवल गुजराती ही नहीं, अन्य प्रांतों के लोगों के साथ यहाँ के निवासी भी इस मनमोहक नृत्य में भाग लेते हैं। ऐसे भव्य आयोजनों को देखकर लगता है कि जैसे छोटा-सा भारत कुछ दिनों के लिए अतिथि रूप में अमेरिका में आ बसा हो।

होली के दिनों में तो अधिकतर अमेरिका के राज्यों में हिमपात हो रहा होता है, फिर भी हिम की शीतलता प्रवासी भारतीयों के उत्साह को ठंडा नहीं कर पाती और लोग स्वेटर-जैकेट पहन कर भी सामूहिक रूप से अबीर-गुलाल के रंगों में रंग जाते हैं। यहाँ के बहुत से राज्यों में "हरे रामा हरे कृष्णा" समुदाय के मंदिर बने हुए हैं। इन मंदिरों में गौशालाएँ भी बनी हुई हैं। ऐसे पवित्र स्थान पर भारतीय और इस धर्म को

मानने वाले अमेरिकी भी पीली धोती और सजे हुए सर पर चोटी रखे हुए कृष्ण लीलाएँ करते दिखाई देते हैं। ऐसे समारोहों में जाकर लगता है कि मानो हम गोकुल-वृंदावन की गलियों में घूम रहे हों।

कुछ वर्षों से अमेरिका के मुख्य राज्यों में दशहरे का उत्सव बहुत ही उत्साह के साथ मनाया जाता है। इस महाद्वीप के दक्षिण दिशा के टेक्सस प्रांत में और नॉर्थ केरोलाईना राज्य में दशहरे की धूम की छटा तो कई दिनों तक लोगों के मन-मस्तिष्क में घर लेती है। नॉर्थ केरोलाईना के मुख्य नगर मोरिसविल्ल के मंदिर के भव्य हॉल में पहले राम लीला का आयोजन होता है और फिर उसी शाम को रावण और लंका दहन की रस्म निभाई जाती है। कई दिन पहले ही राम लीला के लिए तैयारियाँ होती हैं, रावण, मेघनाद और कुंभकर्ण के पुतले बनाए जाते हैं। सूर्यास्त के समय स्थानीय मंदिर के विशाल पार्किंग परिसर में लंका दहन का मंचन होता है। पटाखे-आतिशबाजियों से भरे इन पुतलों को जलाया जाता है। इस आयोजन में लगभग 20 हजार लोग भाग लेते हैं। उत्सवों के इन सामूहिक आयोजनों से एक बात तो स्पष्ट है कि प्रवासी भारतीयों की नई पीढ़ी अपनी परंपराओं, रीति-रिवाजों से पूरी तरह परिचित हैं और आगे आने वाली पीढ़ी के लिए जीवित रखना चाहते हैं। इस प्रकार वे विदेश में रहते हुए भी अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़े रहते हैं।

उत्सव मेलों की तरह यहाँ शादी ब्याह भी पूरे पारंपरिक तरीके से संपूर्ण होते हैं। दुल्हे के लिए घोड़ी, दुल्हन के लिए डोली और बारातियों के लिए ढोल नगाड़े आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं। संपूर्ण भारतीय स्वादिष्ट व्यंजनों की सुगंध से भरी भारतीय थालियों में ही भोजन परोसा जाता है। प्रवासी भारतीय इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं कि शादी ब्याह पर पूरा भारतीय वातावरण ही संजोया जाए। जहाँ तक कि विवाह मंडप, वेदी, मंगल, मंगल कलश आदि सजावट की सामग्री पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

प्रवासी भारतीयों के लिए चिंता का एक प्रमुख कारण है कि किस प्रकार राष्ट्रीय भाषा हिंदी, मातृभाषा और हमारी धनी भारतीय संस्कृति को विदेशी धरती पर भी अक्षुण्ण रखा जाए, उसका संवर्धन हो और इसे नई पीढ़ी तक पहुँचाया जाए। अगर साहित्य समाज का दर्पण होता है तो भाषा उसका माध्यम। अमेरिका में विश्व हिंदी समिति, विश्व हिंदी न्यास, हिंदी यू. एस. ए., हिंदी विकास मंडल, आदि अनेक स्वयंसेवी संस्थाएं हैं जो हिंदी को नई पीढ़ी तक पहुँचाने के लिए अथक प्रयत्न करती हैं। इन संस्थाओं के द्वारा मंदिरों में शनिवार-रविवार को कक्षाएँ चलाई जाती हैं जहाँ बच्चे भाषा के साथ-साथ अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रमों से भी जुड़े रहते हैं।

विदेशियों में भारत के धर्म, संस्कृति, योग, ध्यान, आयुर्वेद और ज्योतिष विद्या को समझने की जिज्ञासा है और वे इन चीजों को भारत की मूल भाषा में ही समझना चाहते हैं। इस आकर्षण का आभास मुझे तब हुआ जब अमेरिका में 'नॉर्थ

केरोलाईना विश्वविद्यालय 'एट चैपल हिल' के दक्षिण एशिया विभाग के हिंदी विभाग में मेरी हिंदी प्रोफेसर की नियुक्ति हुई। वहाँ भारतीय मूल के विद्यार्थियों के साथ विश्व के अन्य देशों के विद्यार्थियों को अपनी सुसंस्कृत, वैज्ञानिक भाषा को पढ़ाते हुए मुझे अत्यंत संतोष का अनुभव हुआ। कई पीढ़ियों से विदेशों में बस चुके भारतीय अपनी संस्कृति की भाषा को संरक्षित रखने का सदैव प्रयत्न करते रहते हैं। उनके रोजगार की भाषा चाहे जो भी हो लेकिन घर की भाषा हिंदी या मातृभाषा ही होती है।

"योग" भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है। भारतीय मूल के लोगों के साथ अमेरिका के मूल निवासियों और इस महाद्वीप में बसे अन्य प्रवासियों में भी "योग साधना" को ठीक तरह से सीखने का विशेष उत्साह है। अमेरिका के कई स्थानों पर भारतीयों द्वारा "योग शिक्षा" का आयोजन किया जाता है। गर्मी की छुट्टियों में यौगिक शिविर लगते हैं जहाँ शिक्षार्थी यौगिक क्रियाओं को सीखते हैं। "योग" मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए बिना औषधि का इलाज है। इसके प्रति सार्वभौमिक आकर्षक को समझते हुए 11 दिसंबर, 2014 को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने 21 जून का दिन "विश्व योग दिवस" के रूप में घोषित किया था। संयुक्त राष्ट्र की उस घोषणा में कहा गया था "योग व्यक्ति के तन और मन को स्वस्थ बनाता है। योग के प्रसार से दुनिया के निवासी अधिक स्वस्थ रहेंगे।"

प्रवासी अपने साथ अपना संगीत, नृत्य और अन्य ललित कलाएँ भी तो उस गठरी में बाँध के लाए हैं। अगर भारत से सॉफ्टवेयर इंजीनियर और चिकित्सक यहाँ जीविका कमाने आए हैं तो उनके साथ इन ललित कलाओं में पारंगत उनकी पत्नियाँ भी तो घर बसाने आई हैं। इनके द्वारा बहुत-सी ऐसी शिक्षण संस्थाएँ चलाई जा रही हैं जहाँ नन्हें-नन्हें बच्चों को संगीत के साथ-साथ नृत्य की विभिन्न शैलियों में शिक्षा दी जाती है। विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार में संगीत एक महत्वपूर्ण कड़ी है। यहाँ के भारत-वंशी अपनी नई पीढ़ी को संगीत की शिक्षा देने में उत्साहित रहते हैं। वर्ष में कई बार भारत से भी प्रसिद्ध गायकों, नाट्यकारों और नृत्यशास्त्र में धनी कलाकारों को आमंत्रित किया जाता है। इन कार्यक्रमों में बहुत से अमेरिका में बसे अन्य देशों के निवासी भी भाग लेते हैं। बहुत से अमेरिकी युवा भारतीय वाद्य जैसे सितार, तबला, बाँसुरी सीखते हैं। इस प्रकार हम भारतीयों का मधुर संगीत बहुत से अमेरिकी संस्थानों में गूँजता सुनाई देता है।

कुछ दिन पहले मैंने टीवी पर केनेडा के युवा प्रधानमंत्री को शुद्ध भारतीय परिधान में अन्य भारतीयों के साथ भांगड़ा नृत्य करते देखा। उस समय मेरे मन में विचार आया कि राजनैतिक या सांप्रदायिक उपनिवेशवाद के दिन अब बदल रहे हैं।

एक विश्व की बात सोचने के साथ ही एक संस्कृति को भी ध्यान में रखना होगा। प्रचलित अनेकानेक संस्कृतियों के उपयोगी एवं महत्वपूर्ण अंश आदि एक स्थान पर एकत्रित कर दिये जाएँ तो उसका स्वरूप एक देवसंस्कृति जैसा बन जाएगा।

"वसुधैव कुटुंबकम्" भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र है और वो दिन दूर नहीं कि इस महामंत्र की विश्व के हर छोर पर गूँज होगी। प्रवासी भारतीय धरती के किसी भी देश में जा बसें उनका मन अपनी सभ्यता और संस्कृति में ही रचा-बसा रहेगा। इसी संदर्भ में अंत में मैं अपनी रचना के कुछ अंश प्रस्तुत करना चाहूँगी–

"तन जो हो सुदूर कहीं भी
मन तो बसता अपने देश।
तेरी माटी कुंकुम चंदन
मस्तक रोज़ लगाऊँ मैं।
जहाँ रहूँ, जिस छोर भी जाऊँ
तुझको शीश नवाऊँ मैं।
मेरे तो मन मंदिर बसता
देव समान मेरा देश
भक्ति वंदन का यह देश
पूजा अर्चन का यह देश।"

❑❑

हिंदी प्रवासी साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन की दिशाएँ

डॉ. कमल किशोर गोयनका

हिंदी के प्रवासी साहित्य का संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत करते समय इसका प्रयत्न किया है कि इस साहित्य की मूल संवेदनाओं तथा सरोकारों से भी यथास्थान आपको अवगत कराता चलूँ, जिससे इस साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन की संभावनाओं, प्रक्रियाओं और दिशाओं को भी सप्रमाण समझा जा सके। तुलना एक ऐसा विज्ञान है जो केवल साहित्य में ही नहीं प्रकृति एवं प्रत्येक मानवीय कर्म में उसकी उपस्थिति देखी जा सकती है। 'तुलना' शब्द अंग्रेज़ी के 'कम्पेअर' (Compare) शब्द का पर्याय है, जिसका अर्थ है तुलना करना, मिलान करना, समानता दिखाना या संबंध दिखाना। तुलना में केवल सादृश्यता दिखाना नहीं है, उसमें समानता एवं विषमता दोनों का निरूपण आवश्यक है।

प्रकृति में कोई भी दो वस्तुएँ एक जैसी नहीं होतीं और दो मनुष्य भी एक जैसे नहीं हेाते। उनमें कुछ अंतर होता है, और कुछ साम्य के तत्व भी होते हैं। इसी आधार पर दो भिन्न वस्तुओं, भाषाओं, लेखकों, रचनाओं आदि की तुलना हो सकती है और इसके लिए शोध की प्रक्रियाओं का सहारा लिया जाता है। मनुष्य जब किसी एक वस्तु या भाव-विचार को जानना चाहता है तो उसे विपरीत एवं प्रतिकूल स्थितियों, वस्तुओं और विचारों को भी देखना होता है और तभी वह उसे समग्र रूप से पहचान सकता है। प्रकाश को जानने के लिए अंधकार को, धर्म को जानने के लिए अधर्म को, सत्य को जानने के लिए असत्य को तथा नैतिकता को जानने के लिए अनैतिकता और स्वर्ग को जानने के लिए नर्क की सत्ता से परिचित होना आवश्यक है। अत: ज्ञान-विज्ञान एवं भाषा-साहित्य सभी में संपूर्ण ज्ञान के लिए तुलनात्मक पद्धति के महत्व को समझा जा सकता है।

इस तुलनात्मक अध्ययन के लिए कुछ मूलभूत शर्तें हैं जिनका पालन आवश्यक है। सबसे पहले आवश्यक हैं कि तुलना के मूल सरोकारों को हम अपने मन में स्पष्ट

करें कि हम इस कार्य को क्यों करना चाहते हैं? इसके बाद यह जरूरी है कि तुलनीय पक्षों, भाषाओं एवं साहित्यों के ज्ञान में सिद्धहस्त हों। यदि हमें दोनों विषयों का ज्ञान नहीं है तो किसी को भी तुलना के कार्य में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। यदि कोई प्रेमचंद के हिंदी तथा उर्दू साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहता है तो उसे दोनों भाषाओं का ज्ञान होना आवश्यक है। गांधी जब अहिंसा-हिंसा की बात करते हैं और अहिंसा को मानव-धर्म कहते हैं तो वे हिंसा की प्रकृति को भी पूर्णत: जानते हैं। इससे यह लाभ होता है कि निष्कर्ष प्रामाणिक एवं तर्कसंगत होते हैं और कई बार अज्ञात विशेषताएँ भी प्रकाश में आती हैं। तुलनात्मक अध्ययन एक आलोचनात्मक प्रक्रिया है और इसके लिए विवेचन-विश्लेषण एवं आलोचनात्मक कौशल की आवश्यकता है।

तुलनात्मक अध्ययन, लेखक, साहित्य, कृतियाँ या प्रवृत्तियाँ, एक-दूसरे को नवीन संदर्भ प्रदान करती हैं और नवीन तथ्य और निष्कर्ष प्रकट होते हैं। यदि तुलनात्मक अध्ययन भाषा और साहित्य में होता है, जैसा कि हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में तथा भारत के हिंदी साहित्य और प्रवासी हिंदी साहित्य में, तो दोनों में संपर्कों की नई दिशाएँ खुलती हैं और दोनों का ही विस्तार होता है। उनमें निकटता बढ़ती है और एक-दूसरे के प्रति सद्भाव एवं विश्वास उत्पन्न होता है। साहित्य-संसार में भाषाओं तथा साहित्यों के आदान-प्रदान से उसका आकाश विस्तृत होता है, जैसे हिंदी के प्रवासी साहित्य से हिंदी साहित्य विश्व-व्यापी हो गया है। इस अध्ययन से एक बड़ा लाभ यह है कि हमारे भ्रम और पूर्वाग्रह टूटते और सच्चा चेहरा सामने आता है।

अमेरिका और यूरोप के बारे में भारतीयों का यह विश्वास है कि वहाँ पेड़ों पर डॉलर उगते हैं, तथा वहाँ सुख-समृद्धि की नदियाँ बहती हैं और वहाँ आदमी को कोई तकलीफ नहीं है। भारतेतर देशों के प्रवासी हिंदी सहित्य के अध्ययन से ये सारी खुश फेहमियाँ झूठी सिद्ध होती हैं। इस प्रकार यह अध्ययन हमारे सीमित एवं अपूर्ण ज्ञान को विस्तृत करता है। प्रवासी साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से हमें एक ऐसे मानवीय संसार का, अपने भारतवंशी समाज का एक ऐसा चित्र मिलता है जिससे आम भारतीय परिचित नहीं है, लेकिन प्रवासी साहित्य हमें ज्ञानवान बनाता है, और हम प्रवासी भारतीयों के साथ भारतेतर देशों के समाजों के बारे में काफी कुछ जानने लगते हैं।

हिंदी के प्रवासी साहित्य में अभिव्यक्त वहाँ के जीवन की चर्चा से पहले मैं प्रेमचंद की दो कहानियों—'यही मेरी मातृभूमि है' तथा 'शूद्रा' की चर्चा करके अपनी बात शुरू करूँगा। 'यही मेरी मातृभूमि है' सन् 1908 में छपी थी। इसका नायक एक प्रवासी भारतीय है, जो 70 वर्ष से अमेरिका में संपन्न एवं सुखी जीवन जीने के बाद भारत इसलिए लौटता है कि वह अपनी भूमि पर ही देह त्यागना चाहता है। अमेरिका की भौतिक समृद्धि, सुखी परिवार और यशस्वी जीवन भी उसे अपनी जन्म-भूमि में

आने से नहीं रोक पाया और वह गंगा के किनारे झोंपड़ी बनाकर रहने लगता है। आज एक शताब्दी बाद मेरे कुछ मित्र-लेखक इसी प्रकार अमेरिका छोड़कर भारत आ गये हैं। प्रेमचंद की दूसरी कहानी है 'शूद्रा' जो मॉरीशस ले जाये गये भारतीयों के जीवन पर लिखी गई है। ये भोले-भाले भारतीय थे जो प्रलोभन-लालच में फँसकर गिरमिटिया मज़दूर के रूप में भेड़-बकरियों की तरह जहाज में लादकर ले जाये गये थे। कहानी के नायक-नायिका गोरे मालिक के अत्याचार सहते हैं लेकिन स्त्री के सतीत्व की रक्षा के लिए अपना बलिदान कर देते हैं। इस प्रकार दासता में भी भारतीय स्त्री की यौनिक पवित्रता एवं सतीत्व की रक्षा ही सबसे बड़ा धर्म है।

मॉरीशस के हिंदी साहित्य में हिंदू, हिंदी और हिंदुस्तान की प्रबलधारा विद्यमान है। 'दुर्गा' हस्तलिखित पत्रिका जो 1935-38 में निकली थी, इन्हीं उद्देश्य से आरंभ की गई थी। इन मॉरीशस के प्रवासी भारतीयों तथा भारतवंशियों में भारत की संस्कृति, धर्म, भाषा, साहित्य आदि प्रमुखता से उनके जीवन के अंग रहे हैं। अभिमन्यु अनत ने लिखा है कि मॉरीशस उनकी कर्मभूमि है और भारत सांस्कृतिक भूमि है और बहुसंख्यक हिंदू होने के कारण ही वहाँ भारतीय धर्म, संस्कृति, भाषा और साहित्य बचा हुआ है। राजेंद्र यादव जैसे मार्क्सवादी लेखक इस सत्य को नहीं समझते कि इन प्रवासी भारतीयों के हिंदू बने रहने से ही वहाँ भारत जीवित है, अन्यथा वे ईसाई होते और फ्रांस की संस्कृति का आधिपत्य होता। मॉरीशस के राष्ट्रकवि ब्रजेंद्र कुमार भगत 'मधुकर' ने तो अपने काव्य-ग्रंथों में हिंदू धर्म, हिंदू देवताओं और हिंदू संस्कृति की बार-बार प्रशंसा की है। मॉरीशस के हिंदी लेखक हिंदी भाषा की रक्षा में कटिबद्ध हैं। अभिमन्यु अनत का कष्ट यह है कि हिंदी भाषा पराई बनाई जा रही है। उनकी एक कविता की कुछ पंक्तियाँ हैं—'मेरे पेट का कुआँ मेरा अपना है / मेरे घावों का दर्द मेरा है / किराये की साँसें मेरी अपनी ही हैं / मेरा बोझ मेरा है / बस एक भाषा है / जो मेरी नहीं है।" किंतु अभिमन्यु अनत ने हिंदी भाषा को अपनी आत्मा से लगाया हुआ है। वह सब कुछ लुटा सकता है, किंतु हिंदी भाषा पर अपने अधिकार को नहीं छोड़ सकता। उसकी एक दूसरी कविता का अंश है—'मेरा सब कुछ लूट लो / मेरे घर में आग लगवा दो / मुझे सूली पर चढ़वा दो / पर तुम्हें छीनने नहीं दूँगा / अपनी हिंदी भाषा।" मुझे ज्ञात नहीं, मेरे देश में किसी हिंदी लेखक ने हिंदी भाषा के प्रति ऐसी निष्ठा, ऐसी दृढ़ता तथा ऐसा संकल्प प्रकट किया हो।

हिंदी के प्रवासी साहित्य में, अपने देश की स्मृति, देश और गाँव के परिवेश में बिताया जीवन, संगी-साथी आदि बार-बार याद आते हैं। प्रवासी काव्य में हमें कुछ ऐसे ही चित्र मिलते हैं, जिनमें स्वदेश और परदेश दोनों के जीवन के परिदृश्य मिलते हैं। इंग्लैंड के कवि निखिल कौशिक की एक कविता है—'तुम लंदन आना चाहते हो', इसमें कवि अपने मित्र को सलाह देता है कि तुम्हें लंदन नहीं आना चाहिए, क्योंकि तुम यहाँ 'काला आदमी' ही रहोगे और तुम न यहाँ के रहोगे और न अपने देश के। यह स्थिति इंग्लैंड की ही नहीं, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि अनेक देशों में हैं जहाँ भारतीय

अपमान और उपेक्षा का जीवन जीते हैं और जब ऐसे लोग भारत आते हैं तो अपने रिश्तेदारों के बीच अजनबी बने रहते हैं। सुदर्शन प्रियदर्शिनी अमेरिका की लेखिका हैं। उनकी कविताएँ भी प्रकाशित हुई हैं। उनकी एक कविता है 'वतन की याद', इसमें वे भारत की याद और अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करती हुई लिखती हैं–

वहाँ भी मन
कहीं कैदी-सा
बँधा हुआ
सुदूर अपनी मिट्टी से
जुड़ा हुआ
सुबकता कुछ कहता हो
तो समझो वतन की
याद आई है।

विदेश में भारतीयों की अनुभूतियाँ हमें एक ऐसे संसार से परिचित कराती हैं जहाँ अकेलापन, सूनापन है और भारत जैसी हलचल, भाग-दौड़, अपनापन जैसे सब कुछ गायब है। कृष्ण बिहारी आबूधाबी में अध्यापक हैं, कई वर्षों से आबूधाबी में हैं, कहानी-कविता लिखते हैं। उनकी एक कविता है 'यह भी एक दुनिया है', इसमें वह अपने देश के सूनेपन का चित्र खींचते हैं जो पश्चिम के कई देशों से मिलता है। कविता की पंक्तियाँ हैं–

दिखती है स्टाफ रूम की खिड़की से
सूनी दुनिया
सूने मकान
सूने समुद्र
सूने जंगल
बड़ा खौफ़नाक मंजर है
मैं इसे मुर्दों की कहानी कहता हूँ।

यह सच है, विदेश में यह भारतीय प्रवासी हैं और प्रत्येक पल, प्रत्येक दिन प्रवासी हैं, परंतु कुछ कवि-लेखक ऐसे भी हैं जो अपनी देशी अस्मिता तथा अपनी भारतीय क्षमता से वहाँ की प्रत्येक बाधा को पराजित करते चलते हैं। अमेरिका की सुधा ओम ढींगरा एक सशक्त लेखिका हैं, वर्षों से रह रही हैं, 'हिंदी चेतना' पत्रिका की संपादिका हैं। उनकी कविता 'पतंग' यहाँ प्रस्तुत है, जिसमें देशी पतंग अपने दम-खम के कारण विदेशी आकाश में निडर होकर मज़े से उड़ रही है–

परदेश के आकाश पर
देसी मांजे से सनी
आकांक्षाओं से सजी
ऊँची उड़ती मेरी पतंग
दो संस्कृतियों के टकराव में
कई बार कटते-कटते बची
शायद देसी मांजे में दम था
जो टकराकर भी कट नहीं पाई
और उड़ रही है
विदेश के ऊँचे खुले आकाश पर
बेझिझक, बेखौफ़....।

प्रवासी काव्य में अनेक ऐसे चित्र हैं, किंतु विस्तारमय से मैं उनकी चर्चा नहीं कर रहा हूँ, लेकिन भारत की दृष्टि से यदि हम देखें तो यह एक नई दुनिया है। वहाँ के अकेलेपन, सूनेपन और अपमान-उपेक्षा के बावजूद भारतीयों ने काफी उपलब्धियाँ हासिल की हैं, लेकिन एक प्रश्न उठता है कि जब ये भारतीय अपने देश में थे तब वे ऐसी सफलता क्यों प्राप्त नहीं कर सके तथा जब विदेशी भारत से व्यापार करते हैं, बोफोर्स तोप हो, हेलीकाप्टर हो या विक्रमादित्य जंगी जहाज, हम भारतीय क्यों नहीं अपने देशी चरित्र को बनाये रख पाते हैं?

हिंदी के प्रवासी साहित्य में वहाँ की कहानियों का बड़ा योगदान है और इन कहानियों में प्रवासी भारतीयों के घर-परिवार, पति-पत्नी के संबंधों, ग्रीन-कार्ड और वीजा की व्याकुलता, डेटिंग और तलाक एवं मौत तथा अंतिम संस्कार से लेकर भारत में अपने परिवारों तथा संबंधियों के रिश्तों की जीवंत कहानियाँ मिलती हैं। असल में, यदि हम प्रवासी भारतीयों का पारिवारिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक संबंधों का यथार्थ जानना चाहते हैं और भारत से उनकी तुलना करना चाहते हैं तो हमें प्रवासी कहानियों के एक बड़े आकाश से गुजरना होगा। इनमें बहुत-से ऐसे चित्र हैं, ऐसे बहुत-से प्रसंग और परिदृश्य हैं जो भारत के पारिवारिक और सामाजिक जीवन में प्राय: दुर्लभ हैं। अमेरिका में माँ-बाप के साथ बेटा-बेटी के संबंधों पर कुछ कहानियाँ प्रकाशित हुई हैं। ये कहानियाँ हमें एकदम नये संबंधों से परिचित कराती हैं और भारतीय परिवेश में वे अनोखी कहानियाँ लगती हैं। डेनमार्क की लेखिका अर्चना पैन्यूली की कहानी 'हाइवे-47' एक ऐसी ही कहानी है। कहानी में बेटा माँ-बाप के परस्पर कटु संबंधों से दु:खी है, परंतु यह पिता की गर्लफ्रेंड के बावजूद माँ के साथ नहीं है। वह अपनी माँ से कहता है, "अगर तुम पापा को पंसद नहीं करती तो यह मत

समझो कि हम भी उनसे नफ़रत करने लग जाएँ। हमें पापा अच्छे लगते हैं और उनकी गर्लफ्रेंड भी।" विदेश में संबंध टूट रहे हैं, यहाँ तक कि माँ को आशंका है कि उसका बेटा उसकी हत्या न कर दे। इंग्लैंड की कहानीकार जक़िया जुबैरी की कहानी है 'साँकल'। कहानी की माँ रात को सोने से पहले अपने कमरे की साँकल लगा लेती है, क्योंकि उसे भय है कि बेटा उसकी हत्या कर सकता है। माँ का ऐसा विश्वास टूटना माँ-बेटे के पवित्र रिश्ते को छिन्न-भिन्न कर देता है। कनाडा की लेखिका स्नेह ठाकुर की कहानी 'प्रथम डेट' तो हमारे लिए और भी अनोखी है। कहानी में माँ और बेटी दोनों अपनी प्रथम डेट के लिए तैयार होती हैं और बेटी स्वयं अपनी माँ को तैयार करती है।

हिंदी की प्रवासी कहानियों में पति-पत्नी के संबंधों को लेकर अनेक मार्मिक एवं व्याकुल करने वाली कहानियाँ लिखी गई हैं। पश्चिम के प्रवासी लेखकों का तो यह प्रिय विषय है, क्योंकि उनमें अधिकांश विवाहित हैं, पति-पत्नी के संबंधों में आये तनावों तथा टूटन को वे अपने आस-पास देखते हैं और कुछ बहुत ही मर्मस्पर्शी अनुभूतियों और संवेदनाओं को कहानी के रूप में व्यक्त कर देते हैं। भारतेतर देशों में प्रवासी युवकों द्वारा भारत में विवाह करके पत्नी को विदेश ले जाने का एक बड़ा दौर हमने देखा है और इससे पीड़ित अनेक युवतियाँ आज भी पति के पास विदेश जाने की प्रतीक्षा कर रही हैं।

अमेरिका की लेखिका इला प्रसाद की कहानी 'ग्रीन-कार्ड' इसी विषय पर आधारित है। सीमा का विवाह एक ऐसे ही युवक से होता है और वह शीघ्र ही वीज़ा भेजने का वायदा करके अमेरिका लौट जाता है, किंतु सीमा उसकी प्रतीक्षा और हताशा के द्वंद्व में जीती है और उसके वीज़ा की प्रार्थना अस्वीकृत हो जाती है। इसी प्रकार की एक दूसरी कहानी है अर्चना पैन्यूली की, उसका शीर्षक है 'घर वापसी'। इसमें विवेक भारतीय युवक है और वह विदेश में रहना चाहता है। वह ईसाई बनता है और 'बाईबिल' का अध्ययन करने के लिए डेन्मार्क जाता है। उसका हवाई जहाज में एक तलाकशुदा प्रवासी महिला पूजा से परिचय होता है और दोनों में प्रेम हो जाता है। विवेक घर-वापसी के नाम पर चर्च को छोड़कर उससे विवाह का प्रस्ताव करता है, परंतु पूजा उसकी चालाकी को समझकर उसे अपने घर भारत भेजने का रास्ता बता देती है। पूजा विवेक से कहती है—"घर-वापसी भी तुम्हारी ज़रूरी हुई है, पर क्रिश्चनिटी छोड़कर तुमने डेनमार्क में रहने का अधिकार खो दिया है। मैं तुमसे शादी करने को तैयार नहीं। अब तुम हिंदुस्तान, अपने घर वापस जाओ।" नार्वे के लेखक अमित जोशी की कहानी 'वीज़ा' भी इसी पृष्ठभूमि की कहानी है। भारतीयों में विदेशों की, विशेषत: अमेरिका आदि देशों की नागरिकता लेने की होड़-सी लगी है। जो भारतीय इन देशों में जाते हैं, वे वहाँ के नागरिक बनने के लिए हर प्रकार की कोशिश करते हैं। अमेरिका के उमेश अग्निहोत्री की कहानी 'भारत के वंशज' एक ऐसे ही भारतीय का चित्र खींचती है जो

अमेरिका की अदालत में अमेरिका का नागरिक बनने की शपथ लेता है। उसके मन में अभी भारत जीवित है और उसका नाम भरत कुमार है। भरत भारत के स्वतंत्रता-दिवस 15 अगस्त को भारतीय नागरिकता को छोड़कर अमेरिकी नागरिकता नहीं लेना चाहता, क्योंकि उसमें भारत जीवित है, परंतु उसका मित्र उसे व्यंग्य में कहता है, "बेकार का इमोशनलिज़्म! रहना यहाँ, खाना यहाँ, मरेंगे भी यहीं, लेकिन पासपोर्ट भारत का हाथ में लेकर लोगों को बताते फिरेंगे कि हमें देश से बेहद मोहब्बत है। क्या हितोक्रेसी है?" भरत कुमार अन्य लोगों के साथ शपथ लेता है, किंतु अंतिम वाक्य में वह देखता है कि वहाँ लिखा है कि जब कभी कानून द्वारा अपेक्षित होगा, वह अमेरिका की ओर से हथियार उठायेगा, तो वह उसे बिना पढ़े कमरे से बाहर चला जाता है। लेखक ने लिखा है कि दायें-बायें लोगों के चेहरों पर चमक थी, परंतु भरत कुमार बैठ गया और उसे लगा जैसे महाभारत के अर्जुन की तरह धनुष-बाण लिए खड़ा है और उसके भाई-बंधु उसके सामने खड़े हैं। इसमें हमें भरत में भारत का अहिंसा भाव दिखाई दे सकता है, लेकिन नागरिकता के लिए शपथ को अधूरी छोड़ने का दूसरा उदाहरण शायद प्रवासी भारतीयों में न मिले।

मैं अभी पति-पत्नी के संबंधों की कुछ और कहानियों की चर्चा करूँगा। पश्चिमी देशों में प्राय: पति-पत्नी दोनों ही शिक्षित होते हैं, दोनों ही नौकरियाँ करते हैं और यदि पत्नी काम नहीं करती तो पति ही घर की व्यवस्था करता है, जैसा कि भारत में होता है, किंतु अमेरिका आदि देशों में पति की नौकरी छूट जाये और दूसरी नौकरी मिलने में भी कठिनाई हो और तब पत्नी की आय से घर चले तो पति-पत्नी के संबंधों में परिवर्तन आता है। कनाडा के लेखक सुमन कुमार घई की कहानी 'सुबह साढ़े सात से पहले' का प्रतिपाद्य यह है कि परिवार में सत्ता उसकी चलेगी जो कमाता है, घर चलाता है। राजीव के बेकार होने पर उसकी पत्नी मीना उससे कहती है, "देखो राजीव! मेरी नौकरी इतनी अच्छी है और इतना तो कमा ही लेती हूँ कि तुम्हें कोई चिंता होनी ही नहीं चाहिए। आराम से घर रहो, आज के बाद तुम घरेलू पति और मैं कमाऊ पत्नी।"

अब पति-पत्नी के संबंधों का एक दूसरा दृश्य देखिए—इंग्लैंड के लेखक महेंद्र दवेसर 'दीपक' की कहानी है 'सोना लेने पी गए'। कहानी में पति जेल में है, पर वह अकेला कमाने वाला है तो सरकार पत्नी-बच्चों को गुजारा भत्ता देती है। ऐसी स्थिति में उसकी भारतीय पत्नी सरकार को बताये बिना चार कमरे किराये पर देती है और सरकारी भत्ता भी लेती रहती है। इस आय से वह एक किलो सोने के जेवर बनवा लेती है कि उसका पति छह महीने पहले ही जेल से छूट जाता है तो पत्नी शमीम इससे दु:खी है, क्योंकि सरकारी भत्ते की आय बंद हो जायेगी और उसे सोने के जेवरों का नुकसान होगा। भारत की पत्नी से आप ऐसी कल्पना भी नहीं कर सकते। इमर्जेंसी के समय जब मैं तिहाड़ जेल से बेल पर रिहा हुआ तो मेरे स्वागत में पत्नी तथा परिवार के अन्य सदस्य जेल के दरवाजे पर खड़े थे। इन देशों में अर्थ की सत्ता ने प्रवासी भारतीयों को भी पूरी तरह से जकड़ा हुआ है।

पति-पत्नी के तीन और चित्र आपके सामने रखना चाहता हूँ। सुदर्शन प्रियदर्शिनी की कहानी 'सेंध' में एक हिंदू प्रवासी युवक ऋषभ ईसाई टीना से विवाह करता है यह सोचकर कि उसकी संतान हिंदू ही होगी, परंतु टीना अपने पुत्र को ईसाई बना लेती है और ऋषभ कुछ नहीं कर पाता। सुधा ओम ढींगरा की कहानी 'आग में गर्मी कम क्यों है?' एक नये विषय को लेती है। पत्नी को पति के समलैंगिक होने का ज्ञान होता है तो परिवार का दृश्य बदल जाता है। पति आत्महत्या कर लेता है, लेकिन पत्नी आत्महत्या का कारण नहीं बता पाती। रेणु गुप्ता 'राजवंशी' की कहानी 'समाधान' कुछ आदर्शवादी कहानी है, लेकिन उसकी संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता। कहानी अमेरिका के भारतीय पति-पत्नी की है। नलिन और नियति में विवाद होने लगता है तो पत्नी इसका समाधान निकालती है। नियति को याद है कि वह भारतीय स्त्री है और पत्नी अमेरिकन पत्नी से भिन्न होती है। पति की कमाई और पत्नी की कमाई अलग-अलग नहीं रखी जाती, वह दोनों की समान रूप से होती है। वह विवाद को समाप्त करने के लिए अपना समाधान प्रस्तुत करती है, "हमने मिलकर कार्य किया है, आगे भी यही होगा। हमें इस धरती का विष नहीं पीना है। इस विषय में हम भारतीय दंपत्ति हैं, जहाँ मेरा सब कुछ तुम्हारा है और तुम्हारा सब कुछ मेरा।" इस उक्ति से दोनों में सुलह हो जाती है और कहानी खत्म हो जाती है।

अमेरिका की धन-संपन्नता, भौतिक समृद्धि के बारे में भारतीयों का यह विश्वास है कि वहाँ डालरों की बौछार होती है। वहाँ सबको सुविधाएँ उपलब्ध हैं तथा सरकार भी अपने निर्धन, बेकार नागरिकों का ध्यान रखती है। इसमें कुछ सच्चाई भी है, किंतु दो कहानियों की मैं चर्चा करूँगा जहाँ हमें अमेरिका के जीवन का दूसरा दृश्य दिखाई देता है। उषा राजे सक्सेना की कहानी 'वह रात' की नायिका अपनी चार संतानों के पालन-पोषण के लिए वेश्यावृत्ति करती है। सुधा ओम ढींगरा की कहानी 'सूरज क्यों निकलता है?' अमेरिका के दो अश्वेत भिखारियों की कहानी है। उनकी जेब से वेलफेयर में मिले भोजन के कूपन हैं जिन्हें वे बेचकर शराब की बोतल और सिगरेट का पैकेट खरीदना चाहते हैं। जेम्स और पीटर का जीवन, परिवार सब अस्त-व्यस्त है। वे अय्याश किस्म के नशेड़ी हैं तथा 'होम लेस नीड और हेल्प' की तख़्ती दिखाकर भीख भी माँगते हैं। इन्हें शराब तथा औरत सब कुछ चाहिए। वे कूपन बेचकर क्लब जाते हैं पूरी सजधज के साथ और खूब शराब पीते हैं और नशे में इतने मदहोश हो जाते हैं कि लौरा और सहारा दो वेश्याएँ उनकी जेब को खाली करके क्लब से निकल जाती हैं और क्लब का सिक्योरिटी गार्ड दोनों को घसीट कर क्लब के बाहर लिटा आता है। सवेरा होने पर सूरज की रोशनी जब इनके चेहरों पर पड़ती है तो ये कह उठते हैं— 'साला, यह सूरज क्यों निकलता है।'

अमेरिका, इंग्लैंड आदि देशों में मृत्यु, मृत्यु-बोध तथा अंतिम संस्कार पर वहाँ के सामाजिक दृष्टिकोण को समझना आवश्यक है, क्योंकि भारत और वहाँ की स्थिति

में ज़मीन- आकाश का अंतर है। मॉरीशस के अभिमन्यु अनत की कहानी है 'मातमपुर्सी'। वहाँ के कानून के अनुसार मृत शरीर को 24 घंटे घर पर रखना होता है। रात होती है तो शव एक कमरे में रख दिया जाता है और परिवार के लोग दूसरे स्थान पर सो जाते हैं, किंतु रतजगा करने के लिए जुआ खिलवाने वाली टीम आती है, ताश लाते हैं और वहाँ लोगों को जुआ खिलाते हैं। उन्हें किसी के मरने की सूचना रेडियो से मिलती है जिसे घर के लोग सुनने के लिए आतुर रहते हैं। यह है मातमपुर्सी जो वहाँ के भारतवंशी समाज में प्रचलित है।

अमेरिका से दो कहानियाँ हैं—एक 'अखबार वाला' जो सुदर्शन प्रियदर्शिनी की है। इस कहानी की नायिका जो नैरेटर भी है, भारतीय हैं। वह अपने पड़ोसी की मृत्यु पर संवेदना व्यक्त करने के लिए उद्विग्न है, जबकि वहाँ बिल्कुल शांति है और दरवाजे पर बस शव यान खड़ी है। दूसरी कहानी तजेंद्र शर्मा की 'कब्र का मुनाफा' और सुषम वेदी की 'कलश' कहानी है जिसमें अंतिम संस्कार की क्रिया एक व्यापार है। परिवार के लोग शव की जैसी साज-सज्जा करवाएँगे, उन्हें उसके अनुसार ही डालर देने होंगे। 'कब्र का मुनाफा' मुस्लिम पात्र पहले से ही अपने लिए कब्र का रिजर्वेशन कराते हैं और वह भी ऊँचे दर्जे के लोगों की कब्रगाह में। समय के साथ कब्र की कीमत बढ़ती है और यही कब्र का मुनाफा है। 'कफ़न' कहानी में हमारे घीसू-माधव कफ़न के पैसों से शराब पीते हैं, लेकिन पश्चिम में कब्र खरीदी जाती है और शव की खूब साज-सज्जा होती है। वहाँ जीये भी शान से और मरे भी शान से।

अंत में, प्रवासी साहित्य की इन प्रवृत्तियों से वहाँ के प्रवासी समाज का एक व्यापक संसार सामने आ रहा है और हम उसकी अपनी दुनिया से परिचित होते हैं। ये पात्र भी भारतीय हैं या भारतवंशी हैं, किंतु वहाँ की परिस्थितियों ने उनके जीवन को बदल दिया है और वे अपने भारतीय संस्कारों से चिपके रहने पर भी उससे दूर होते जा रहे हैं। उनके जीवन में पश्चिमी समाज का प्रभाव बढ़ता जा रहा है, लेकिन अभी कुछ लोग पूर्व-पश्चिम में द्वंद्व में जी रहे हैं और स्वयं को वहाँ के जीवन के साथ सामंजस्य करने का प्रयत्न कर रहे हैं। प्रवासी लेखकों की इन कहानियों से लगता है कि उनका समाज भारत से दूर होता जा रहा है और वे परिवर्तन गहरी प्रक्रिया से गुजर रहे हैं।

भारतीय समाज में भी परिवर्तन और संस्कारों की पकड़ इतनी गहरी है कि शिक्षित वर्ग में ही इस प्रकार का परिवर्तन हो रहा है। यहाँ भी परिवार एवं व्यक्तिगत संबंध टूट रहे हैं तथा पति-पत्नी में कटुता भी जन्म ले रही है, किंतु अभी ऐसी स्थिति नहीं है कि माँ और बेटी एक साथ डेटिंग के लिए तैयार होती हों और बेटे पिता की गर्लफ्रेंड से खुश होते हों। प्रवासी भारतीयों का समाज भारत की तुलना में बहुत बदल गया है और यह बदला रूप हमें एक नये बनते मानवीय समाज से साक्षात्कार कराता है।

प्रवासी कहानियों में व्यक्तिगत, सामाजिक, मानवीय एवं सांस्कृतिक प्रसंगों में जो टकराहट है वह व्यक्ति को बदलती है और वह अपनी जड़ों से कटकर विदेशी जीवन में घुल-मिलने के लिए विवश हैं। वहाँ धन और भौतिकता जीवन में छा चुकी है, लेकिन भारत में आम जनता आज भी इससे वंचित है। यह प्रवासी साहित्य भारतीय पाठकों को सावधान करता है कि भौतिकता, अतिशय धन-संपदा से मानवीय रिश्ते तथा मानवीय मान खंडित होता है और व्यक्ति अकेला पड़ता जाता है और वह भोगवादी होता जाता है। दिव्या माथुर की एक कहानी है 'नीली डायरी'। इसका नायक रमन है। उसने डायरी में 98 स्त्रियों से संबंध बनाने का विवरण लिखा है और वह अब उसे 100 तक ले जाना चाहता है। संयोग से कपूर परिवार उसके पड़ोस में आता है और उस परिवार की रीमा जो माँ है, ज़ारा जो बेटी है तथा स्नेहा जो बहू है, वह इन तीनों को अपने जाल में फँसाता है और तीनों ही उसके प्रति आसक्त होती है। इस प्रकार डायरी से 100 की संख्या पूरी हो जायेगी।

हिंदी का प्रवासी साहित्य, विशेष रूप से वहाँ की कहानियाँ, हमारे लिए एक प्रकार से पश्चिमी दुनिया ही है जो हमें यह सोचने को विवश करती है कि क्या भारत का समाज भी एक दिन ऐसा हो जायेगा? हम पर पश्चिम का, बाजारवाद का दबाव बढ़ रहा है, वहाँ की जीवन-शैली का संक्रमण भी हो रहा है, परंतु भारत की भारतीयता को समूल नष्ट करना संभव नहीं होगा। अपने हज़ारों वर्षों के इतिहास से मैं तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। कृपया बतायें, क्या आपका भी यही निष्कर्ष है?

❑❑

प्रवासी हिंदी कथा-साहित्य पर परिचर्चा

डॉ. सुधा ओम ढींगरा

विदेशों में रचे कथा-साहित्य में परिवर्तन की जीवंतता, स्फूर्ति, ताज़गी और भाषा के नए प्रयोग हैं। स्वच्छंद वातावरण में अस्तित्व, व्यक्तित्व और अस्मिता की खोज है। भारत से इतर देशों में लिखी गई कहानियों की पड़ताल, प्रवृत्तियाँ, दशा और दिशा की खोज, अनसुलझे मुद्दों पर चर्चा और वैश्विक कहानियों के मूल स्वर को पकड़ने के लिए डॉ. सुधा ओम ढींगरा ने एक परिचर्चा का आयोजन किया, जिसमें अमेरिका से सुदर्शन प्रियदर्शिनी, अनिल प्रभा कुमार, कैनेडा से सुमन कुमार घई, ब्रिटेन से उषा राजे सक्सेना, कादंबरी मेहरा, नॉर्वे से सुरेशचंद्र शुक्ल 'शरद आलोक' और अबुधाबी से कृष्ण बिहारी ने हिस्सा लिया। यहाँ क्रमशः एक प्रश्न पर सभी प्रतिभागी उत्तर देंगे ताकि पाठक को उनके विचार समझने में आसानी हो।,

प्रश्न 1. देशांतर में लिखे जा रहे कथा-साहित्य ने नई सदी में ज़ोर-शोर से अपनी उपस्थिति दर्ज करवाई है। स्वदेश में कहानी नए परिदृश्य लेकर पाठकों के सम्मुख उपस्थित हुई है। यूँ कहा जाए कि कहानी क्षेत्र में एक तरह से क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है। भारत से इतर देशों में लिखी जा रही कहानियाँ उनके कितनी समानांतर हैं?

उषा राजे सक्सेना : 21वीं सदी के हिंदी कथा साहित्य ने देश और काल की सीमा का अतिक्रमण कर निश्चय ही नए परिदृश्य दिए हैं जिससे कहानी लेखन में एक नए प्रकार का क्रांतिकारी परिवर्तन आया है। विदेशों में ही नहीं, देश में भी लिखे जा रहे हिंदी कथा साहित्य में भूमंडलीकरण के दौरान विस्तार और संक्रमण की संभावनाएँ पहले से कहीं अधिक बढ़ी हैं। दोनों में शैलीगत तथा विषयगत समानताएँ और विभिन्नताएँ भी मुखरित हुई हैं। हिंदी पट्टी के क्षितिज पर वैश्विक हिंदी साहित्य का सितारा चमका है।

साहित्य सदैव से मनुष्य और मनुष्य की सामाजिकता के संघर्षों के इतिहास को नए-नए रूपों और प्रारूपों में अभिव्यक्त करता आया है। आज की हिंदी कहानी के क्षेत्र में प्रौद्योगिकी से संपन्न औद्योगिक समाज में जो क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं, उससे कहानी का पारंपरिक ढाँचा टूटा है। कहानी लेखन में नए-नए प्रयोग हुए है। आज की अधिकांश कहानियाँ विमर्श प्रधान हैं, जिसमें इमिग्रैंट्स (राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय) के यथार्थ-जीवन का चित्रण विवरण के साथ प्रस्तुत होता है। वस्तुत: वर्तमान में हिंदी कहानी विधा को परिभाषाओं के ढाँचे में नहीं बाँधा जा सकता है। आज के हिंदी साहित्य जगत में अनेक ऐसे लेखक हैं जो साहित्यिक लेखन को मात्र निजी व्यवहार मानते हैं। वे रचना अपने मानसिक दबावों, अंतर्द्वंद्वों, अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए करते हैं। अत: यह कहना अनुचित न होगा कि देश-विदेश में जो नए विषयों पर कहानियाँ लिखी जा रही हैं, वे संकीर्णता से मुक्त स्वानुभव की संवदेनशील कहानियाँ होने के साथ वैचारिक भी हैं। इन कहानियों में बौद्धिकता के सम्यक् संतुलन के साथ निजता भी है। साथ ही कथ्य, शैली और शिल्प भारत के पारंपरिक लेखन से काफ़ी कुछ हट कर है। इनमें मुक्त समाज में रहने के कारण नज़रिए का अंतर भी अपनी पूरी सच्चाइयों, विद्रूपताओं और विषमताओं के साथ चित्रित हुआ है।

भारत के रचनाकार किसी न किसी अर्थ में कोई न कोई पक्ष लेते रहे हैं जो 'वाद' के नाम से जाने जाते रहे हैं। आज भारत में लिखी जा रही कहानियों के कथा-तत्व में दलित-विमर्श, स्त्री-विमर्श और राजनीतिक भ्रष्टाचार प्रमुख है। जातिगत भेद-भाव भारतीय समाज का स्थायी भाव है। बँटवारे की राजनीति हर क्षेत्र में कुंडली जमाए बैठी है। कथा-साहित्य में बार-बार उसकी पुनरावृत्ति होती है। लेखक बिना किसी वरदहस्त के अपने आपको सक्षम भी नहीं पाता है। अत: वह किसी न किसी 'गॉड फ़ादर' के साथ जुड़ जाता है।

कृष्ण बिहारी : विदेश में हिंदी लेखन हो रहा है। मैंने जबसे होश सँभाला उस समय से पढ़ता आ रहा हूँ। अमेरिका, ब्रिटेन, मॉरीशस, कनाडा, नार्वे आदि जगहों में रहते हुए लोग लिख रहे हैं। इस लेखन की पहचान भी है। कई नाम हैं जो बहुत प्रतिष्ठित हैं। लेकिन यह कोई मानदंड नहीं होना चाहिए कि यदि कोई विदेश में रहकर लिख रहा है तो वह बहुत अच्छा लिख रहा है या कि कचरा लिख रहा है। विदेश में रहते हुए लिखना कोई प्रमाणपत्र नहीं है।

सुदर्शन प्रियदर्शिनी : देशांतर में लिखा साहित्य अब अपनी उपस्थिति दर्ज करवाने लगा है। हमें आवागमन, संचार और इंटरनेट का आभार मानना चाहिए कि परदेश में बेनाम जीते हुए कई दशक बीत गए, अब जाकर भारत से इतर लिखे साहित्य को कम से कम सौतेला ही सही (प्रवासी साहित्य) कह कर आँका जाने लगा है। यों भी नई सदी के लेखन में देश-विदेश दोनों में क्रांतिकारी परिवर्तन आए हैं, जो शिल्प या कथ्य तक ही सीमित न रह कर अपनी सार्वभौम अभिव्यक्ति से अभिव्यंजित हो रहे हैं। प्रवासी साहित्य में सच्ची-सँजोई हुई मानवीय संवेदनाएँ, अपनों से बिछड़ने की टीस बड़ी संजीदगी से प्रस्तुत हुई है जो इस साहित्य को एक स्वस्थ हवा का झोंका

प्रदान करती है। जहाँ आज भारत में संबंधों को काई लग गई है, वहीं यहाँ के लोग अपनी पुरानी संवेदित सार्थकताओं को जीवंत रखे हुए हैं, जो उनके कहानी लेखन को एक सहजता एवं सौष्ठव प्रदान करती है।

अनिल प्रभा कुमार : देखिए, यह भूमंडलीकरण का युग है। अब हम अलग-अलग कोष्ठकों में बँटे हुए तो रह नहीं गए, इसीलिए विश्व के किसी भी कोने में जो होता है, उसका प्रभाव तो सारी दुनिया पर पड़ता है। उत्सुकता, जिज्ञासा भी रहती है हथेली पर रखने आमले की तरह सब कुछ जान लेने की। अगर हम कहते हैं कि कहानी के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है तो इस परिवर्तन के पीछे कई कारण रहे हैं। राजनीतिक, सामाजिक, बौद्धिक, वैयक्तिक और सबसे बढ़कर वैश्विक स्तर पर एक दूसरे को देखते हुए चिंतन और संवेदना की नई मनोभूमियों से परिचित होना। भारत से इतर देशों में लिखी गई कहानियाँ भी इनसे अछूती कैसे रह सकती हैं ? विदेशों में लिखी गई कहानियों की जन्म-भूमि अलग ज़रूर है पर पूरी तरह विदेशी भी नहीं कह सकते। उसकी मिट्टी में खाद भारत की ही मिली हुई है। तभी तो वह हिंदी कहानियाँ हैं, नहीं तो कुछ और भी हो सकती थीं। विदेश की जलवायु भारतीय मूल्यों और संस्कृति से बिल्कुल भिन्न है। लेखक के मानस को इसका आदी होने से समझने में समय लगता है। संवेदना का बीज तो लेखक अपने मूल से ही लेकर चलता है, क्योंकि वही उसकी धरोहर है जिसे लेकर वह नई ज़मीन पर नई संवेदनाओं के साथ अपनी पुरानी संवेदना का तालमेल बिठाने के लिए मानसिक तौर पर जूझता है। विदेश की जलवायु में वह अपने अस्तित्व को बचाने के लिए आरंभ में संघर्ष करता है। फिर समय बीतने के साथ वह धीरे-धीरे नए वातावरण में इस सांस्कृतिक झटके से उबरता है। एक मुक्त और स्वच्छंद वातावरण में उसका चिंतन अपनी पुरानी कुंडली उतार देता है। नया वातावरण, नई परिस्थितियाँ उसे एक नई सोच देती हैं। वह तटस्थता के साथ बहुत कुछ सोच और महसूस कर सकता है जो पारंपरिक वातावरण में शायद नहीं कर पाता। ये सारे तत्व उसके लेखन में एक नया दृष्टिकोण, एक नई भाव-भूमि प्रस्तुत करते हैं। विदेश में रह रहे लेखक अपने मूल देश के लेखन के संपर्क में रहते हुए उतनी ही गति से आगे बढ़ रहे हैं जितने भारत के। दोनों की पटरियाँ अवश्य अलग-अलग हैं, पर गंतव्य एक ही है।

सुरेशचंद्र शुक्ल 'शरद आलोक' : विदेशों में लिखा जा रहा कथा-साहित्य हमेशा से भारतीय साहित्य से प्रेरित रहा है लेकिन साथ ही साथ विदेशी साहित्य का असर भी प्रतिबिंबित करता है। भारत और विदेशों में होने वाले सामाजिक परिवर्तन बहुत ही स्पष्ट रूप से विदेशी साहित्य के द्वारा पाठकों के सामने लाए जा रहे हैं।

कादंबरी मेहरा : जब आप 'समानांतर' शब्द का प्रयोग करते हैं तो दो परस्पर प्रतिद्वंद्वी विधाओं के रेस लगाने का आभास होता है। ऐसा क्यों ? मेरे दृष्टिकोण में भारत से बाहर लिखा जाने वाला साहित्य भारतीय साहित्य का ही संवर्धन है। विदेशों में

बसे यह लेखक किसी अन्य देश या जाति के नहीं हैं। वह मूल रूप से भारतीय हैं। भारतीय शिक्षा प्राप्त, उसी की संस्कृति के साँचे में ढले, उन्हीं मान्यताओं के कायल हैं। आर्थिक प्रगति की तलाश में जो लोग पचास और साठ के दशक में विदेशों में जा बसे, वे बौद्धिक रूप से अधिक सचेत व कर्मठ बन गए। सत्तर का दशक आते-आते जब उन्होंने विवाह आदि किए तब जो नारी-वर्ग चयनित किया गया वह कदाचित् उनसे अधिक शिक्षित व प्रबुद्ध था। इस समूह ने ज़िम्मेदारी से विभिन्न सामाजिक व भौतिक जटिल परिस्थितियों का मुकाबला किया और तिस पर भी अपनी भारतीयता को न केवल बचाकर रखा, वरन् उसे निखारा। आज यही समूह लेखन में सन्नद्ध है। इनका मनोबल, सामान्य ज्ञान व संवेदनशीलता स्वदेश के स्थानबद्ध सरल जीवन के आदी लेखकों से अधिक है। इनके लेखन में जो अंगीकृत नई संस्कृतियों का प्रभाव है, वह भारत के लिए वरदान है।

भारत के लेखक व लेखिकाएँ सामान्य तौर पर गृहकार्य या आजीविका के लिए दूसरों पर निर्भर हैं। वह चाहे दिन की चार कहानियाँ खींच लें या वर्ष के तीन उपन्यास लिख मारें। यहाँ विदेश के स्वावलंबी दैनिक जीवन की गतिविधियों से अवकाश निकाल कर साहित्य-सृजन करना एक तपस्या है।

सुमन कुमार घई : जिस क्रांति की बात की जा रही है, मेरा मानना है कि उस क्रांति का उद्भव इंटरनेट से जुड़ा हुआ है। इंटरनेट के आरंभिक दिनों में विदेशों में रहने वाले साहित्य-प्रेमियों को लिखने-पढ़ने के लिए एक ऐसा माध्यम मिला, जिसके कारण वह भारत में प्रकाशित होने वाले साहित्य या प्रकाशकों की पसंद और नापसंद पर निर्भर नहीं रहे। दूसरा, अप्रवासी लेखकों के पास साधनों की सुलभता के कारण कुछ साहित्यिक जालघर देखने को आए, जैसे कि बोलोजी.कॉम, जो अब हिंदी नेस्ट.कॉम है, अनुभूति-अभिव्यक्ति, भारत-दर्शन और साहित्य कुंज इत्यादि। नए जालघरों के संपादक/प्रकाशक स्वयं अप्रवासी लेखक थे, इनकी सोच अलग थी और विदेशों में बसे लेखकों को अपनी अभिव्यक्ति का नया माध्यम मिला। इंटरनेट का दूसरा लाभ विचारों का आदान-प्रदान था। जिसका प्रभाव विदेशों के लेखन पर पड़ा। उन दिनों विदेशों में लिखी गई कहानियाँ अधिकतर भारतीय पृष्ठभूमि पर आधारित होती थीं। जहाँ तक भारतीय लेखन के समानांतर होने की बात है, तो मैं इसे कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ। क्योंकि हमारी समस्याएँ, हमारी उपलब्धियाँ और अनुभव भारतीय लेखकों से अलग हैं। इसलिए हमारी कहानियों में इनका प्रतिबिंब झलकता है। मेरा मानना है कि विदेशों में लिखा जा रहा साहित्य उसी तरह अपनी स्वतंत्र दिशा की ओर बढ़ रहा है जैसे कि अंग्रेज़ी का साहित्य विभिन्न देशों में अपनी अलग पहचान रखता है।

प्रश्न 2. भारत से इतर देशों में लिखी जा रही कहानियों की प्रवृत्तियों से आप कितने आशावान हैं ?

उषा राजे सक्सेना : विदेशों में लिखी जा रही हिंदी कहानियाँ, जो हर तरह के 'वाद' से मुक्त हैं, हिंदी पट्टी के आम पाठकों तक पहुँच रही हैं और वे उन्हें पसंद कर रहे हैं। क्योंकि उन्हें उनमें बहुत कुछ नया मिल रहा है,जो भारत के अधिकांश हिंदी लेखक उन्हें नहीं दे पा रहे हैं। भारत में लिखी जा रही कहानियों में सैद्धांतिकी है, कलात्मकता है,गहन विमर्श है,वे उच्चकोटि की हैं, परंतु पाठक उसमें वही यथार्थ पाता है, जिसमें वह जीता है। वही शब्दावली, वही मुहावरे, जिसे वह प्रयोग में लाता है। संभवत: उसे उन कहानियों में एकरसता का आभास होता है, नवीनता का नहीं। भारत का मध्यवर्ग एक ऐसा समाज है, जो आदर्शों में भटकता हुआ जीता है। देश में अर्से से लगभग इन्हीं विषयों पर कहानियाँ लिखी जा रही हैं। इधर विदेशों का समाज 'मुक्त समाज' (Permissive) है। संभवत: परंपरावादी और आदर्शवादी समाज उसे मर्यादाहीन होने की संज्ञा दे भी सकते हैं, परंतु पश्चिमी समाज का यथार्थ ऐसा ही है। कहानियाँ हवा में तो लिखी नहीं जाती हैं। देश और देशांतर दोनों के रचनाकार अपने देश की वास्तविकता अपनी रचना शीलता में ला रहे हैं। विदेशों के मुक्त समाज की समस्याएँ भारत के पारंपरिक समाज की समस्याओं से बिल्कुल भिन्न हैं । अत: विदेशी हिंदी कथाकार की कहानियों की कथावस्तु और उसके निर्वाह की शैली में हिंदी पट्टी के पाठक को नवीनता मिलती है। साथ ही उसकी शब्दावली, रूपक, वाक्य-विन्यास और मुहावरों आदि में भी एक दूसरे ही तरह का नयापन मिलता है जो आकर्षित करता है। देशांतर के उभरते लेखकों के लेखन को भारत के विद्वान भले ही उसे बिना पढ़े 'अधकचरा और हिंदुत्ववादी' कह लें, पर आम पाठक देशांतर के सृजन को इसलिए पसंद कर रहा है क्योंकि देशांतर की कहानियाँ नई ज़मीन तोड़ती हैं। जब देशांतर का रचनाकार अपने पीछे छोड़े हुए देश के बारे में लिखता है तो वह उसे एक भिन्न नज़रिए से देखता है,जो पश्चिमी परिवेश के संक्रमण से विकसित हुआ होता है। हिंदी पट्टी का पाठक ऐसी रचनाओं को पढ़ कर अचकचाता ज़रूर है पर वह रुक कर सोचता भी है। इस तरह वह देश और परदेश दोनों को ही इस नई दृष्टि से देखने का प्रयास करता है। इस तरह उसका पूर्वग्रह भी टूटता है। वह वैचारिक संकीर्णता से बाहर निकलता है इसके साथ यह भी कहना चाहूँगी कि आर्थिक उदारीकरण के कारण देश के महानगरों में जो मॉल कल्चर और आधुनिकता आई है, वह विदेशों में लिखी जा रही कहानियों के बहुत करीब ठहरती है। इक्कीसवीं सदी के पिछले बारह वर्षों में भारतीय समाज बहुत बदला है। उदारीकरण के बाद भारतीय सरकार ने जो निजीकरण को बढ़ावा दिया है, उससे भारत के शहरों का गणित तेज़ी से आगे बढ़ा है जिससे भारत के लेखकों का पारंपरिक लेखन प्रभावित हुआ है। 2004 में रवींद्र कालिया के संपादन में 'वागर्थ' और बाद में 'नया ज्ञानोदय' ने एक बिल्कुल नए प्रकार की कहानियाँ हिंदी

साहित्य को दीं। आज अगर बिना नाम दिए देश और देशांतर की कहानियाँ किसी आलोचक को दी जाएँ तो वह यह नहीं बता पाएगा कि ये कहानियाँ विदेशी हिंदी साहित्यकार की हैं या भारत के किसी युवा लेखक की हैं, जो महानगर में रहता है। इसी संदर्भ में मुझे मनीषा कुलश्रेष्ठ, स्नोवा बार्नो, कुणाल सिंह, गीत चतुर्वेदी आदि की कुछ कहानियाँ याद आ रही हैं जिनके शीर्षक यदि बदल दिए जाएँ और लेखक का नाम हटा दिया जाए तो थोड़े फेर-बदल के बाद वे देशांतर के लेखकों की कलम से निकली कहानियाँ लगने लगेंगी ।

कृष्ण बिहारी : साहित्यकार आशावान ही होता है। निराशा के बीच भी उसे आशा ही दिखती है। एक बेहतर भविष्य ही उसकी रचना का उद्देश्य होता है। यूँ तो आशाएँ तोड़ने के लिए समाज के अन्य घटक रात-दिन एक किए हुए हैं।

सुदर्शन प्रियदर्शिनी : विदेशों में लिखे साहित्य की प्रवृत्तियाँ गढ़ी-गढ़ाई या साहित्य कोश में निर्धारित प्रवृत्तियों से मेल नहीं खातीं। यहाँ नई सभ्यता में पनपने से मूल्यों का मोहभंग है। नए परिवेश में अपने-आप को ढालने की कशमकश है। जब आप परिवेश बदलते हैं तो टूट-फूट तो होती ही है। ऊपर से यहाँ की समस्याएँ आर्थिक कम मानसिक अधिक हैं। मेरे विचार से इस मोहभंग की अपनी दिशाएँ हैं जो भारत की प्रवृत्तियों से भिन्न हैं। साहित्य के क्षेत्र में यह नया आयाम है, नई दिशा है, घिसी-पिटी समस्याएँ नहीं हैं। इसलिए इन कहानियों के नए तेवर हैं, नए पहलू हैं और नई चुनौतियाँ हैं जो साहित्य को बहुमुखी और दृढ़ बनाने में सहायक होंगी।

अनिल प्रभा कुमार : विदेशों में लिखी जा रही कहानियों की प्रवृत्तियों से मैं आशावान ही नहीं बल्कि उत्साहित भी हूँ। रोज़ नई ज़मीन तोड़ी जा रही है। नए-नए विषयों और संवेदनाओं से परिचय कराया जा रहा है। अचरज होता है कि कहाँ इतने ख़ज़ाने छिपे पड़े थे। विदेशों में लिखने वालों की पीढ़ी अभी अपेक्षया नई-नई ही उभरी है। उत्साह बुलंदी पर है। वहाँ लेखक अन्वषेक हैं। नए विषय, नई संवदेनाओं और भावभूमियों को अपनी कहानियों में रचकर वे साहित्य को भेंट कर रहे हैं। अवचेतन में उन्हें यह भी मालूम है कि उनकी तुलना भारत में लिख रहे समसामयिक महारथियों से भी होगी। शिल्प और विचार भी उतने ही मँजे हुए होने चाहिए जितनी भाव-वस्तु। विदेशों में रहकर लिख रहे लेखकों के लिए एक अदृश्य दबाव भी रहता है अपने मूल देश के पाठकों, संपादकों, आलोचकों से स्वीकृति पाने का। इसलिए विदेशों में रहकर लिखी जाने वाली कहानियों में अपना सर्वश्रेष्ठ प्रस्तुत करने की आतुरता दिखाई देती है। यह एक बहुत आशावादी और सकारात्मक लक्षण है।

सुरेशचंद्र शुक्ल 'शरद आलोक': मैं बहुत आशावान हूँ क्योंकि आज साहित्य इंटरनेट की वज़ह से ज्यादा लोगों तक पहुँच रहा है। यहाँ के परिवेश और सामाजिक बदलाव, दो संस्कृतियों की टकराहट, दो या अधिक राजनैतिक विचारों की टकराहट और संघर्ष और धर्म के नवीनीकरण का प्रयास करती हैं कहानियाँ। इन सभी प्रवृत्तियों के कारण और इंटरनेट जैसे माध्यम के कारण मैं बहुत ही आशावान हूँ।

कादंबरी मेहरा : जो कथा-साहित्य सामने आया है उसकी अपील भारत और विदेश दोनों के लिए समान है। भाषा-शैली में कहीं कोई भिन्नता नहीं है। अलबत्ता विदेशों में नए प्रयोग किये जा रहे हैं जो निश्चय ही हिंदी साहित्य को संपन्न बना रहे हैं। विदेशों में लिखी गई कहानियाँ अपने निजी परिवेश से उठाई गईं हैं। इनकी संवदेनशीलता वैश्विक स्तर पर आंदोलित करती हैं। कोई रिश्ता न होते हुए भी मानवता का आदान-प्रदान, संबंधों का विघटन या जुड़ाव आदि सामान्य जीवन-वृत्तियाँ यहाँ भी उगती-पनपती हैं और इन्हें कथा-साहित्य ही पूरी ईमानदारी से भारत के पाठकों तक पहुँचा सकता है।

इन कहानियों में जहाँ एक ओर विदेशी परिवेश की झलक है, वहीं भारतीय मूल्यों की गरिमा भी। अनिल प्रभा कुमार की कहानी 'सफ़ेद चादर' में कैसे एक हिरण का दुर्घटना में मर जाना एक भाई की मृत्यु की कचोट को छीलता है या फिर एक अनजान 'अखबार वाला' कितने संस्कारों के तार झिंझोड़ देता है (सुदर्शन प्रियदर्शिनी : अखबार वाला) यह केवल भारतीय मन ही समझ सकता है। परंतु क्या भारत में भी, आम जीवन में, ऐसी संवेदना परिलक्षित होती है? चौराहे पर पड़ी किसी युवक की सरफटी लाश और उसको बचा के अंधाधुंध भागता, चलता ऑटोमेटिक भारत ? प्रतिदिन सामूहिक बलात्कार से तड़पती बच्चियाँ ? बेइज़्ज़त भिखमंगे पदाधिकारी। कार्यालयों की अकर्मण्यता। कूड़े के ढेर। सशक्त लेखन की ज़रूरत है। विदेशी साहित्य में जो मानसिक व भौतिक सफ़ाई उपलब्ध है वह भारत के लिए ताज़ा हवा है। यह हमें अक्सर याद दिलाता है कि नए मूल्यों के समक्ष पुरानी परंपराएँ कितनी झूठी पड़ जाती हैं। जब उनकी प्रासंगिकता अवरोहित हो जाती है। (गौतम सचदेव: जीरे वाला गुड़) कहना न होगा कि भारत आत्मसुधार में बहुत मंद है और यह विदेशी कहानियाँ उसे गति प्रदान करती है।

सुमन कुमार घई : विदेशी कहानियाँ दिन-प्रतिदिन वयस्क होती जा रही हैं। कला-पक्ष भी निखर रहा है तो कहानी की तकनीक और उसमें प्रयोगवाद भी देखने को मिल रहा है। अप्रवासी लेखक के मन में भारत में प्रकाशन का जो एक प्रलोभन था, वह कम होता जा रहा है। वापिस लौट कर फिर इंटरनेट की बात कर रहा हूँ। तकनीकी रूप से हिंदी की यूनिकोड फॉण्ट के प्रचलित होने के बाद हिंदी के ब्लॉग तो बाढ़ की तरह बढ़े हैं। यह बात सही है कि उनमें से कुछ गिने-चुने ही स्तरीय साहित्यिक कहे जा सकते हैं। वर्तनी की अशुद्धियाँ भी खटकती हैं। परंतु मुझे इसमें एक आशा की किरण नहीं बल्कि एक सूर्य उगता दिखाई दे रहा है कि लोग कम से कम लिख तो रहे हैं।

प्रश्न 3. वे कौन से अवरोध हैं कि विदेशों में लिखी जा रही कहानियाँ स्वदेश की हिंदी पट्टी में वह स्थान नहीं ले पा रहीं, जिसकी वे हकदार हैं? क्या कथ्य, शैली, शिल्प की भिन्नता है या आलोचकों की बेरुखी?

उषा राजे सक्सेना : अनगिनत अवरोध हैं। आलोचकों की बेरुखी और हिंदी के पंडितों का सामंतवादी अहंकार इसका सबसे बड़ा कारण है। यहाँ मैं आलोचक-कथाकार डॉ. रोहिणी अग्रवाल के शब्दों को कोट कर उपरोक्त का उत्तर देना चाहूँगी। रोहिणी जी कहानी संग्रह 'वह रात और अन्य कहानियाँ' की प्रस्तावना में पृ.2 पर लिखती हैं, "प्रवासी साहित्य को लेकर हिंदी का आलोचना-जगत ज़्यादा उत्साही और तटस्थ नहीं है। एक तरह का शुद्धतावादी दृष्टिकोण अपनाते हुए वह भारत की भौगोलिक सीमा में रचित हिंदी साहित्य को अपना मानता है, क्योंकि यहीं भारत (हिंदी पट्टी) का यथार्थ अपनी तमाम विडंबनापरक विद्रूप सच्चाइयों, सीमाओं और संभावनाओं के साथ उपस्थित होता है। इसी यथार्थ में स्वयं उसके होने और बेहतर भविष्य गढ़ने की आकांक्षाएँ निहित हैं और इसी में जड़ें, अस्मिता, भविष्य भी। वह उसका आत्मविस्तार भी है और सृजन भी। प्रवासी साहित्य उसकी इस गदगद विह्वता में कहीं बाधा बनता है।" भारत का हिंदी साहित्य खेमों में बँटा है। साहित्यिक महंत अलगाव और वर्गीकरण से अपनी गद्दी मजबूत किए रहते हैं।

यद्यपि इधर विदेशों में लिखी जा रही हिंदी कहानी पर पाठकों, संपादकों और प्रकाशकों की नज़र पड़ी है। कथ्य, शैली और शिल्प की भिन्नता और नवीनता ने ही पाठकों और संपादकों को विदेशों में लिखे जा रहे साहित्य की ओर खींचा है। अभी हाल ही में जब यू.जी. सी. की दृष्टि विदेशों में लिखे जा रहे हिंदी साहित्य पर पड़ी तो उसने बड़ी उदारता से शोध और सेमिनार के लिए लाखों रुपयों का अनुदान देना आरंभ कर दिया। प्रादेशिक सरकारों के अनुदानों से पत्र-पत्रिकाएँ प्रवासी अंक और विशेषांक आदि प्रकाशित करने लगीं तथा अकादमियाँ संकलनें प्रकाशित करने लगीं। आज देशांतर का साहित्य दुधारू गाय है। विश्वविद्यालयों में यू.जी.सी. के पैसों से 'प्रवासी साहित्य सम्मेलन' हो जाता है। बिना पढ़े ही लोग देशांतर के साहित्य पर व्याख्यान दे जाते हैं। यू. जी.सी. के अनुदान का रचनात्मक उपयोग बहुत कम और दुरुपयोग अधिक हो रहा है।

कृष्ण बिहारी : आज आलोचना बची ही कहाँ है? समालोचना तो पूरी तरह गायब है। आज सब कुछ प्रायोजित और सेल्फ मार्केटिंग से जुड़ गया है। एक नया तंत्र पैदा हुआ है जिसे जुगाड़-तंत्र के नाम से जाना जाने लगा है। इसके बावजूद अच्छे लेखन को पहचान मिल रही है। प्रायोजित लेखन की उम्र बहुत नहीं होती।

सुदर्शन प्रियदर्शिनी : प्रवासी साहित्य को दोयम दर्जे का कह कर अगर भारतीय समालोचकों के अहम् की तुष्टि होती है और उसे अपने समानांतर न रखने का अहम् वह पाले रखना चाहते हैं तो यह उनकी व्यक्तिगत समस्या है। मेरे विचार से प्रवासी साहित्य न शिल्प से, न कथ्य से या किसी अन्य साहित्यिक मानदंड से दोयम दर्जे पर आता है। हम चाहते हैं कि हमारे साथ कोई रियायत न बरती जाए और हमें मान्य साहित्यिक मानदंडों पर ही परखा जाए। आज तक जो हाशिए पर डाल कर हमें

नज़रंदाज किया गया है, उस पर अब अवश्य विचार किया जायगा क्योंकि हाशिए पर डाली हुई सामग्री अंततः सारे संवाद का निचोड़ होती है। उस निचोड़ में मानवीय मूल्य उभर कर आए हैं और उनसे आँख मूँद कर कब तक कोई रह पाएगा?

अनिल प्रभा कुमार : अवरोधों की कहानी तो शाश्वत है, सदैव रही है और आगे भी रहेगी। विदेशों में लिखी जा रही कहानियों का परिचय अभी अपेक्षाकृत नया ही है। दूसरे, इस बाहर रचे गए साहित्य की मात्रा इतनी कम है कि उसे अपनी पहचान बनाने में समय का लगना स्वाभाविक है। जब समुद्र लाँघ आने भर से संबंधों में भी 'आँख से दूर दिल से दूर' वाली भावना आ जाती है तो वही भाव स्वदेश के लेखकों या आलोचकों में भी आ जाए तो कोई हैरानी की बात नहीं। मैं आशावादी हूँ। निस्संदेह स्वदेश में लिखने वालों की मुख्यधारा बड़ी प्रबल और प्रगाढ़ है। उसमें यदि हमें स्थान पाना है तो हमारी कहानियों में इतना दम होना चाहिए कि वह अपने बूते पर हिंदी पाठकों से मान्यता ग्रहण करने की क्षमता रखें।

हिंदी कहानियों का मुख्य पाठक वर्ग तो भारत में ही है। अपनी ज़मीन से जुड़ी समस्याएँ, उसके सरोकार, उनके अपने बौद्धिक और मानसिक मुद्दों से उनका लगाव होना स्वाभाविक है। विदेश में लिखी गई कहानियों के विषय उन्हें प्रभावित तो करते हैं, उन कहानियों को वह सराहते भी हैं पर तब तक वह उन्हें अपना नहीं पाते, जब तक उन कहानियों में एक सार्वभौमिक तत्व न हो। और वह संवेदना, जो देश-काल की सीमा से परे होती है। केवल विषयों की नवीनता या शिल्प का अनूठापन लिए कहानियाँ, जो अंतर्मन में गहरे धँस कर सोचने को विचलित न करें, केवल एक मानसिक विलासिता के रूप में ही स्वीकार हो पाती हैं। उनमें स्थायीपन नहीं होता। चाहे वह कहानियाँ देश में लिखी गई हों या विदेश में।

आलोचकों की बात को इतनी गंभीरता से नहीं लिया जा सकता। पहली बात, आलोचक हिंदी में हैं ही कितने? वे भी हम लेखकों की तरह ही हैं। उनकी भी अपनी धारणाएँ और विचार हो सकते हैं। आजकल कुछ आलोचक उभर रहे हैं जो प्रवासी लेखन के बारे में लिखते हैं। वहाँ भी किसी कारणवश उनकी दृष्टि कुछ गिने-चुने लेखकों से आगे नहीं जा पाती। मेरे विचार से साहित्यकार को इन सरोकारों से मुक्त होकर अपने लेखन-धर्म को ही पूरी ईमानदारी से निभाने का प्रयत्न करना चाहिए। मुख्यधारा में विदेश में लिखी गई कहानियों को स्थान न मिलने को मैं ज़्यादा गंभीरता से नहीं लेती। मैं आशावादी हूँ। पहचान ज़रूर मिलेगी पर सही समय आने पर। हमें अधीर होने के बजाए अपने लेखन पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। रचनाएँ अपने आप अपनी उपस्थिति दर्ज करवा लेंगी।

सुरेशचंद्र शुक्ल 'शरद आलोक' : मेरी दृष्टि में विदेशी साहित्य को स्वदेश में पात्रानुसार संवर्धन मिलता है जो कि बहुत अच्छी बात है।

कादंबरी मेहरा : न कहानियों के शिल्प में फर्क है न शैली में। न ही भाषा के प्रयोग में कोई अवरोध है। पाठक-वर्ग ने विदेश में लिखी जा रही कहानियों को हाथों-हाथ लिया है। मगर हिंदी में नित्य बनते जा रहे कोष्ठकों के कारण जो अलगाव पैदा हो रहा है, उसे मिटाना अति आवश्यक है। मुख्यधारा के लेखकों का हमें प्रवासी कहकर खारिज कर देना उनके आत्मविश्वास की कमी को दर्शाता है। इसमें कोई शुबहा नहीं है कि पिछले दो दशकों ने भारत को बिल्कुल नए कथानक प्रदान किये हैं। भारत की दशा पर नए तरीके के सुधारवादी प्रयोग आज़माए गए हैं। देश-देशांतर के वर्णन, सामाजिक-दृष्टिकोण व रिश्तों के गठन पेश किए गए हैं। और सबसे ज़्यादा इस बात पर ज़ोर दिया है कि आम लोग, चाहे जिस जाति या देश के हों, मानवता में भिन्न नहीं होते। ज़रूरत है कि विदेशों में बसे लेखकों को और अधिक स्पेस दिया जाए। हमारे आलोचक जो भारत में ही बैठे हैं, अपना गृहकार्य पूरी लगन व ईमानदारी से करें तो देश-विदेश दोनों का भला होगा। आलोचनाएँ किसी एक लेखक के भारत-भ्रमण पर सुनी-सुनाई इनफार्मेशन के आधार पर यदि परोसी जाएँगी तो वह तीसरे दर्जे की या बिल्कुल फालतू होंगी। कहानियों की आलोचना करने व श्रेष्ठ कहानियाँ चुनने के लिए एक आलोचक-मंडल होना चाहिए, न कि व्यक्तिगत एकसूत्री आलोचना।

सुमन कुमार घई : आपका यह प्रश्न मेरे दिल के बहुत करीब है और अक्सर मैं इसकी चर्चा करता रहता हूँ। इस प्रश्न के कई पक्ष हैं। पहला तो स्वदेश की मुख्यधारा में स्थान की बात आती है। इसकी सबसे बड़ी समस्या प्रकाशन की है। प्रकाशक किसी भी पुस्तक को व्यावसायिक दृष्टिकोण से देखते हैं, क्योंकि उनके लिए कोई भी पुस्तक पैसा कमाने का माध्यम है। नए हस्ताक्षरों पर दाँव लगाने से वह हिचकिचाते हैं जो कि समझ में आता है। ऐसे में विदेश में बसा लेखक, भारत में अपनी पहचान बनाए तो कैसे? वह न तो किसी साहित्यिक खेमे में शामिल हो सकता है और न किसी की चापलूसी कर पाता है कि वह किसी जाने-पहचाने प्रकाशक द्वारा प्रकाशित हो सके। बातें कुछ कड़वी हैं, परंतु वास्तविकता यही है। मेरा अपना दृढ़ विश्वास है कि हमें क्यों यह आवश्यकता महसूस होती है कि हमारी पीठ भारत के साहित्यिक मठाधीश थपथपाएँ? ऐसा होना ही नहीं चाहिए। इस समय आप ही बताएँ क्योंकि मैं हिंदी-चेतना के साथ आरंभिक दिनों से संबंधित था और आज आप हैं। मेरे जाने के बाद आप इस पत्रिका को उस ऊँचाई तक ले गई हैं कि भारत के लेखक भी इसमें प्रकाशित होने के लिए लालायित रहते हैं। क्या आपने इसमें किसी को प्रकाशित करने के लिए देसी-परदेसी का दुराव किया? नहीं। परंतु भारत का प्रकाशक बिना कुछ सोचे-समझे विदेशी साहित्य पर अप्रवासी साहित्य की मोहर लगा कर उसे केवल अप्रवासी विशेषांकों के लिए रख लेता है।

अब तीसरे पक्ष की बात करता हूँ जो आलोचकों के बारे में है। कथ्य, शैली, शिल्प की भिन्नता भी इसी का भाग है। बहुत पहले जब हम लोगों ने हिंदी राइटर्स गिल्ड की स्थापना की तो उद्घाटन के समय सौभाग्य से डॉ. महीप सिंह कैनेडा में ही थे। हमने उन्हें आमंत्रित किया। हमारा उत्साह देखकर और कुछ रचनाएँ सुनने के बाद उन्होंने मुझसे कहा कि हम लोग पुस्तकों की समीक्षा के लिए उन्हें भारत भेजें। मैंने उनसे पूछा कि क्या भारत का समीक्षक हमारे दैनिक जीवन की उन सूक्ष्मताओं को समझ पाएगा, जिन्हें उसने जिया ही नहीं। वह मेरे से सहमत थे। हाँ, मैंने यह अवश्य स्वीकार किया कि कलापक्ष के लिए हम उनके सुझावों का स्वागत कर सकते हैं। आलोचकों की बेरुखी तो मैं स्वयं झेल चुका हूँ। तेजेंद्र शर्मा जी ने एक बार अप्रवासी कहानियों के संकलन के लिए कहानियाँ माँगी जो कि भारत में प्रकाशित होनी थीं। प्रकाशक ने कहानियों को प्रकाशन से पहले ही आलोचक को थमा दिया। आलोचक ने उन्हें पूरा पढ़ा तक नहीं और अजीब बात तो तब हुई जब प्रकाशित संकलन के पहले पन्नों में कहानियों की आलोचना भी प्रकाशित हुई। आलोचक ने स्वीकार किया कि उन्होंने बस स्टैंड पर खड़े होकर कुछ कहानियाँ पढ़ी हैं और उसी के आधार पर आलोचना लिखी है। सौभाग्यवश या दुर्भाग्यवश मेरी कहानी भी उन्हीं में से एक थी, जो विशुद्ध रूप से कैनेडियन अप्रवासी के अनुभव पर आधारित थी। उसका नाम 'लाश' था। आलोचक महोदय अप्रवासी अनुभव से अनभिज्ञ थे जो उनकी टिप्पणी में दिखा। अब मैं बेरुखी की और क्या बात करूँ।

प्रश्न 4. नई सदी के इस कथा-समय में आप स्वयं को कहाँ खड़ा पाते/पाती हैं?

उषा राजे सक्सेना : यह एक विचित्र प्रश्न है। मैं कहाँ खड़ी हूँ यह मैंने कभी सोचा ही नहीं। मैंने तो अभी क़लम पकड़ी है। धीरे-धीरे लिखना सीख रही हूँ। मैंने बहुत थोड़ा लिखा है। भारत में लोग 30-35 की उम्र में पच्चीस-तीस किताबें लिख चुके होते हैं और मेरी आयु के लोगों के खाते में दो-ढाई सौ पुस्तकें तो अवश्य होती हैं। बमुश्किल मेरी मात्र आठ-नौ पुस्तकें ही प्रकाशित हो सकी हैं। इन पुस्तकों के अतिरिक्त हिंदी-पट्टी की लघु पत्रिकाओं में पच्चीस-तीस आलेख, दस-एक साक्षात्कार, 20-21 समीक्षाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें फिल्म-समीक्षा भी शामिल है। कुछ और भी है जो अंग्रेज़ी और हिंदी में है जो अप्रकाशित है। मेरे मन में यह आकांक्षा ज़रूर है कि किसी आलोचक की दृष्टि मेरे लेखन पर पड़े और वह उसे गहराई से पढ़े और मुझे संकेत दे कि मैं कहाँ खड़ी हूँ। बचपन से घर में स्वाध्याय और लेखन का परिवेश मिला किंतु ब्रिटेन आने के बाद वह सब कुछ इस नए परिवेश के साथ सामंजस्य बैठाने में खो-सा गया। मैंने बहुत दबाव और तनाव के साथ बहुत डरते-डरते जीवन के मध्य में फिर से खालीपन से विवश होकर हिंदी में लिखना शुरू किया था। धीरे-धीरे मुझमें साहस आता गया और मैं ईमानदारी और बोल्डनेस के साथ

अपने अनुभव कविता, कहानी और लेखों के माध्यम से लिखने लगी। शायद इसी बोल्डनेस के कारण मेरे 'एक्सप्लोरर' कहानीकार को पहचान मिली। इस ईमानदारी का ख़ामियाजा मुझे भुगतना पड़ा, व्यक्तिगत जीवन में भी और साहित्यिक जीवन में भी। मेरा कहानी-लेखन 'प्रवास में' कहानी-संग्रह के साथ आरंभ हुआ जिसमें औसत दर्जे की कहानियाँ संग्रहीत थीं। 'वाकिंग पार्टनर' की कहानियों से मुझे पहचान मिली। 'वह रात और अन्य कहानियाँ' ने मुझे एक ऐसी 'एक्सप्लोरर कहानीकार' बना दिया, डॉ. रोहिणी अग्रवाल के शब्दों में, ''जिन्हें पढ़ना दो संस्कृतियों के आपसी सामंजस्य के बाद की उदात्त मानवीय अनुभूति से आप्लावित होना है।'' डॉ. लक्ष्मीमल सिंघवी, कमलेश्वर जी और हिमांशु जी ने भी कई बार ऐसा ही कुछ भारतवंशियों के कहानी-साहित्य पर व्याख्यान देते हुए मेरी कहानियों के लिए कहा है। अभी हाल ही में मेरी एक कहानी 'ऑटोप्रिन्योर', जिसका कथानक एक ऐसी आधुनिक प्रोफेशनल लड़की का है और जो जन्मी, पली-बढ़ी ब्रिटेन में है किंतु भारत को अपनी कर्मभूमि मात्र अपने दम पर सफलतापूर्वक बनाती है, 2013 के 'हंस' के जुलाई अंक में आई है। कहानी का कथानक (प्लॉट) 'ब्रेन-गेन' और 'डायस्पोरा डिविडेंट' अभी अधूरी पड़ी कहानियाँ है। पर उनके बीच 'ऑटोप्रिन्योर' नाम से इस सशक्त लड़की तिश (तुशारकन्या) ने अपनी कहानी मुझसे मेरी लेखनी से लाइन तोड़ कर लिखवा ली।

कृष्ण बिहारी : मैं तो अपने समकालीनों के साथ खड़ा हूँ। उन्हीं के बीच में खुद को पाता हूँ। यही सचाई है।

सुदर्शन प्रियदर्शिनी : मैं स्वयं को कहाँ खड़ा पाती हूँ यह मैं कैसे देख सकती हूँ? मैं स्वयं को स्वयं नहीं देख पाती। दूसरे ही मेरे कद की ऊँचाई या बौनापन आँक सकते हैं, मैं नहीं। इतने बड़े महासागर में एक बूँद की क्या बिसात कि वह अपना मूल्य जता सके। कुछ पत्रिकाओं में छप जाना या कुछ पुस्तकों का प्रकाशित हो जाना नितांत नगण्य है, जब तक निष्पक्ष दृष्टि से उनका मूल्यांकन न हो।

अनिल प्रभा कुमार : मैंने तो अभी चलना शुरू ही किया है। रुककर उस जगह को देख पाऊँ कि मैं कहाँ खड़ी हूँ, बड़ा बेतुका-सा लगता है। क्या फ़र्क पड़ता है कि मैं कहाँ खड़ी हूँ? एक संतोष है कि मैं अपने जुनून का हाथ पकड़कर चल पड़ी हूँ। बस चलती रहूँ, यही काफी है मेरे लिए। कहाँ पहुँचती हूँ, यह भी एक दिलचस्प सफ़र रहेगा।

आज ही एक अजीब-सी बात हुई। पिछले महीने 'हिंदी-चेतना' में मेरी कहानी 'किसलिए' छपी जो मैंने कुछ वर्ष पहले लिखी थी। अपने कुछ मित्रों को मैंने उसका लिंक ईमेल द्वारा भेज दिया। आज कई दिनों के बाद एक मित्र की ईमेल वापिस मिली, जिसके पास भी कभी एक बहुत प्यारा कुत्ता था और चार महीने पहले ही उसका पति भी उसे अकेला छोड़कर इस दुनिया से चला गया। कहानी पढ़ने के बाद उस मित्र ने लिखा, ''जब मैंने तुम्हारी यह कहानी पढ़नी शुरू की तो लगा कि तुमने यह मेरे लिए लिखी है या यह केवल एक संयोग है। कहानी दिल को छू गई। पुरानी

स्मृतियाँ फिर से तरोताज़ा हो गई। आँसू अब रुकने का नाम नहीं ले रहे। दोनों की याद आ गई। क्या तुमने 'किसलिए' मेरे लिए लिखी है कि मैं आगे बढ़ूँ? तुमने कहानी नहीं, मेरी हकीक़त लिखी है। बहुत अच्छी है।'' तो जब भी कोई ऐसी सरल, बेलाग टिप्पणी अपने दिल से भेजता है तो वह मेरे लिए किसी भी पुरस्कार से ज़्यादा मूल्यवान हो जाती है। तब लगता है मैं जहाँ भी हूँ, जिस जगह भी खड़ी हूँ, ठीक ही हूँ।

सुरेशचंद्र शुक्ल 'शरद आलोक' : नई सदी के कथाक्रम में मुख्यत: 1980 के बाद के सामाजिक परिवेश को अपने साहित्य के द्वारा पाठकों के सामने लाने की कोशिश करता हूँ और साथ ही साथ सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण अपने विचारों के द्वारा पाठकों के सामने लाने का प्रयास करता हूँ। लेकिन मैं आजकल के नए माध्यम जैसे इंटरनेट, ब्लागिंग, वेबसाइट का प्रयोग करना ज़्यादा पसंद करता हूँ।

कादंबरी मेहरा : एक बार श्रीमती उषा वर्मा ने कहा था कि टुकड़ा-टुकड़ा सच को जोड़कर एक झूठी कहानी बनती है। मैं वास्तविकता की कायल हूँ। यदि कहानी का आधार घटित सत्य नहीं है तो वह बेपाया होती है। ऐसी भी कहानियाँ लिखी गई हैं जो किसी चालू जोक पर आधारित हैं और उनको केवल उनके नएपन के कारण पाठकों ने उछल-उछल कर लपका है। जोक अक्सर अतिशयोक्तियाँ होते हैं। कल्पना को सत्य रूप में प्रेषित करें तो परिकथा लगती है। उन्मादी मन की उड़ान।

मैं महान् लेखिका होने का दावा नहीं कर सकूँगी आजन्म। लेखक के लक्ष्य आगे-आगे खिसकते चलें तो भला। मगर जो कुछ भी अभी तक लिखा है उसे पाठकों ने सराहा है। अधकचरे आलोचकों की मुझे परवाह नहीं। यह खेद की बात है कि विदेशों में लिखी जा रही कहानियों की आलोचना करने वाले भारत के वे लोग हैं जो कभी स्वयं विदेश नहीं गए, या गए तो केवल सरकारी खर्चे पर।

संपादकों के निर्णय पर मैं प्रश्न-चिह्न नहीं लगा सकती। हर पत्रिका का अलग उद्देश्य होता है। परंतु एक सामान्य आचार-संहिता के नियमों को यदि वह मद्देनजर रखें और स्वीकृति व अस्वीकृति की सूचना तत्परता से दें तो उनका कुछ नहीं घटेगा। साल-साल, दो-दो साल तक रचनाएँ पड़ी-पड़ी बासी होती रहें तो दु:ख होता है।

ऐसा दो बार मेरे साथ हुआ कि मेरी कहानी किसी पत्रिका ने फाइलों में दबा दी और उस मौज़ूँ पर फिल्म बनकर आ गई। मैं तो रो दी। पर क्या करती? हमारी इस व्यथा के पीछे सिर्फ प्रबंधन की लापरवाही है। लेखन में नंगई मुझे पसंद नहीं। कलम की शुभता का मान रखना मुझे अच्छा लगता है।

सुमन कुमार घई : नई सदी में विश्वग्राम कल्पना नहीं रह गया है। भारतीय समाज विशेषकर महानगर तो विदेशी समाज के बहुत करीब आ गया है। चाहे यह अभी केवल ऊपरी सतह की समानता मात्र मालूम पड़े जो भारतीय कहानियाँ इन

महानगरों में लिखी जा रही हैं, वह बहुत कुछ वैसा ही कह रही हैं जो हम देखते और सुनते हैं। इधर, जैसा कि मैंने पहले भी कहा है कि विदेशों में लिखा जा रहा साहित्य वयस्क हो चुका है। विदेशों के लेखकों में एक आत्मविश्वास है, जो पहले नहीं था।

प्रश्न 5. विदेशों में लिखी जा रही कहानियों की दशा और दिशा के बारे में आप की क्या राय है?

उषा राजे सक्सेना : देशांतर के उन रचनाकारों ने नई ज़मीन तोड़ी है, जो कच्ची उम्र में ही विदेश आ गए थे और जिनकी विचार-प्रक्रिया अभी पूरी तरह से परिपक्व नहीं हो पाई थी और जो संक्रमण के लिए तैयार थे। ये वे युवा कलमकार थे जो विदेशों में नौकरी खोजने के लिए आए थे या ये वे युवा लड़कियाँ थीं जो अभी कॉलेज से निकलकर अपने पतियों के साथ विवाह के बाद आई थीं और जिन्हें विदेशों में ही रिहाइश करनी थी।

यदि देखा जाए तो विदेशों में हिंदी में लेखन करने वाली महिला रचनाकार ही अधिक हैं। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो अधिकांश पुरुषों ने अंग्रेज़ी को ही अपने सृजन का माध्यम बनाया है। कच्ची उम्र में आई इन महिलाओं ने बच्चों की परवरिश के लिए अपने अपनाए हुए देश के सामाजिक तौर-तरीके, नियम-कानूनों के बीच द्वंद्वों, दु:खों, अकेलेपन और विषमताओं के बीच जीवन-यापन किया। उन्होंने अपनी इन्हीं विवशताओं और अंतर्द्वंद्वों से मुक्ति पाने के लिए लेखनी पकड़ी।

सदियों से पुरुष-वर्चस्व वाले समाज में यंत्रणा झेलने के बाद विदेशों में आई महिलाओं ने जब एक ऐसे समाज में साँस लिया जहाँ उन्हें साँस लेने के लिए खुली हवा, आर्थिक बराबरी, समाज में बराबर का दर्जा आदि मिला तो उन्होंने अपनी सनातन चुप्पी तोड़ने के लिए मातृभाषा की धारदार लेखनी का सहारा लिया। इस नए समाज में जब उनकी योग्यता का खुला मूल्यांकन हुआ तो घरेलू दबाव और तनावों के बीच खुद को जिंदा रखने के लिए अपने अनुभवों को देश के साथ बाँटा। ऐसा मैं इसलिए कह रही हूँ कि ऐसे युवा रचनाकारों की, विशेषकर महिलाओं की दृष्टि हर तरह के संक्रमण के लिए तैयार होती है। संक्रमण से नई दृष्टि पैदा होती है जो नई ज़मीन तोड़ती है और नई दिशा तलाशते हुए आगे बढ़ती है।

विदेशों में आज जो पीढ़ी हिंदी में लिख रही है, वही हिंदी लेखकों की वस्तुत: पहली और अंतिम पीढ़ी है। हमारी दूसरी पीढ़ी के पास न तो हिंदी भाषा है, न ही भाषा का वह संस्कार है जो लेखन के लिए चाहिए। हो सकता है कि विदेशों में हिंदी लेखन भविष्य में भी होता रहे किंतु वह लेखक भारत से आए नए युवा इमिग्रेंट्स ही होंगे, जिनकी हिंदी भाषा पर पकड़ होगी। नामवर सिंह, राजेंद्र यादव और हरिसुमन बिष्ट आदि संभवत: अचला शर्मा, सुषम बेदी, उषा प्रियंवदा, कृष्ण बलदेव वैद्य, अंजना संधीर, तेजेंद्र शर्मा, कविता वाचक्नवी (जो भारत में ही लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हो

चुके थे और 40-50 की आयु में विदेश पहुँचे) आदि को प्रवासी साहित्यकार की कोटि में नहीं रखते हैं (हंस-अप्रैल 2011, 'मेरी-तेरी उसकी बात' - पृष्ठ 2)। वे पहली पीढ़ी के उन लेखकों को ही प्रवासी रचनाकार मानते है जिन्होंने युवा छात्रों की तरह अथवा विवाह के कारण विदेशों में स्थायी रिहाइश स्वीकार करते हुए लेखन का आरंभ किया और विदेशी परिवेश के दबाव और द्वंद्वों के बीच भारत की लघु पत्रिकाओं द्वारा बमुश्किल हिंदी-पट्टी के हिंदी साहित्य में अपनी उपस्थिति दर्ज़ कराई।

कृष्ण बिहारी : विदेशों में हिंदी लेखन का भविष्य कैसा है और इसकी दशा और दिशा क्या होगी- यह प्रश्न सचमुच सोचने जैसा है। लेकिन ऐसा तो हिंदुस्तान की उन सभी भाषाओं के साथ हो रहा है जिनमें देश के बाहर रहने वाले भारतीय लिख रहे हैं। जब घर में मातृभाषा मरेगी तो अंजाम का पता होना चाहिए। हमारे बच्चे अब अंग्रेजी में सोचते हैं। यानी हमारी आने वाली उस पीढ़ी को जो विदेश में अपना भविष्य तलाशेगी, उसे अगर लिखना भी होगा तो वह अंग्रेज़ी में लिखेगी। लेखन चलता रहेगा, लेकिन शायद हिंदी में नहीं होगा।

सुदर्शन प्रियदर्शिनी : प्रवासी साहित्य किन्हीं वादों, आंदोलनों या खेमों में बँटा हुआ साहित्य नहीं है। साहित्यिक मानदंडों की दृष्टि से यह एक स्वस्थ दिशा है, जहाँ उसे वादों-विवादों का ग्रहण नहीं लग सकता। इसमें न सांप्रदायिकता है न कोई पार्टीबाजी। यह विशुद्ध मानवीय उलझनों में उलझता हुआ और कहीं-कहीं दिशा-निर्देश करता साहित्य है।

अनिल प्रभा कुमार : भारत से इतर देशों में लिखी जा रही कहानियों में एक नयापन, ताज़गी तो है ही। सुदूर बसे देशों के लोगों के बारे में जो आम आदमी की उत्सुकता रहती है, ये कहानियाँ उस उत्सुकता को शांत या उद्विग्न दोनों ही करती हैं। हिंदी की प्रमुख धारा में इस विदेश से आती हुई साहित्यिक धारा का भी अपना योगदान है, इसे नकारा नहीं जा सकता। नॉस्टेल्जिया के बचपन को पार कर अब यह कहानी-धारा पूरे यौवन पर है। अब विदेश में लिखी कहानियाँ अपनी-अपनी ज़मीन पर नए-नए मुद्दों से जूझ पड़ी हैं। इन कहानियों में एक और तरह की परिपक्वता झलकती है। शिल्प और शैली के भी प्रयोग हो रहे हैं। भारत में लिखी जा रही कहानियों की तरह ही इधर विदेशों में लिखी जा रही कहानियाँ भी समानांतर स्पर्धा में रचनाशील हैं। पृष्ठभूमि, अवधि और संख्या को विचाराधीन रखते हुए लिखने के अनुपात का अंतर होना स्वाभाविक है। विदेशों में लिखे कथा-साहित्य को मान्यता देने के दरवाज़े तो खुल ही चुके हैं। इन कहानियों की दशा बहुत अच्छी है और दिशाओं का पता तो सूर्य निकलने पर ही लगेगा।

सुरेशचंद्र शुक्ल 'शरद आलोक' : देशांतर में रहने वाले प्रवासी भारतीयों के मनोभाव और मनोव्यथा को प्रवासी साहित्य में आसानी से देखा जा सकता है। लेकिन

कभी-कभी मुझे लगता है कि प्रवासी साहित्य विभिन्न देशों की भौगोलिक, सामाजिक और राजनैतिक दशा से प्रेरित भी रहा है। इसके अतिरिक्त राजनैतिक परिवर्तन के कारण उसके मूल्यों में भी बदलाव आता रहता है।

कादंबरी मेहरा : जितनी मैंने पढ़ी हैं उनके आधार पर मैं कह सकती हूँ कि विदेशों में लिखी जाने वाली कहानियाँ एक बहुत बड़ा रंगारंगी फलक प्रस्तुत करती हैं। कथानकों की विविधता अप्रतिम है। भारत में चल रहे विवादों के तहत लिखी गई कहानियाँ स्त्री-विमर्श हो या दलित-विमर्श या राजनैतिक गुटबाजी-सब उबाऊ लगती हैं। विदेशों का कथा-साहित्य एक ओर अपनी स्थानीय संस्कृति का प्रभाव दर्शाता है वहीं भारतीय दृष्टिकोण से उसका मूल्यांकन भी करता चलता है। नए व पुराने का उचित सम्मिश्रण हिंदी के लिए वरदान है। पाठकों को निरंतर नवीनता की तलाश रहती है। यदि हम उनके मनोरंजन व ज्ञानवर्धन को उपेक्षित करेंगे तो साहित्य दीमक का चारा बनेगा।

सुमन कुमार घई : विदेशी कहानी अपनी दिशा पहचान चुकी है। वह भारत की ओर न देखकर अपने समाज की ओर देख रही है। वह अगर इस स्वतंत्र दिशा की ओर बढ़ेगी तो दशा स्वत: बेहतर होगी।

प्रश्न 6. नई सदी में हो रहे प्रवासी सम्मेलन विश्व के कथा-साहित्य का विस्तार कर रहे हैं या उन्हें सिर्फ प्रवासी विशेषांकों तक सीमित कर रहे हैं?

उषा राजे सक्सेना : नई सदी में 'प्रवासी' शब्द का बाज़ारीकरण हुआ है। प्रवासी सम्मेलनों में भारत सरकार विदेशों में बसे उद्योगपतियों को निमंत्रित करती है, उन्हें भारत में 'इन्वेस्टमेंट' के लिए तरह-तरह के आकर्षक प्रस्ताव प्रेषित करती है और फलस्वरूप उन्हें देश में कई तरह की सुविधाएँ प्रदान करती हैं। 'प्रवासी साहित्य सम्मेलन' इसी के समानांतर हिंदी साहित्य के प्रचारकों की देन है। 'प्रवासी साहित्य सम्मेलन' जैसे आयोजन निश्चय ही विदेशों में लिख रहे रचनाकारों को प्रकाश में लाते हैं। इसके फलस्वरूप विदेशों में रहने वाले आयोजक भारत से कवियों और लेखकों को 'बाई-एयर' बुलाते हैं, उन्हें मंच देते हैं। उनके रहने-सहने, खाने-पीने, घुमाने-फिराने की अच्छी से अच्छी व्यवस्था करते हैं। आदर-सत्कार के साथ उन्हें विदेशों की सैर कराते हैं। इस तरह के साहित्यकारों के आदान-प्रदान से साहित्य के प्रचार-प्रसार के साथ व्यक्तिगत और सामूहिक लाभ भी होते हैं। साथ ही खेद की बात यह भी है कि अब तक हुए तकरीबन सौ-सवा सौ सम्मेलनों ने अभी तक कोई ऐसा आलोचक हमें नहीं दिया है जिसने बिना पक्षपात के वैश्विक हिंदी कहानी साहित्य की समीक्षा की हो। मित्रों की और मुँहदेखी समीक्षा तो बहुत हुई है पर क्या किसी ने व्यापक हिंदी कहानियों की समीक्षा करते हुए उसमें देशांतर की कहानियों को भी शामिल किया है? मैंने अजय नावरिया, रोहिणी अग्रवाल, सुधीश पचौरी, उर्मिला शिरीष, संगम पांडेय, मैनेजर पांडेय, सुशील सिद्धार्थ, बलवंत कौर, राजीव रंजन प्रसाद आदि के लेख

समकालीन कहानी पर पढ़े है। उन्होंने कहीं भी भूले से भी किसी देशांतर के रचनाकार को उसमें सम्मिलित नहीं किया। विदेश में रहकर लिखने वाला हर रचनाकार हिंदी का रचनाकार है। हिंदी-पट्टी का आलोचक कभी देशांतर के लेखकों को हिंदी-पट्टी के आलोचना-साहित्य में स्थान नहीं देता है। क्या कारण है? क्या कोई भारतवंशी रचनाकार ऐसा नहीं है जो उनके विज़न में उस समय आए जब वे आलोचनाएँ लिख रहे होते हैं। ऐसा क्या है कि जब वे तुलनात्मक लिखते हैं तो भारतवंशी साहित्यकार उस परिदृश्य से बाहर होते हैं। जबकि उन्होंने अलग से प्रवासी खाँचे में डालकर उनके बारे में बहुत-कुछ संतुलित लिखा है। इसका कारण क्या साहित्यिक बँटवारा नहीं है? खेमेबाजी नहीं है? क्या वे अप्रत्यक्ष रूप से नहीं कह रहे हैं कि तुम हमसे अलग हो। हमारे समानांतर नहीं हो। दोयम दर्जे के हो, प्रवासी हो, जैसा कि आलोचक रोहिणी अग्रवाल कहती हैं।

कृष्ण बिहारी : प्रवासी सम्मेलनों से लाभ की जगह नुकसान हो रहा है। रचनाकार, रचनाकार है। वह गाँव में है, शहर में है, प्रदेश और देश की राजधानी में है और विदेश में है। जहाँ है वहाँ के समाज और वातावरण पर लिख रहा है। एक ब्रैकेट में आना स्वयं को संकुचित करना है। अपनी निगाहों में भी और पाठकों की दृष्टि में भी। यह वर्गीकरण हमें सबसे तोड़ता है, जोड़ता नहीं है। आप या तो अछूत की श्रेणी में खुद चले जाते हैं या डाल दिए जाते हैं। लोगों को लगता है कि आप अपने लिए आरक्षण माँग रहे हैं। लोगों को यह भी लगता है और कुछ लोग तो कहने भी लगे हैं कि विदेश में रहने वाले हिंदी के रचनाकार बिकने वालों को पैसे खिलाकर पत्र-पत्रिकाओं में छप रहे हैं। सुनकर दु:ख होता है। मुझे हिंदुस्तान के किसी लेखक ने प्रवासी कभी नहीं कहा। राजेंद्र यादव ने तो किसी सेमिनार में कहा भी कि वे मुझे प्रवासी लेखक नहीं मानते। मैं हिंदी का लेखक हूँ। प्रवास में तो मैं नौकरी कर रहा हूँ। हर दस महीनों में एक बार भारत आता हूँ। गाँव-घर-परिवार और रिश्तेदारों तथा मित्रों से जुड़ा हूँ तो प्रवासी लेखक कहाँ से हुआ?

सुदर्शन प्रियदर्शिनी : भारत में प्रवासी साहित्य पर कुछ माननीय संस्थाओं की जो कृपा-दृष्टि हुई है उसका भी एक अलग तरह का गणित है। इस नए दृष्टि-छत्र के नीचे जो बाँट-भाग हो रही है वह पहले की अलिखित उपेक्षाओं से अधिक खतरनाक है। प्रवासियों के नाम से पैसा बटोरना, सम्मेलन करवाना, किसी व्यक्ति विशेष को सम्मानित करना (अपनी भाग-बाँट के लिए) यह अपने आप में एक अलग भ्रष्टाचार का खेमा खड़ा हो रहा है। ताम-झाम की दृष्टि से यह आकलन भव्य है, पर इस नाम के नीचे साहित्य का और विशेषकर प्रवासी साहित्य का और भी ह्रास हो रहा है। जो इस मिली-भगत का हिस्सा (अपने डॉलर की कूबत पर) बन जाते हैं या बन सकते हैं, केवल उनकी ही दुंदभी बजती है और बाकी फिर वैसे ही पहले की तरह उपेक्षित और अपमानित होकर अपने कलेवर में सिमट जाते हैं।

अनिल प्रभा कुमार : मैं अभी तक किसी भी प्रवासी सम्मेलन में सम्मिलित नहीं हुई इसलिए उनके विषय में कुछ नहीं कह सकती। हाँ, जो भी इनके बारे में पढ़ा या सुना है उसमें से राजनीति की तीखी गंध ज़रूर लगी। प्रवासी सम्मेलनों का जितना शोर है, उससे हो सकता है कुछ लोग बहती गंगा में हाथ धो भी रहे हों। पर देखना तो यह है कि विश्व के कथा-साहित्य का इस अनुपात में कितना विस्तार हो रहा है? मैं प्रवासी अंकों के विरुद्ध नहीं हूँ। कम से कम शुरूआत तो हो रही है विदेश में लिखने वालों को मंच प्रदान करने की। परिचय होगा तो बात आगे भी बढ़ेगी।

सुरेशचंद्र शुक्ल 'शरद आलोक' : विदेशी साहित्य को संवर्धित करने में प्रवासी साहित्य का बहुत योगदान है और इसको यथासंभव संवर्धन भी प्राप्त हो रहा है। नार्वे इसका एक उदाहरण है।

कादंबरी मेहरा : मैं अभी तक ऐसे किसी सम्मेलन में नहीं गई हूँ अत: अधिक नहीं कह सकती। उनके उद्देश्य बहुत साफ़-साफ़ नहीं समझ पड़ते। अगर स्थिति मेरे वश में होती तो मैं यह आयोजन समाप्त कर देती। यह देश के पैसे (ग्रांट्स) की बर्बादी है।

सुमन कुमार घई : प्रवासी सम्मेलनों की अपनी उपयोगिता है, चाहे वह विदेशों में हों या भारत में। जैसा मैं पहले कह चुका हूँ कि अब अप्रवासी लेखक भारतीय प्रकाशकों के अँगूठे के तले नहीं हैं। इंटरनेट जैसे माध्यम ने प्रकाशन-क्षेत्र में क्रांति ला दी है। अगर रचना में दम है तो उसके पाठक तो जुटेंगे ही। दूसरी ओर यह प्रवासी सम्मेलन उन अच्छे लेखकों को चर्चा में लाने का माध्यम बन रहे हैं और मैं इनके आयोजकों के परिश्रम को बहुत आदर की दृष्टि से देखता हूँ।

प्रश्न 7. विदेशों में हिंदी के प्रचार-प्रसार में कहाँ कमी रह गई है जो हम इस सदी में कोई युवा कथाकार हिंदी साहित्य को नहीं दे सके।

उषा राजे सक्सेना : उपरोक्त प्रश्न एक ऐसा प्रश्न है जो मात्र विदेशों में रहने वाले भारतीयों को ही नहीं भारतवासियों को भी चिंतित करता है। महत्वाकांक्षाओं की अंधी दौड़ में आज बच्चों को हिंदी भाषा और साहित्य का संस्कार और परिवेश नहीं मिल पा रहा है। आज विश्व की भाषा, प्रौद्योगिकी की भाषा, सफलता की भाषा अँग्रेजी है जो उसे जन्म के समय ही घुट्टी में पिला दी जाती है। सदियों से ऐसा चलता आ रहा है कभी फ़ारसी के रूप में, कभी उर्दू के रूप में, कभी अंग्रेज़ी के रूप में। मानसिक दासता की यह 'कंडीशनिंग' अब ख़तरनाक मोड़ पर पहुँच चुकी है। शायद लाइलाज भी हो चुकी है।

इतने प्रचार-प्रसार के बाद भी हम विदेशों में हिंदी को युवा कथाकार इसलिए नहीं दे पा रहे हैं क्योंकि हिंदी के झंडाबरदार हिंदी का प्रचार-प्रसार केवल अपनी रोटी सेंकने के लिए कर रहे हैं। धर्म के धंधेबाजों की तरह आज हिंदी के धंधेबाज भी पैदा हो गए हैं जो हिंदी का इस्तेमाल अपने स्वार्थ के लिए कर रहे हैं। हिंदी के मैदान में

बड़े-बड़े खिलाड़ी और व्यापारी आ पहुँचे हैं जो बहुत ऊँचे स्केल पर सेमिनार, कॉन्फ्रेंस, शिविर, प्रकाशन और मेले आदि लगाकर अपना प्रोफ़ाइल ऊँचा कर रहे हैं। विदेश यात्राएँ कर रहे हैं, जेबें भर रहे है। दूसरी बात, ककहरा पढ़ लेने से, हिंदी फिल्में और सीरियल देख लेने से कुछ शब्द और वाक्य तो युवावर्ग को बोलने आ जाते हैं परंतु कथाकार होने के लिए जो भाषा का संस्कार और शब्द-संस्कृति आनी चाहिए उसके लिए आज के युवा के पास न तो शिक्षा है, न ही परिवेश, न ही समय और न ही हिंदी भाषा और साहित्य के लिए कोई प्रतिबद्धता...

कृष्ण बिहारी : मैंने पहले ही कहा है कि हमारी आने वाली पीढ़ी में तो रचनाकार हैं और अच्छा लिख रहे हैं। आगे भी रचनाकार होंगे। जहाँ तक विदेशों में हिंदी के भावी रचनाकारों की बात है, यह सोचना ही अब कठिन लगता है।

सुदर्शन प्रियदर्शिनी : विदेशों में हिंदी के प्रचार-प्रसार की कमी इस बात के कारण नहीं है कि कोई नया साहित्यकार इस नई पीढ़ी में पैदा नहीं हुआ या तैयार नहीं हो रहा। सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह रहा कि जो पीढ़ी यहाँ 70-80 के दशक में आई, उन्हें अपने पैर इस नई मिट्टी में ज़माने में 15-20 वर्ष लग गए। उस पर तुर्रा यह कि वे अपने आप को और अपने बच्चों को इस नई प्राप्त सभ्यता में पूरी तरह आत्मसात करने के उपक्रम करते रहे और अपनी सफलता का मापदंड उसी को मानते रहे। इसी लगाव में उन्होंने अपनी भाषा, अपना पहनावा, अपनी संस्कृति को सौतेला स्थान दे दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि बच्चे जो दिन में 10-15 घंटे बाहर के वातावरण में व्यस्त रहते और उस वातावरण में अपने आपको पूरी तरह से डुबाने का यत्न करते, उन्हें घर की तरफ से भी इसकी पुष्टि मिली। वे मनसा, वाचा और कर्मणा इस नई सभ्यता और इससे मिली स्वच्छंदता में आत्मसात हो गए। बाद में जब बहुत सालों बाद होश आया तो बहुत देर हो चुकी थी। अब माँ-बाप की शतरंज के मोहरे वह नहीं बन सकते थे। अब चिड़ियाँ चुग गई खेत। जिन बच्चों को अपनी भाषा ही नहीं आती वह साहित्य क्या जानेंगे? बंदर क्या जाने अदरक का स्वाद!

अनिल प्रभा कुमार : विदेशों में जो भी हिंदी का प्रचार-प्रसार हो रहा है उसका अधिकांश श्रेय हमारी हिंदी फ़िल्मों को ही जाता है। हिंदी समितियाँ बहुत हैं, जो अपनी योग्यता भर हिंदी का प्रसार कर रही हैं। हालांकि उनमें भी व्यक्तिगत स्वार्थ आकर सारा परिदृश्य धुँधला कर देते हैं। हिंदी का प्रचार-प्रसार अधिकतर भारतीय मूल के छोटे बच्चों को ध्यान में रखकर किया जाता है। उसके बाद थोड़े और बड़े बच्चों को भी आकर्षित करने का प्रयत्न होता है। विश्वविद्यालय के स्तर पर हिंदी का प्रसार (सौजन्य अमेरिकी सरकार) एक विदेशी भाषा के रूप में ही होता है। ऐसे में युवाओं का परिचय तो हिंदी भाषा और साहित्य से कराया जा सकता है, उनकी रुचि को प्रोत्साहित भी किया जा सकता है पर उन्हें हिंदी के साहित्यकार के रूप में गढ़ा नहीं जा सकता। मुझे लगता है कि साहित्यकार बनाए नहीं जा सकते, वह संस्कार उनके भीतर होता है या नहीं होता है। यूँ भी पश्चिम की जलवायु साहित्य की अपेक्षा पूँजीवाद और भौतिकता की फ़सल के लिए ज़्यादा अनुकूल है।

सुरेशचंद्र शुक्ल 'शरद आलोक' : विदेशों में हिंदी का प्रचार-प्रसार अच्छे ढंग से हो रहा है। लेकिन कभी-कभी मुझे लगता है कि भारत में प्रवासी लेखकों और प्रवासी साहित्य को कुछ अधिक प्रोत्साहन मिलना चाहिए और साथ ही साथ प्रवासी-साहित्य सम्मेलन जैसे कार्यक्रम को अधिक बढ़ावा मिलना चाहिए। इससे मेरे जैसे अनेक प्रवासी साहित्यकार अपने आपको गौरवान्वित महसूस करेंगे।

कादंबरी मेहरा : इस प्रश्न का उत्तर देने में भानुमती का पूरा पिटारा खुल जाएगा। भारत ने हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए किया ही क्या है? क्या विदेशों में सरकार की ओर से हिंदी की शिक्षा के उपकरण उपलब्ध हैं? क्या क्लासों का प्रावधान है? क्या ऐसा कोई अनुदान है जो व्यक्तिगत उपक्रम में लगाया जा सके?

अभिभावक भले ही अपने परिश्रम से उद्यम करें। विदेश की शिक्षा संस्थाएँ अधिक सक्रिय रही हैं भारतीय बालकों को पढ़ाने के लिए। मगर अब उसके लिए राशि की कमी पड़ गई है और वे क्यों आपकी भाषा को महत्व दें? जबकि उन्हें अपने देश के लिए सफल नागरिकों को तैयार करना है, न कि रंगारंगी ज़ुबानें बोलते भिन्न-भिन्न आगंतुक।

यहाँ भारत भवन में एक पूरा फ्लोर अंग्रेज़ी की किताबों का है और नित्य नई किताबें उसमें आती हैं। मगर हिंदी की किताबों के लिए एक छोटा-सा कमरा है जिसमें यदि नई किताबें आती हैं तो पुरानी किताबों को फेंकना पड़ता है। कोई रखवाला भी नहीं है। हिंदी अधिकारी का यह काम नहीं है कि वह लाइब्रेरी बनाए रखे। भारत से आया लाइब्रेरियन अंग्रेज़ी की किताबें देखता है।

पिछली पीढ़ी व अब की पीढ़ी में जो लोग कलम थामे हैं वही लोग हैं जो भारत से हिंदी में शिक्षा ग्रहण करके बड़े हुए थे। भारत के तथाकथित अंग्रेज़ी स्कूलों की पैदाइश इस क्षेत्र में फिसड्डी रही। अब जो फसल छात्रों की यहाँ आ रही है, वह हिंदी के एक भी लेखक या कवि को नहीं जानती। रामायण किसने लिखी, यह भी नहीं पता? लेखक कैसे बनेंगे भला।

हिंदी का भविष्य ठीक रखना है तो सरकार को अपना नज़रिया बदलना होगा। शिक्षा में हिंदी के स्तर को उठाना होगा। व्यवहार में हिंदी को अनिवार्यता देनी होगी। मीडिया में हिंदी लानी होगी। नेताओं को हिंदी में भाषण देने होंगे।

सुमन कुमार घई : बहुत पहले एक साक्षात्कार में ऐसा ही कुछ प्रश्न पूछा गया था, उत्तर आज भी वही है- जब हिंदी भाषा मनोरंजन की भाषा बन जाएगी, हिंदी को प्रचार-प्रसार की आवश्यकता नहीं रहेगी। अगर विदेशों में लिखा जा रहा साहित्य मनोरंजक है, उच्च कोटि का है। मानवीय संवेदनाओं को छूता है तो आप कुछ ऐसे लोगों को भी उसे पढ़ता पाएँगी जो स्वीकार नहीं करना चाहते कि वह हिंदी कहानियाँ पढ़ते हैं। है न अजीब बात!

प्रश्न 8. यह एक सोचनीय विषय है, अगर अगली पीढ़ी हिंदी में नहीं आई तो क्या हमारी पीढ़ी के बाद विदेशों में हिंदी लेखन समाप्त हो जायेगा?

उषा राजे सक्सेना : विदेशों में जो लोग हिंदी में लेखन कर रहे हैं वे लोग पहली पीढ़ी के लोग हैं। दूसरी पीढ़ी के पास न तो हिंदी भाषा है न ही हिंदी भाषा के संस्कार, अपवाद को छोड़ दें। यदि भारत से विदेशों में माइग्रेशन की प्रक्रिया जारी रही तो भारतीय युवा हिंदी-भाषा-साहित्य के संस्कार लेकर विदेशों में आते रहेंगे और लेखन की प्रक्रिया संभवत: चलती रहेगी। यद्यपि यह संभावना भी कुछ कमजोर ही लगती है क्योंकि भारत का महत्वाकांक्षी युवावर्ग भी आजकल अंग्रेज़ी भाषा की शब्द-संपदा लेकर ही आगे बढ़ रहा है। विदेशों में पुरुषों की अपेक्षा महिलाएँ ही हिंदी में लेखन कर रही हैं और अब 50 वर्ष की आयु के नीचे की महिलाएँ भी अंग्रेज़ी भाषा की शब्द-संस्कृति में दक्ष होने लगी हैं। ऐसे में हिंदी लेखन के भविष्य पर अपने आप ही एक वृहद प्रश्न-चिह्न लग जाता है।

कृष्ण बिहारी : हम सभी लोग जो पचीस-तीस साल पहले वहाँ गए, हिंदी में सोचते थे इसलिए हिंदी में लिखा। लेकिन अब जाने वाले या बीस साल बाद जाने वाले हिंदी में न तो सोचेंगे और न बोलेंगे। इसलिए यह कहना कि हिंदी में विदेश में लेखन चलता रहेगा, अविश्वसनीय लगता है। अभिव्यक्ति तो रहेगी मगर हो सकता है कि माध्यम बदल जाए।

सुदर्शन प्रियदर्शिनी : इस सच को स्वीकार कर लेना चाहिए कि अगली पीढ़ी कोई हिंदी का साहित्यकार साहित्य को न दे सकेगी। बस एक ही आशा है कि जो नई पौध भारत से नौकरी या उच्च शिक्षा के लिए यहाँ आ रही है अगर वह अपने साथ हिंदी को बाँध के लाए तो कोई आशा बँध सकती है। पर वास्तव में देखा जाए तो स्वयं भारत में ही हिंदी की उपेक्षा क्या कम है? उस उपेक्षा को कैसे आशा और आस्था में बदला जा सकता है यह अपने आप में एक ज्वलंत प्रश्न है।

अनिल प्रभा कुमार : हमारी पीढ़ी जो भारत से आकर विदेश में बस गई है वह अपने सामान में साहित्य-प्रेम की पोटली भी उठा लाई थी। उसी को खोलकर वह संस्कारित होती रहती है। यदि अगली पीढ़ी हिंदी भाषा को ही जीवित रख पाए तो इसे ही एक बहुत बड़ी उपलब्धि मानकर संतोष कर लेना बेहतर होगा। यह एक कटु और भयानक होने के साथ दुखद सच्चाई भी है कि हमारी पीढ़ी विदेशों में हिंदी साहित्य रचना करने वालों की अंतिम पीढ़ी होगी।

मैं विश्वविद्यालय में हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य दोनों का अध्यापन करती हूँ (अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से)। जब युवाओं से हिंदी सीखने की रुचि के बारे में प्रश्न उठता है तो पहला जवाब यही होता है कि वे इसलिए हिंदी भाषा सीखना चाहते हैं कि हिंदी फ़िल्मों को समझ सकें। दूसरा कारण कि नानी-दादी से बात करना चाहते हैं। जब भी मैं उन्हें कुछ मौलिक लिखने के लिए प्रेरित करती हूँ तो पहले वह रोमन

अंग्रेज़ी में लिखते हैं और फिर उसका रूपांतरण हिंदी भाषा में कर देते हैं। इसके बाद कंप्यूटर जिंदाबाद! जो इतना बचकाना अनुवाद करता है कि मैं भौंचक्की-सी बैठ जाती हूँ। एक दिन मैंने अपने हिंदी साहित्य के छात्रों से कहा कि जैसे-जैसे विचार मन में आते हैं, वैसे ही लिखते जाओ। मैं बात उन युवाओं की कर रही हूँ जो यहाँ पैदा हुए हैं। जो नए-नए भारत में से आ रहे हैं उनकी कहानी अलग है। वे यहाँ विज्ञान विषयों में उच्च शिक्षा लेकर अमीर बनना चाहते हैं, साहित्यकार नहीं। निराश होकर आख़िर मैंने अपने छात्रों से पूछ ही लिया कि ''तुम सोचते किस भाषा में हो?'' ''अंग्रेज़ी में'', सबका एक ही जवाब था। अब अंग्रेज़ी में सोचने वाला हिंदी में क्यों और कैसे लिखेगा!

सुरेशचंद्र शुक्ल 'शरद आलोक' : जब तक भारतीय और भारतीय संस्कृति दुनिया में है तब तक हिंदी भी इस दुनिया में है।

कादंबरी मेहरा : अवश्य हो जाएगा, मगर उसका दोष यहाँ जन्मे बच्चों पर नहीं मढ़ा जा सकता। न ही यहाँ अभिभावकों को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। यहाँ कोई ऐसी अनिवार्य कक्षाएँ उपलब्ध नहीं हैं। इसके लिए भारत सरकार को प्रबंध करना चाहिए।

इस सदी में अधिक संख्या में युवा कार्यकर्ता भारत से बाहर फैले हैं। वे अधिक संपन्न व शिक्षित हैं। पिछली पीढ़ी की तुलना में आर्थिक रूप से अधिक सुरक्षित हैं। हम आधी कमाई घर भेजते थे। अब ऐसा नहीं है। मगर वे लेखन नहीं कर सकते क्योंकि हिंदी उनकी कमज़ोर है और अंग्रेज़ी में वे अनुभव नहीं कर पाते। वे भाषा के साथ-साथ एक परजीवी अस्मिता से संत्रस्त हैं, जो उन्हें आतंरिक रूप से खंडित किए डालती है। हिंदी का अवरोह परजीवी युवा संस्कृति की सृष्टि कर रहा है। अभी भी समय है। शिक्षा में हिंदी को वापिस लाना चाहिए।

सुमन कुमार घई : यह वास्तव में चिंता का विषय है। कठोर वास्तविकता यही है कि अथक प्रयासों के बाद विदेश में जन्मी पहली पीढ़ी हिंदी भाषी तो हो सकती है परंतु कुछ लिखना उनके लिए असंभव सा ही है। यह मैं अपने कैनेडियन अनुभव के अनुसार कह रहा हूँ। दूसरी पीढ़ी तक तो शायद बोलना भी हिंदी में न हो पाए। विदेशों में हिंदी लेखन में नवप्राण केवल भारत से आए नए अप्रवासी ही फूँक सकते हैं- परंतु महानगरों से आए अधिकतर युवा हिंदी लिखने-पढ़ने में बहुत कम सक्षम हैं। काश! हिंदी साहित्य भी अंग्रेज़ी साहित्य की तरह विभिन्न देशों में अपना रंग लेकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता!

प्रश्न 9. इस सदी में भी, दलित, ग्रामीण पृष्ठभूमि और भूमंडलीकरण के दौर में उपभोक्तावादी संस्कृति तथा कई प्रयोगों से लबरेज कहानियाँ भारत में लिखी गई हैं। देश, परिवेश, चुनौतियों और सरोकारों की भिन्नता से हमारी कहानियाँ पाठकों को परदेश से आई पुरवाई-सी लगती है। हमारा लेखन ही हमारी पहचान है। पर हममें से बहुत से प्रवासी लेखक कहलवाना पसंद नहीं करते। क्या सोचते हैं आप?

उषा राजे सक्सेना : हिंदी-पट्टी के पंचों ने 'प्रवासी साहित्य', 'दलित साहित्य', 'महिला लेखन', 'युवा लेखन' आदि के जो कोष्ठक बनाएँ वे हिंदी साहित्य के लिए बहुत खतरनाक हैं। साहित्य को खाँचों में बाँटना उचित नहीं है। हिंदी के शुद्धतावादी साहित्यकारों की सदा से यह प्रवृत्ति रही है कि वे साहित्य को खाँचों में विभाजित कर उसमें भेदभाव की राजनीति पैदा करें और स्वयं उच्चपदस्थ साहित्यिक नेता बने रहें। इस तरह के अराजक तत्वों से हिंदी साहित्य की क्षति हो रही है। विदेशों में लिखा जा रहा हिंदी साहित्य अब जब अपना आकार और स्तर ग्रहण कर चुका है उसे किसी खाँचे की आवश्यकता नहीं है। उसे मुख्यधारा के साहित्य में समाहित कर लेना चाहिए। हिंदी में लिखने वाला कोई भी लेखक चाहे कहीं भी रह कर लिख रहा हो, हिंदी का लेखक ही कहलाना पसंद करेगा। प्रवासी संकलन, प्रवासी अंक, प्रवासी सम्मेलन अभी तक तो ठीक था परंतु अब इनकी अलग से आवश्यकता नहीं है। हिंदी भाषा और साहित्य को ज़िंदा रखने के लिए 'एकता' की आवश्यकता है- प्रवासी-अप्रवासी, भोजपुरी, मैथिली, राजस्थानी, बंबइया, कलकतिया की नहीं।

अब इसी समस्या को दूसरे परिप्रेक्ष्य में देखा जाए। आज 21 वीं सदी में हम औद्योगिक युग से निकलकर प्रौद्योगिकी युग में आ गए हैं। हिंदी आज भी मात्र कविता, कहानी, साहित्य और बोलचाल की भाषा तक सीमित है। वह प्रौद्योगिकी की भाषा नहीं बन पाई, जबकि सारा विश्व प्रौद्योगिकी के पीछे भाग रहा है। सारी प्रोफेशनल पढ़ाइयाँ प्रभु भाषा में हो रही हैं। सारी उच्च शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा, प्रौद्योगिकी की शिक्षा के साथ संसद की भाषा, न्यायालय की भाषा आज भी अंग्रेज़ी ही है। यूँ सत्य तो यह है कि विश्वग्राम की भाषा सभी मातृभाषाओं के ऊपर आने वाले भयानक संकट (भविष्य) की ओर संकेत कर रही है। हिंदी का शोर बहुत हो रहा है पर उसे काम-काज, व्यापार और टेक्नोलॉजी, शिक्षा तक नहीं ले जाया जा रहा है। हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य की दशा और दिशा की बात करते हुए आप अपने दायित्व से पल्ला झाड़ रहे हैं। भाषा की अवनति का कारण भाषाई साम्राज्यवाद की राजनीति कहें या वैश्विक षड्यंत्र कहें, पर मैं तो इसे सामाजिक, सामूहिक और व्यक्तिगत हिंदी के हितैषियों की स्वार्थपरता कहूँगी।

कृष्ण बिहारी : प्रवासी तो हर वह व्यक्ति है जिसने अपने गाँव या जन्मभूमि छोड़कर अपने जीवन-यापन के लिए कोई अन्य स्थान चुना। कभी उसने यह काम स्वेच्छा से किया तो कभी मजबूरी में। व्यक्ति तो प्रवासी हो सकता है मगर रचनाकार भाषा का होता है। आप अमेरिका में और मैं अरब दुनिया में रहते हुए हिंदी में ही लिख रहे हैं। ऐसा ही अन्य स्थानों पर रहते हुए अन्य लेखक भी कर रहे हैं। तो हमें खुद को हिंदी का लेखक मानना और बताना भी चाहिए।

सुदर्शन प्रियदर्शिनी : प्रवासी कहलाना कोई गाली नहीं है। बल्कि यह एक पहचान है जो हमारी रचनाओं से प्रेषित होती है और जो भारत से भिन्न मुद्दों को, संवेगों या संवेदनाओं को लेकर रची जाती है। एक अलग तरह की मिश्रित संस्कृति के भाव-अनुभाव और आने वाली पीढ़ी का निर्माण करने वाले तथ्यों की ओर निर्देश करती है इसलिए इसका एक अलग ही रूप है जो मेरी दृष्टि में बहुत ही स्वस्थ और आशावान है।

अनिल प्रभा कुमार : मुझे तो कहानी विधा पर आए दिन बदलते लेबल, नए-नए गुट, विमर्शों के खाँचे और उन्हीं में से एक प्रवासी-अप्रवासी ठप्पे के झगड़े बड़े ही अर्थहीन से लगते हैं। कभी-कभी लगता है कि राजनीति की तरह साहित्य में भी लोग चर्चा में रहने के लिए मुहिम चलाते रहते हैं। प्रवास तो हम कर ही रहे हैं। अगर कोई 'प्रवासी लेखक' कहकर हमारी चर्चा करता है तो उसकी इच्छा। व्यक्तिगत रूप से मैं प्रवासी लेखक कहलाने का बुरा नहीं मानती। मुझे तो अच्छा लगेगा कि अगर कोई कहे, 'वह प्रवासी लेखिका है, न अनिल प्रभा कुमार, और वे बहुत अच्छी लिखती हैं।' मेरी पहचान मेरा लेखन हो, मेरा वास नहीं।

सुरेशचंद्र शुक्ल 'शरद आलोक' : इस प्रकार का वातावरण व्यक्तिगत रूप में मैं विदेश में भी महसूस करता हूँ लेकिन मैं इसे नकारात्मक तौर पर नहीं लेता हूँ। बल्कि इस प्रकार के साहित्य का विश्लेषण सामाजिक परिवेश में करता हूँ और अगर मुझे ज़रूरी लगता है तो उसे मैं अपने शब्दों में पाठकों के सामने लाने की कोशिश करता हूँ।

कादंबरी मेहरा : हमारा लेखन ही हमारी पहचान है। मगर केवल हमारे व्यक्तित्व की ही पहचान नहीं है वरन् हमारी संस्कृति की भी पहचान है। हमारी रगों में दौड़ती हमारी हिंदी भाषा की पहचान है। यदि हमें पढ़ने वाले हमारे प्रशंसक, हमारे ग्राहक भारत में रहते हैं मुख्य रूप से, तो हमें उनका लेखक पहले व प्रवासी बाद में गिना जाना चाहिए। हिंदी में लिखने के लिए भारत में रहना अगर ज़रूरी नहीं है तो कोष्ठकों की ज़रूरत नहीं है।

प्रकाशक आजकल संग्रह छापने में कटिबद्ध हैं। संग्रह बिकता है। मगर मेरे विचार में विदेशों में लिखे जा रहे कथा-साहित्य को अलग से संगृहीत करने के बजाए यदि संग्रह अमुक वर्ष की श्रेष्ठ कहानियाँ आदि साधारण शीर्षकों के तहत छापी जाएँ और उनमें भारत और विदेश दोनों की रचनाएँ संकलित की जाएँ तो अधिक उचित होगा।

हिंदी में नित्य बनते जा रहे कोष्ठकों के कारण जो अलगाव पैदा हो रहा है उसको मिटाना बहुत ज़रूरी है और यह विभाजन भारत ही रोक सकता है क्योंकि यह दलित बनाने की ही प्रक्रिया है।

सुमन कुमार घई : इस विषय पर दो मत हैं। जैसा कि आपने कहा कि बहुत से लेखक अपने आप को प्रवासी कहलवाना पसंद नहीं करते- यह उनका मुख्यधारा के प्रति विद्रोह है। जब हम अंग्रेज़ी के कैनेडियन लेखन को 'कैनेडियाना', यू.एस.ए. के लेखन को 'अमेरिकन-इंग्लिश लिटरेचर' इत्यादि कह सकते हैं तो विभिन्न देशों में बसे लेखकों को क्यों एक ही पुलिंदे में बाँध दिया जाता है- प्रवासी। इसमें कोई संदेह नहीं कि हर देश में लिखे जा रहे साहित्य में उस देश की सुगंध रहती है। शायद एक ही संज्ञा 'प्रवासी' देने वाले भारतीय आलोचक हैं जो इन सूक्ष्म अंतरों को समझने में असमर्थ हैं। साहित्यकार होने के लिए ऐसे आलोचकों की स्वीकृति को क्यों आवश्यक समझा जाए?

दूसरी विचारधारा उन लेखकों की है जो किसी भी तरह भारत में प्रकाशित होना चाहते हैं। चाहे उन पर किसी भी नाम की मोहर लगे। वह भी गलत नहीं है क्योंकि उनका लिखा कोई पढ़ तो रहा है। और विदेशों में प्रकाशन के सीमित साधनों के रहते कुछ समझौते तो करने ही पड़ेंगे। मज़े की बात तो यह है कि जब प्रवासी लेखक लोकप्रिय हो जाता है तो भारतीय प्रकाशक उस पर से प्रवासी चिप्पी हटा भी लेते हैं।

सुधा ओम ढींगरा : परिचर्चा में आप सब कथाकारों की भागीदारी के लिए हार्दिक आभार।

❑❑

[साभार : गवेषणा, अंक : 103, जुलाई-दिसंबर 2014, पृष्ठ-133-154]

सूरीनाम का सृजनात्मक हिंदी साहित्य

भावना सक्सेना

संस्कृत के विद्वानों के अनुसार *सहितस्यभावः साहित्यम्* अर्थात्, जिसमें सहित का भाव हो उसे साहित्य कहते हैं। किसी भी देश अथवा काल को जानने का सबसे अच्छा माध्यम है उसका साहित्य। इतिहास जहाँ केवल घटनाओं का रेखांकन करता है, उस काल खंड का साहित्य, देश की जनता के हृदय की अभिव्यक्ति करता है। किसी भी काल के साहित्य से उस समय की परिस्थितियों, जनमानस के रहन-सहन, खान-पान व अन्य गतिविधियों का पता चलता है और समाज में फैली विसंगतियों, विकृतियों, अभावों, विसमताओं, असमानताओं की जानकारी मिलती है।

किसी नए देश, नए परिवेश में जब कोई आलंब नहीं मिलता तब व्यक्ति की अभिव्यक्ति उसकी कलम के माध्यम से होती है। भारत से सोलह हजार किलोमीटर दूर दक्षिण अमेरिका के उत्तर पूर्वी क्षेत्र में स्थित सूरीनाम में हिंदी का उदय उन गिरमिटिया मजदूरों के माध्यम से हुआ जो मूलतः उत्तर प्रदेश के विभिन्न जिलों से थे, जहाँ भोजपुरी, अवधी, मगही, मैथली, बृज भाषाएँ बोली जाती हैं। नए स्थान, नए परिवेश में कष्टों के निवारण का एकमात्र तरीका भजन व संगीत था, जो कठिन समय में उनका आलंब था। आज सूरीनाम में हिंदुस्तानियों को पहुँचे 144 वर्ष होने को हैं, साहित्य रचना कब से प्रारंभ हुई यह निश्चित रूप से कह पाना कठिन है। आज सूरीनाम का जो साहित्य है वह सूरीनाम के हिंदुस्तानियों के जीवन, उनके द्वारा भोगी गई यातनाओं, जीवन के उतार-चढ़ाव, संघर्ष, विकास, आशा, विश्वास का दर्पण है। उसमें प्रवास का दर्द भी है और नए को अपनाने का जोश भी, भाषा व संस्कृति के प्रति अटूट श्रद्धा व प्रेम है। सूरीनाम के प्रसिद्ध हिंदी कवि पंडित हरिदेव सहतू ने अपनी पुस्तक सूरीनाम में "हिंदी भाषा और साहित्य का विकास" में सूरीनाम के साहित्य को दो कालों में वर्गीकृत किया है, पहला सन् 1918 से 1960 और दूसरा सन् 1960 से 1975। पंडित सहतू का विचार है कि मुंशी रहमान खान के सूरीनाम का पहला कवि होने की आम धारणा सर्वथा सत्य नहीं है। मुंशी रहमान खान तथा पंडित चंद्रमोहन सिंह से पहले अनेक लोगों ने हिंदी में लिखा किंतु साधन सुलभ न होने के कारण इनके कार्य

प्रकाशित नहीं हो पाए थे और अब उपलब्ध नहीं हैं। कुछ पांडुलिपियाँ प्राप्त भी हुई हैं तथा अन्य की खोज जारी है।

वस्तुत: सूरीनाम में हिंदी साहित्य सृजन का इतिहास लगभग उतना ही पुराना है जितना सूरीनाम में भारतीयों का आगमन। सूरीनाम के साहित्य के इतिहास को चार चरणों में बाँटकर देखा जा सकता है, पहला चरण—1873 से 1918 तक, दूसरा चरण 1918 से 1960 तक, तीसरा चरण 1960 से 1975 तक व चौथा चरण 1975 से अब तक।

प्रथम चरण

1873 से 1918 तक का समय सिर्फ मौखिक साहित्य का था। सन् 1873 में जब भारतीय श्रमिकों को यहाँ लाया गया तो उनके पास लिखने-पढ़ने की सुविधा नहीं थी दिन भर के कठिन परिश्रम के पश्चात् वे संध्या को आपस में बैठते, किस्से-कहानियाँ कहते, गीत गाते तथा बच्चों को लोरियाँ सुनाते, महाभारत, रामायण, पंचतंत्र, हितोपदेश, अकबर बादशाह और बीरबल की कहानियाँ सुनते सुनाते, महात्मा गांधी, स्वामी विवेकानंद और महर्षि दयानंद के विचारों पर चर्चा करते। इस तरह मौखिक साहित्य जीवित रहा। अनुभव गीतों में ढले...इन गीतों में बहुत सी कहानियाँ थीं, ज़िंदगी के बारे में, कंत्राटियों के बारे में और कभी भारत के बारे में, उस समय के किस्से जब लोग रोज़ी-रोटी, दुख और गरीबी के कारण अपने परिवार और बच्चों को छोड़कर दूसरे देश चले गए। धीरे-धीरे ये अनुभव, दिन भर की कठिनाइयाँ और जीवन का दर्द शब्दों में उभर कर आने लगा। अनुभूतियाँ अभिव्यक्त होने लगी और काव्य रचना आरंभ हुई किंतु यह भी मौखिक थी। दिन भर के श्रांत क्लांत श्रमिक अपने अनुभवों को पद्य (दोहा, चौपाई, गीत, भजन, इत्यादि) में अभिव्यक्त करते। उदाहरणस्वरूप एक गीत प्रस्तुत है—

सुमिरन करके नारायण के
ले बजंरगबलि के नाम
कथा बखानूँ सूरीनाम को
जिन पर हमको है अभिमान
कलकत्ता से भर्ती होकर
सूरीनाम में पहुँचे आय
उतर गए तब यही देसवा में
डीपु में दिये भात खवाय
रोज सबेरे मँझा साहब
सबको हुकुम दिया फरमाय
हाथ में दे के कटलिस सब्बल

परनासी में पहुँचा जाय
जंगल काट के साफ किए
काफी काकाऊ दिये तुड़ाये
चूँटी चूँटा काटने लागे
देखो माई बाप चिल्लाये
पाँच बरस के गिरमिट काटे
फिर ले बहुत मुसीबत आए
पाँच बरस के अंत में भैया,
रूज़फेल्ट कहे दाँत ठियाए
अपने देसवा लौट न जहिओ
मानो बतिया आज हमार
बीघा काट खेत कई दीनही
सौ सौ रुपया दिये पकड़ाये
लौटने वाले लौट गए और
रहने वाले यहाँ रह जाए
जंगल काट के कौफ़ी लगाई
गट्ठा बाना दिया लगाई
धान के खेती कर दिखलाई
लड़की लड़का दिये पढ़ाये
कोई माँझा कोई कमिसरिस
कोई इंस्पेक्टर हो जाए
कोई वकील कोई जज और
कोई पार्लियामेंट में बैठा जाये
भारत माता की औलाद
सूरीनाम में सुखी बनाए
बार-बार सिव बालक चेतावे
धर्म न छोड़ियों अपना भाई,,,धर्म न छोड़ियों अपना भाई।

दूसरा चरण (1918-1960)

दूसरा कालखंड गिरमिट समाप्ति यथा 1918 से 1960 तक माना जा सकता है। 1916 से नए श्रमिकों का आना बंद हो गया और काफी हिंदुस्तानी अब तक स्वतंत्र जीवन व्यतीत कर रहे थे। सरकार से प्राप्त भूमि के सहारे आजीविका चला रहे थे।

कुछ लोगों ने लिखना भी आरंभ किया लेकिन अधिकांश उत्पीड़ित वर्ग के पास कोई साधन नहीं था। आरंभ में ये रचनाएँ धार्मिक सत्संग में भाग लेने वाले प्रचारकों द्वारा हस्तलिखित परचों के रूप में वितरित की जाती फिर धीरे-धीरे टंकित व साइक्लोस्टाइल करके पुस्तकें निकाली जाने लगी।

सन 1960 में सूरीनाम में भारत सरकार की ओर से हिंदी शिक्षण की व्यवस्था की गई जिसके तहत बाबू महातम सिंह जी को हिंदी शिक्षण के लिए सूरीनाम भेजा गया और 19 मार्च 1960 को बाबू महातम सिंह सूरीनाम पहुँचे। अब हिंदी की व्यवस्थित पढ़ाई आरंभ हुई। इस समर्पित व उत्साही प्राध्यापक ने अपनी प्रेरणा व मार्गदर्शन से अनेक युवकों में स्वेच्छा से हिंदी शिक्षण करने का भाव उत्पन्न किया और वैज्ञानिक ढंग से हिंदी सिखाई। साधनों का अभाव होते हुए भी उन्होंने गाँव-गाँव जाकर हिंदी सिखाई तथा राजधानी पारामारिबको के अतिरिक्त जिला सर मक्का, कोमवेना, निकेरी आदि अन्य जिला केंद्रों व अनेक गाँवों में हिंदी शिक्षण केंद्र स्थापित किए। समय समय पर शिविर व पदयात्रा आयोजित की जाती थीं जिसमें स्थानीय लोग बड़े उत्साह से भाग लेते थे। उन्होंने हिंदी छात्रों को लिखने के लिए प्रेरित व उत्साहित किया इस काल की रचनाओं की भाषा में परिष्करण देखा जा सकता है।

तीसरा चरण (1960-1975)

वर्ष 1975 में सूरीनाम देश ने एक ऐतिहासिक करवट ली। डच शासन से स्वतंत्रता प्राप्त की। यही वह समय था जब सैकड़ों हिंदुस्तानी सूरीनाम छोड़कर बसने के लिए हॉलैंड चले गए। प्रवास के पश्चात् उन्हें अपने देश की याद आई और इस पीड़ा ने पूर्वजों द्वारा झेली गयी पीड़ा का अहसास कराया और अपनी भाषा (सरनामी) के प्रति अधिक प्रेम जागृत हुआ। अपने पूर्वजों की पीड़ा के साथ-साथ उनकी सहनशीलता पर आक्रोश भी उभरा। आज सूरीनाम में हिंदुस्तानियों का एक बड़ा वर्ग है। हिंदुस्तानी मूल के लोग सभी क्षेत्रों यथा चिकित्सा, इंजीनियरी, सरकारी कार्यालयों के प्रतिष्ठित पदों, उद्योगों आदि में अपना स्थान बना चुके हैं यह देख कर हर्ष होता है कि आज डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, अर्थशास्त्री आदि पदों पर रहते हुए भी कई व्यक्ति हिंदी अध्यापन कार्य कर रहे हैं जैसे डॉक्टर कार्मेन जगलाल, वकील की पढ़ाई कर रही निशा झकरी, रसायन विज्ञान के अध्यापक श्री अमित अजोध्या, देश में हिंदुस्तानियों की स्थिति जितनी सुदृढ़ होती है उनकी भाषा भी उतनी ही सशक्त होती जा रही है। यह पीढ़ी हिंदी व सरनामी दोनों में ही लिखते हैं, इतिहास के साथ साथ वर्तमान कुरीतियों को भी वे रचना का विषय बनाते हैं—

भविष्य अपन मंगली जाने, गैली बाबा के पास,
कुंडली देखैली अपन, ओही राहा एकही आस,
बाबा हाथ देखकर बोलिस, इह तो है एकदम खाली,
बनी काम तब-ही, जब भरियो हमार थाली,

इह बात सुनकर, हम तो होई गैली उदास,
भविष्य बनावे के, और ना है कोई रास?
अच्छा कर्म कर एही हथ्वन से, हाथ के रेखा न देख,
बदल जाई तोहार जिंदगी, झूट-फुट के पैसा न फेक!

सरवन बख्तावर; भविष्य बानी

सूरीनाम में प्रवासी भारतीय हिंदी व सरनामी दोनों रूपों में ही लिखते रहे हैं, जहाँ सरनामी रचनाओं में दिल की आवाज़ है वहीं शुद्ध हिंदी में अभिव्यक्ति उनके लिए गौरव की बात है।

चौथा चरण

1970 व 80 के दशकों में सरनामी में कई पुस्तकें और पत्रिकाएँ छपी। सन् 1980 में नीदरैंडस में प्रवास कर चुके सरनामी हिंदुस्तानियों के एक समूह ने सरनामी हिंदी में लेख, कविताएँ कहानियाँ छापकर सरनामी को ऊँचा स्तर दिलाने का प्रयास किया सन् 1990 के दशक में सरनामी हिंदी को पूर्ण रूप से विकसित सूरीनामी भाषा मान लिया गया। सरनामी में पहला लंबा गद्य सन् 1984 में प्रकाशित रबिन एस बदलेव सिंह का उपन्यास "इस्तीफा" था। इसके बाद इन्हीं का दूसरा उपन्यास "सुनवाई कहाँ" सन् 1987 में छपा। अप्रैल 1984 में द हेग में सरनामी नीदरलैंड संस्था की स्थापना की गई और इस संस्था ने सरनामी कलेक्टिफ झुम्पा राजगुरू के कार्यों को अपने हाथ में ले लिया।

शीला सहतू बैजनाथ शाह मिसिर का सरनामी हिंदी व्याकरण पर शोधपत्र (सन् 1975 में) उल्लेखनीय है। सरनामी कलेक्टिफ झुम्पा राजगुरू के *'ऐसा समाचार'* में लेख भी उल्लेखनीय हैं। *'ऐसा समाचार'* सरनामी पत्रिकाओं का आधार बनी। कृष्णदत्त बैजनाथ का सरनामी हिंदी साहित्य पर शोधपत्र (सन् 1978), श्री डी रामलाल व श्री आर रामलाल की सरनामी हिंदी की मूल निर्देशिका सन् 1977, जीत नारायन व टी दामस्गीत की सरनामी हिंदी पुस्तक 'का हाल' भी उल्लेखनीय है। 'का हाल' को विशेष रूप से उन लोगों के लिए तैयार किया है जो अपने आप हिंदी (देवनागरी) पढ़ना लिखना और जानना चाहते हैं। 1983 से 1992 के बीच 'भाषा' नामक पत्रिका छपी जिसमें सरनामी हिंदी पर लेख छपे। सन् 1985 व 1986 में पारामारीबो की वैज्ञानिक सूचना संस्था ने सरनामी हिंदी में लोक कथाओं की दो पुस्तकें निकालीं। समर इंस्टीटयूट ऑफ लिंग्विस्टिक ने सरनामी पर कई पुस्तकें प्रकाशित कीं, जैसे डुइसकांप की पाठ्यपुस्तक (सन् 1980 में)। सूरीनाम व नीदरलैंड्स में आज भी सरनामी व हिंदी में सतत् रूप से लेखन जारी है। सूरीनाम के सभी साहित्यकार हिंदी में लिखकर अपने को भारत से जुड़ा हुआ पाते हैं। इनकी कविताओं में संस्कृति और उससे जुड़ाव की झलक है, भाषा प्रेम की अभिव्यक्ति है, हिंदी सीखने के लिए प्रेरणा है। समस्त जीवन की अनुभूतियों के बहुआयामी चित्र हैं और अतीत की वेदना

है और साथ में हैं धार्मिक आस्था, भक्ति और लोकजीवन का संगीत। प्रवासी भारतीय हिंदी साहित्य में सूरीनाम का विशिष्ट योगदान है। सूरीनाम के अनेक साहित्यकारों ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए हिंदी को माध्यम भाषा के रूप में चुना है। सरीनाम के साहित्यकारों का एक वर्ग वह भी है जो सूरीनाम की स्वतंत्रता के समय होलैंड चला गया, इनमें कुछ तो उस समय बहुत कम आयु के थे, किंतु प्रवास का दर्द उन्होंने देखा और समझा और इसी कारण अपने पूर्वजों के दर्द को और बेहतर समझते हैं। सूरीनाम छोड़कर भी वह अपने देश, अपनी भाषा से कभी अलग नहीं हुए। सरनामी के प्रति जो उन्होंने किया उसने सरनामी को अंतरराष्ट्रीय फ़लक पर स्थान प्रदान किया है। उनके काव्य और गीतों में न सिर्फ प्रवास का दर्द है अपितु कुछ प्रश्न भी हैं, गन्ना, कॉफी आदि बागानों, अप्रवास और अनुबंधित श्रमिक के विषय के अलावा, व्यभिचार और हिंदुस्तानी और भारतीय समाज के भीतर कुरीतियों का चित्रण है और साथ ही है भाव प्रवणता। सूरीनाम को अपनी रचना स्थली बनाने और सूरीनाम से बाहर जाकर भी दिल में सूरीनाम को बसा वहाँ की भाषा में लिखने वाले प्रमुख साहित्यकारों में हैं–

(1) पंडित लक्ष्मी प्रसाद बलदेव (बग्गा 1915-1951) ने हिंदी के साथ-साथ उर्दू की पढ़ाई भी की। सात आठ वर्ष की आयु में ही उन्हें आर्य समाज के दसों नियम कंठस्थ थे और तभी से वे देवनागरी पढ़ने लगे थे। पंडित लक्ष्मी प्रसाद जी 16 वर्ष की आयु से ही लिखने लगे और स्वाध्याय मंडल La Proviance के सदस्य बने। उन्होंने हस्तलिखित और साइक्लोस्टाइल पुस्तकें निकालीं। इनकी रचनाएँ हैं–(i) कर्मानुगत वर्ण व्यवस्था सनातन है (गद्य), (ii) गप्पी चेला और कलियुगी गुरु (विद्या), (iii) सूरीनाम संस्कृति भजन वल्लरी (पद्य)।

आपके लेख व भजन सामाजिक कुरीतियों का वर्णन करते हैं और उन्हें सुधारने को प्रेरित करते हैं।

(2) श्री मंगल प्रसाद पंडित लक्ष्मी प्रसाद बलदेव के शिष्य और सहयोगी थे। उन्होंने श्री ईश्वर प्रसाद साइक्लोस्टाइल पुस्तकें निकाली। इनकी उपलब्ध रचना हैं–असत्य से फूट (गद्य और पद्य)। श्री मंगल प्रसाद जी अपने लेखों, कहानियों और कविताओं के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों पर हमारा ध्यान खींचते हैं। इन्होंने अपने लेखों में यह भी बताया कि हमारे पूर्वज दु:ख सहते थे किंतु सच्चाई से काम करते थे।

(3) मुंशी रहमान खान का जन्म व शिक्षा भारत में हुई और यह कम उम्र में यहाँ गिरमिटिया मजदूर के रूप में यहाँ लाए गए इनकी दो पुस्तकें हैं दोहा शिक्षावली और ज्ञान प्रकाश-शिक्षाप्रद दोहे और कुंडलियाँ। मुंशी रहमान खान अपनी पुस्तकों में भाषा व संस्कृति की ओर लौटने और सामाजिक कुरीतियों से बचने की प्रेरणा देते हैं। इन्होंने हिंदू मुस्लिम एकता नीति, इतिहास, इष्ट वंदना, ज्ञान विज्ञान, भारतवर्ष का इतिहास व स्वतंत्रता आंदोलन विषयों को अपने काव्य में समाहित किया है।

(4) बाबू चंद्रमोहन रणजीत सिंह (जन्म 2 अगस्त 1918) की प्रांरभिक शिक्षा डच स्कूलों में हुई लेकिन साहित्यिक संस्कार विद्वानों की संगति से उत्पन्न हुए। आपने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा (भारत) से कोविद की डिग्री प्राप्त की। आपको कई सम्मान प्राप्त हुए और आपने काव्य संगीत सुमन, संगीत प्रभाकर, चंद्र मुक्तावली के साथ-साथ 1500 स्फुट कविताएँ व कई नाटक और प्रतिज्ञा, भक्त ध्रुव विजय की रोशनी, सत्य की ज्योति, दशवाँ अवतार, महाभारत, संयोगिनी, स्वयंवर, एक अनाथ बालक की कहानी, बहादुर की तलवार, धरती का चाँद की रचना की। चंद्रमोहन जी की कविताएँ भाषा और सांस्कृतिक परंपराओं से ओतप्रोत हैं और सांसारिक कुरीतियों पर व्यंग्य भी करती हैं। चंद्रमोहन जी की इच्छा थी कि सभी अपनी भाषा और सांस्कृतिक परंपराओं को जीवित रखते हुए अन्य जातियों के साथ सद्व्यवहार करें और उन नेताओं से दूर रहें जो वादा करते हैं किंतु निभाते नहीं। चंद्रमोहन जी ने केवल मानक हिंदी में ही लिखा और भाव भाषा तथा छंद पर विशेष ध्यान दिया। इन्हें सूरीनाम का मुख्य कवि कहा जाता है।

(5) महादेव खुनखुन 17 जुलाई 1919 में बेनेदेनपारा स्थान पर जन्में खुन-खुन का नाम सुखराज खुन-खुन था लेकिन इनकी ईश्वरीय भक्ति और कहानी को देखते हुए लोग इन्हें महादेव खुन खुन पुकारने लगे।

एक मंदिर के स्थापक और दो मंदिरों के सलाहकार खुनखुन विधिवत भाषा और साहित्य के ज्ञाता नहीं थे फिर भी अक्षर ज्ञान से संपन्न थे। इन्होंने कबीरदास की भाँति दोहों की रचना की, कबीर की तरह इनका मानना था कि सभी मनुष्य एक ज्योति से उत्पन्न हुए हैं। सबमें एक ईश्वर व्याप्त है। उन्होंने लिखा—

एक ही ब्रह्म दुनिया पर घट घट रहे समाय
कौन ब्रह्म पंडित बना किसके माथे शूद्र लिखाय।

1925 से 1940 के बीच लिखे उनके दोहों को एकत्र करके जीवन ज्योति नामक पुस्तक जिसे खुन खुन की कबीरावली कहा जाता है में छापा गया है।

(6) अमर सिंह रमण (1932-2015) की आरंभिक शिक्षा डच प्राइमरी स्कूल में हुई स्वाध्याय से हिंदी पढ़ना आरंभ किया और फिर कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। सन् 1960 में भारत से श्री महातम सिंह के आने से इन्हें प्रेरणा मिली तथा 1980 में भारत जाकर हिंदी अध्ययन किया। निरंतर हिंदी अध्यापन भी करते रहे। सूरीनाम के स्वतंत्र होने से पहले आप हॉलैंड चले गए थे किंतु हिंदुस्तानी पीढ़ी के भविष्य की चिंता में अपने व्यक्तिगत हित को न देखते हुए आप सूरीनाम लौट आए। कुछ समय कृषि मंत्रालय में कार्यरत रहे कई वर्षों तक सनातन धर्म मंदिर के सभापति रहे। अमर सिंह जी की कविताओं का अध्ययन करने पर पता चलता है कि ये लोक चेतना और अंतर चेतना के सफल कवि हैं और सरनामी व मानक हिंदी दोनों में ही अपने भाव कुशलता से प्रकट करते हैं। सरल हृदय श्री रमण बहुमुखी प्रतिभा के धनी रचनाकार हैं।

विभिन्न त्योहारों पर अवसरानुकूल गीत और नाटक लिखते रहे हैं, जिनका मंचन भी किया जाता था, किंतु इनमें से बहुत कम प्रकाशित हो पाए हैं। काव्य, नाटक, निबंध के रचयिता, एक कुशल अभिनेता, रंगमंच निर्देशक, गायक और सामाजिक कार्यकर्ता भी थे। इनकी प्रकाशित कृतियाँ हैं–

(i) फूलों के पंछी (पद्य)

(ii) कृष्ण सुदामा और लक्ष्मी पूजा (नाटक)

(iii) फूलों का बहार (पद्य)

(iv) वसंत-होली (गद्य और पद्य)

सूरीनाम में हिंदी साहित्य के विकास को गति प्रदान करने में आपका विशेष योगदान रहा है और आगामी पीढ़ियाँ उनकी कर्मठता और साहित्य कौशल से प्रेरणा लेती रहेंगी।

(7) डॉक्टर जीत नराइन (जन्म 7 अगस्त 1948) प्राथमिक शिक्षा सूरीनाम में पूरी करने के बाद 1968 से चिकित्सा शास्त्र की पढ़ाई करने के लिए हालैंड गए और चिकित्सक बनकर 1982 तक द हेग में चिकित्सक के रूप में कार्य करते रहे। स्वभाषा संस्कार से प्रेरित नाराइन जी अकेले ही सरनामी पत्रिका का प्रकाशन करते हुए अपनी मातृभाषा का प्रचार-प्रसार करते रहे। जीत नाराइन ने थिओ दामस्तीग के साथ मिलकर डच-सरनामी व्याकरण की एक पुस्तक 'का हाल' तैयार की और दूसरी पुस्तक 'द देवनागरी स्क्रिप्ट' विशेष रूप से उन लोगों के लिए तैयार की जो अपने आप हिंदी (देवनागरी) पढ़ना लिखना और जानना चाहते हैं। इस पुस्तक की विशेषता यह है कि इसमें डच, अँग्रेजी, सरनामी, स्रनाँग व जावा को माध्यम बनाया गया है। यह पाँचों सूरीनाम की मुख्य भाषाएँ हैं और जिन्हें भी इनमें से कोई भी भाषा आती है वह सरलता से हिंदी व देवनागरी लिपि सीख सकता है।

सन् 1991 में सूरीनाम की राजधानी पारामारीबो में वापस आकर एक स्वास्थ्य चिकित्सालय चला रहे जीत नाराइन डच व सरनामी दोनों भाषाओं के कवि हैं और ज़्यादातर अपने पूर्वजों की स्मृति स्तुति में और उनकी देन पर लिखते हैं। उनकी कविताएँ आधुनिक परिदृश्य में उच्चकोटि की हैं और उनमें वेदना और विद्रोह की जनोन्मुखी चेतना के भाव दिखाई देते हैं। कवि की भाषा में मानवीय मूल्यों की गहरी पैठ है। उनके स्वर में रोष है और जोश भी, मन में जिजिविषा है। इनकी कविताएँ आरंभ होती हैं सूरीनाम की आज़ादी के आसपास से।

इनकी कविताओं के संकलन हैं–दाल भात चटनी-1977, हिंसा परसाद-1980, जोति अतिने गहरा झलका जतने उज्जर-1981, मांगे घाट पे जीवन झेले काहे नाव समुंदर खेवे-1984, बाटे हुआँ तू कहाँ-1988, दोस्ती की चाह, द देवनागरी स्क्रिप्ट, का हाल।

(8) सुरजन परोही का जन्म 2 फरवरी 1938 को सरमक्का जिले के एक कुम्हार परिवार में हुआ। आपकी सर्जनात्मक प्रतिभा न सिर्फ मिट्टी को रूप देती है अपितु मिट्टी से दीयों व बर्तनी की सर्जना करते करते शब्दों को भी बुनती रहती हैं जो कविताओं के रूप में उभरकर सामने आती हैं। इनकी कविताएँ राष्ट्रवादिता, धर्म, संस्कृति व समाज सुधार विषयों पर हैं। श्री सुरजन ने रेडियो पर 30 वर्ष तक रोज बच्चों के लिए चन्दामामा कार्यक्रम प्रसारित किया जो अत्यंत लोकप्रिय रहा। इस स्वाध्यायी व्यक्ति को विभिन्न संस्थाओं से कुल मिलाकर 36 पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं जिनमें वह राष्ट्रपति सम्मान को प्रमुख मानते हैं। इनकी रचनाएँ हैं—मोहिनी-1975, पिंजरे के पंछी-1976, यादगार।

भारतीय संस्कृति से अगाध प्रेम रखने वाले कवि सुरजन की भाषा परिष्कृत हिंदी है। इनकी कविताओं में एक ओर पुरखों की वेदना है तो वहीं सामाजिक चेतना भी है, दर्द और आवेश भी है। समसामयिक विषयों से भरपूर व ईश्वरीय भक्ति से ओतप्रोत कविताएँ प्रार्थना के स्वर लिए हुए हैं और जनसामान्य को प्रेरणा प्रदान करती हैं।

(9) पंडित हरिदेव सहतू (1942-2013) सूरीनाम में हिंदी के मूर्धन्य विद्वान माने जाने वाले पंडित सहतू ने हिंदी में राष्ट्र भाषा प्रचार समिति-वर्धा, भातर से विदेशों में आयोजित की जाने वाली सर्वोच्च हिंदी परीक्षा राष्ट्रभाषा रत्न तथा केंद्रीय हिंदी संस्थान, विभाग दिल्ली से हिंदी भाषिक अनुप्रयोग भाषा दक्षता की शिक्षा प्राप्त की व प्रधानाध्यापक डिप्लोमा प्राप्त किया। सूरीनाम और त्रिनिदाद में भोजपुरी और अवधी भाषाओं का प्रयोग तथा सूरीनाम में हिंदी भाषा तथा हिंदी साहित्य का इतिहास विषयों पर गहन शोध कार्य भी उन्होंने किया। वह कई वर्षों तक नि:शुल्क हिंदी की शिक्षा देते हुए सूरीनाम में हिंदी के विकास में मूल स्तंभ बने रहे। सूरीनाम में पाठ्य पुस्तकों के निर्माण में सहतूजी की महत्वपूर्ण भूमिका रही। वे सूरीनाम में हिंदी में प्रकाशित होने वाली स्थानीय पत्रिकाओं सूरीनाम दर्पण, शब्दशक्ति के प्रधान संपादक थे। सहतूजी ने गद्य व पद्य दोनों विधाओं में लिखा। वह स्थानीय हिंदी पत्रिका 'सेतु बंद' से भी जुड़े रहे। 25 नवंबर 2001 को आपने सूरीनाम के हिंदी व सरनामी रचनाकारों की रचनाएँ प्रकाशित कराने के उद्देश्य से सूरीनाम साहित्य मित्र संस्था का गठन किया।

आपकी रचनाएँ हैं—सूरीनाम में हिंदी भाषाओं और साहित्य के विकास का इतिहास, कई लेख व स्फुट कविताएँ, भारतीय राजदूतावास द्वारा प्रकाशित मंजूषा पाठमाला 1, 2, 3 में सहयोग व परामर्श।

नि:स्वार्थ सेवा के लिए राष्ट्रपति से सम्मान-प्राप्त, सामाजिक-सांस्कृतिक संस्था अरविंद से सम्मान, भारतीय विद्या संस्थान (ट्रिनिडाड) द्वारा सम्मानित, सूरीनाम सांस्कृतिक संघ द्वारा सम्मानित, भारत के राजदूतावास द्वारा दो बार सम्मानित।

(10) पंडिता सुशीला बलदेव मल्हू (जन्म 4 अक्टूबर 1946) सक्रिय रूप से भाषा व संस्कृति के प्रचार-प्रसार में लगी हुई हैं। भौगोलिक विज्ञान में विशेष प्रशिक्षण

प्राप्त किया व भारत से विदेशों में आयोजित की जाने वाली सर्वोच्च हिंदी परीक्षा राष्ट्रभाषा रत्न तथा केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से हिंदी भाषा की शिक्षा प्राप्त की। आप विश्वविद्यालय में भौगोलिक विज्ञान की अध्यापिका और सक्रिय रूप से भाषा व संस्कृति के प्रचार में लगी हुई आर्य समाज की सक्रिय पंडिता जो समाज की कुरीतियों के विरुद्ध सदैव खड़ी रहती हैं, वेदों-उपनिषदों की ज्ञाता हैं। अपनी कविताओं में पुराने वन एकोपिरोती समाज को शिक्षा प्रदान करती हैं।

शुद्ध परिष्कृत संस्कृतनिष्ठ हिंदी का प्रयोग करने वाली सुशीला भारतीय हिंदू संस्कृति से जुड़ी तो हैं किंतु वर्तमान के प्रति सजग हैं और उसी के अनुसार रहने की सीख देती हैं। इन्होंने अनेक स्फुट कविताओं की रचना की है जो समय-समय पर सूरीनाम में प्रकाशित होने वाली स्थानीय पत्रिकाओं शब्द शक्ति, हिंदी नामा आदि में छपती रहती हैं।

(11) जन सुरजनाराइन सिंह सुभाग (जन्म 1959) आपने समाज विज्ञान में स्नातकोत्तर उपाधि, हिंदी में मध्यमा, पुलिस प्रशिक्षण प्राप्त, किया और अनुसंधान कार्यों में लगे हुए हैं। आप सूरीनाम सरकार के स्वास्थ्य मंत्रालय में सलाहकार के पद पर कार्य करते हैं व कई अन्य समाजिक संगठनों से जुड़े हुए हैं व हिंदुस्तानी जनता की सहायता के लिये सदैव तत्पर रहते हैं। 1983 से 1992 तक 'भाषा' नामक पत्रिका के संपादन में योगदान देते रहे, बिदेसिया परियोजना में आपका विशेष सहयोग रहा, अपने पूर्वजों की संस्कृति तथा पंरपरा के समर्पित प्रचारक सूरज के मन पर पूर्वजों का जीवन अंकित है। सूरज जी की कविताओं में सुख-दुख की सहज अभिव्यक्ति हैं। सरल भाषा में कहानियों का संकलन 'मेरी आवाज़' 1982 में प्रकाशित हुआ। वर्ष 2009 में कहानियों का संकलन 'किस्सा कहानी' प्रकाशित हुआ। सूरज हिंदी और भारतीय संस्कृति के प्रचार में लगे हुए हैं। पत्रिका भाषा, सरनामी में कई लेख छपे तथा स्थानीय समाचार पत्रों में लेख छपते रहते हैं। आपको जून 2008 में सूरीनाम सांस्कृतिक संघ से तथा नवंबर 2008 में राष्ट्रपति सम्मान प्राप्त हुआ। आपकी लिखी पुस्तकें हैं—मेरी आवाज-1982 और किस्सा कहानी-2009।

(12) संध्या भग्गू-(5 अप्रैल 1948) निजी व्यवसाय में लगी उद्यमशील महिला हैं जिन्होंने भरे पूरे परिवार से समय निकाल कर कविता लेखन आरंभ किया। इन्होंने आरंभिक शिक्षा डच स्कूल में प्राप्त की और स्वाध्याय से हिंदी पढ़ना आरंभ किया, हिंदी में कोविद परीक्षा उत्तीर्ण कर चुकी हैं तथा राष्ट्रभाषा रत्न के लिये अध्ययनरत् हैं। उनकी दो पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं-आचार (2008), संध्या अपने पूर्वजों के दर्द को अनुभव करती हैं। भारत देश के प्रति अपने प्रेम को उन्होंने अपनी कविताओं में दर्शाया है। उनकी कविताएँ संस्कृति के प्रति अपना प्रेम दर्शाती हैं और हिंदी सीखने की आवश्यकता को स्पष्ट करती हैं। उनकी भाषा सरल सहज है।

(13) तेज प्रसाद खेदू (1 सितंबर 1965) ने हिंदी में राष्ट्र भाषा प्रचार समिति, वर्धा, भारत से विदेशों में आयोजित की जाने वाली सर्वोच्च हिंदी परीक्षा राष्ट्रभाषा रत्न तथा केंद्रीय हिंदी संस्थान आगरा से हिंदी भाषा की शिक्षा प्राप्त की। श्री खेदूजी सूरीनाम हिंदी परिषद के निदेशक भी रह चुके हैं और निरंतर उत्साहपूर्वक हिंदी अध्यापन कर रहे हैं। आपने अनेक स्फुट कविताएँ जो समय समय पर सूरीनाम में हिंदी में प्रकाशित होने वाली स्थानीय पत्रिकाओं शब्द शक्ति, हिंदी नामा आदि में छपती रही हैं।

(14) सुशीला सुक्खू-(27 जून 1970) की आरंभिक शिक्षा डच स्कूल में हुई फिर राष्ट्रभाषा रत्न की परीक्षा उत्तीर्ण की व भारत में केंद्रीय हिंदी संस्थान आगरा से हिंदी भाषा की शिक्षा प्राप्त की। आपने अनेक स्फुट कविताओं की रचना की है जो समय समय पर सूरीनाम में हिंदी में प्रकाशित होने वाली स्थानीय पत्रिकाओं शब्द शक्ति, हिंदीनामा आदि में छपती रही हैं।

हिंदी की समर्पित अध्यापिका सुशीला एक सामाजिक सांस्कृतिक कार्यकर्ता हैं और नाटक अभिनय आदि में भाग लेती हैं। वह निकेरी जिले में सूरीनाम साहित्यमित्र संस्था की संयोजक के रूप में कार्य करती हैं। अपनी भाषा व संस्कृति के प्रति पूर्णत: सजग सुशीला अपनी कविताओं से समाज की कुरीतियों के विरुद्ध डटे रहने की सीख देती हैं।

(15) देवानंद शिवराज-(1944-2016) भारतीय सांस्कृतिक केंद्र में हिंदी अध्ययन कर राष्ट्रभाषा प्रवेश की परीक्षा उत्तीर्ण कर चुके एक सहृदय सामाजिक कार्यकर्ता थे और शिक्षा मंत्रालय में कार्य करते थे। आपने अनेक स्फुटक कविताओं की रचना की जो समय समय पर सूरीनाम में हिंदी में प्रकाशित होने वाली स्थानीय पत्रिकाओं शब्द शक्ति, हिंदी नामा आदि में छपीं। अपने पूर्वजों की संस्कृति तथा परंपरा के समर्पित प्रचारक, हिंदी भाषा के प्रचार प्रसार में लगे हुए हैं और सूरीनाम साहित्य मित्र संस्था के सक्रिय सदस्य हैं। बहुमुखी प्रतिभा वाले कवि, भजनिक, अभिनेता, हिंदी अध्यापक देवानंद की कविताएँ सरल भाषा में व्यक्त भावोद्गार हैं। 'सूरीनाम देश हमारा' नामक एक कविता में उन्होंने बहुत सुंदरता के साथ सरल शब्दों में वर्तमान और ऐतिहासिक स्थिति का वर्णन किया है।

(16) धीरज कंधई-22 फरवरी 1982 को पारामारीबो में जन्मे युवा कवि धीरज अपनी पीढ़ी के लिए एक मिसाल हैं। इनकी भी आरंभिक शिक्षा डच स्कूल में हुई, आप एक प्रशिक्षित शिक्षक हैं और हिंदी में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा, भारत से विदेशों में आयोजित की जाने वाली सर्वोच्च हिंदी परीक्षा राष्ट्रभाषा रत्न उत्तीर्ण की है। आपने अनेक कविताएँ लिखीं जो समय समय पर सूरीनाम में हिंदी में प्रकाशित होने वाली स्थानीय पत्रिकाओं में छपीं। कवि धीरज की कविताओं में नैतिक व सामाजिक बोध है। उनकी कविता हिंदी भाषा प्रेमियों को बहुत उत्साह व प्रेरणा प्रदान करती है।

(17) राम नारायण झाव-(10 नवंबर 1909) 1930 से ही आर्य दिवाकर के संस्थापक सदस्य रहे और हिंदी के प्रचार-प्रसार में सक्रिय रूप से लगे रहे। यह मुख्यत: गद्य लेखक थे और इनकी दो पुस्तकें छपीं—

(i) सूरीनाम देश और उसके निवासी (सन् 1975 में)

(ii) सूरीनाम के भारतवंशी (सन् 1983 में)

(18) रामदेव रघुबीर (2 अगस्त 1939-4 जुलाई 2009) आरंभिक शिक्षा डच स्कूल में प्राप्त करके स्वाध्याय से हिंदी पढ़ना आरंभ किया, बाबू महातम सिंह से प्रेरणा मिलने पर हिंदी पढ़ाई जारी रखी है व हिंदी में राष्ट्रभाषा रत्न परीक्षा उत्तीर्ण की फिर हॉलैंड में नाटक प्रशिक्षण प्राप्त किया। आपकी मुख्य रचनाएँ हैं राखी मन-ज्ञान, संस्कृति की बातें, हिंदुस्तान्स म्यूज़िक इन सूरीनाम। इसके अतिरिक्त अनेक स्फुटक कविताएँ व नाटक जैसे हिरण्यकश्यप, लक्ष्मीपूजन, पंचायत, एक गाँव की लड़की, विवाह संस्कार, रक्षाबंधन आदि की रचना की। हिंदी में विशेष समाचार आरंभ करने का श्रेय आपको जाता है। रामदेव जी व्यवसाय में लगे उद्यमशील व्यक्ति थे जिन्होंने भरे-पूरे परिवार से समय निकाल कर कविता लेखन आरंभ किया। उनका हिंदी व ध ार्मिक सत्संग से प्रेम रहता था। उनकी अधिकतर कविताएँ संस्कृति के प्रति अपना प्रेम दर्शाती हैं। उनकी भाषा सरल सहज हैं।

(19) प्रेमानंद भोंदू (जन्म 24 दिसंबर 1936) आरंभिक शिक्षा डच स्कूल में प्राप्त की और हिंदी अध्ययन स्वाध्याय से किया और निरंतर उत्साह पूर्वक हिंदी अध्यापन कर रहे हैं। आपने टेलीविज़न पर हिंदी ज्ञान प्रतियोगिता आरंभ की जो कई वर्ष से जारी है। आपकी मुख्य कृतियाँ हैं—हिंदी स्वयं शिक्षा, परदेसी, मित्रता, तकदीर, दीपक आप अपने पूर्वजों की संस्कृति तथा परंपरा के समर्पित प्रचारक, हिंदी भाषा के प्रचार प्रसार में लगे हुए हैं।

(20) पंडित सूर्य प्रसाद बीरे का जन्म 13 मई 1948 को सूरीनाम में हुआ। आरंभिक शिक्षा डच स्कूल में प्राप्त की और हिंदी पाठशाला व सूरीनाम हिंदी परिषद से हिंदी शिक्षा प्राप्त की, केंद्रीय हिंदी संस्थान से डिप्लोमा प्राप्त किया तथा उच्चतर अध्ययन लेइदिंग विश्वविद्यालय, हॉलैंड में किया।

समय समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, स्मारिकाओं में अनेक लेख प्रकाशित होते रहते हैं तथा मुख्य कृतियाँ हैं—पंडित रामाधार वैदिक संस्काराचार्य की संक्षिप्त जीवनी और सूरीनाम देश और अप्रवास जीवन तथा हवन पुस्तक। 1983 में दिल्ली में आयोजित तृतीय विश्व हिंदी सम्मेलन में सम्मानित किया गया और 2009 में मॉरीशस में कर्मयोग पुरस्कार प्राप्त किया। आप ओ.एच.एम. टेलीविजन के मुख्य संपादक पद से सेवानिवृत्त होकर आर्य समाज सेवा में लगे हुए हैं। कई वर्ष सूरीनाम हिंदी परिषद

के सचिव रहे व निरंतर हिंदी अध्यापन करते रहे हैं। सूरीनाम में हिंदी साहित्य के विकास को गति प्रदान करने में आपका विशेष योगदान रहा है। आपके सभी लेख समाज, संस्कृति व भाषा के इर्द-गिर्द रहते हैं।

(21) रामदेव महाबीर-7 अक्टूबर 1941 को सूरीनाम में जन्मे श्री महाबीर ने सूरीनाम तकनीकी स्कूल से डिप्लोमा प्राप्त किया। आप आर्य समाज पंडित, व सूरीनाम साहित्य मित्र संस्था के सदस्य हैं। आपकी मुख्य कृतियाँ हैं—रास्ता एक है—भाग 1, रास्ता एक है—भाग 2 (प्रकाश में) श्री महाबीर जी जीवन की अस्थिरता और ईश्वर के प्रति प्रेम पर जोर देते हैं। आपकी रचनाओं में कहीं कहीं कबीर की झलक मिलती है।

(22) रबीन सतनाराइन सिंह बलदेव सिंह-का जन्म 26 जून 1962 को पारामारीबो, सूरीनाम में हुआ, 1975 में नीदरलैंड पहुँचे और 1980 से द हेग में हैं। द हेग नगरपालिका के अंतर्गत सांस्कृतिक विविधता और नागरिक मामलों में क्रियाशील रहे हैं। मई 2006 से द हेग नगरपालिका के उप-मेयर के पद पर कार्य कर रहे हैं। हिंदुस्तानी फिल्म व संगीत उत्सव आरंभ कराने, होबेमाप्लाइन पर राष्ट्रीय हिंदुस्तानी अप्रवासी स्मारक बनवाने और सरनामी हाउस आरंभ करने में आपका विशेष योगदान रहा है। आपने कई सरनामी कविताएँ और उपन्यास लिखे। सरनामी में पहला लंबा गद्य सन् 1984 में प्रकाशित रबिन एस बलदेव सिंह का उपन्यास 'इस्तीफा' (Farewell) था। इसके बाद इन्हीं का दूसरा उपन्यास 'सुनवाई कहाँ' सन् 1987 में छपा।

(23) राजमोहन का जन्म 28 अगस्त 1962 को पारामारीबो, सूरीनाम में हुआ, 1974 से नीदरलैंड प्रवास। आपने हॉलैंड व भारत में शास्त्री संगीत की शिक्षा प्राप्त की।

आपकी मुख्य कृतियाँ हैं—आपकी कृतियों में दो पुस्तकें-बपौती और ..... व, गीतों की पाँच काले बादल, कृष्ण मुरारी, दायरा और दुई मुट्ठी उपलब्ध हैं।

राजमोहन हिंदुस्तानी गायक, गीतकार व संगीतकार हैं। आप सरनामी, हिंदी, वस्रनांगटोंगो में कविताएँ लिखते हैं। 2003-04 में हर सप्ताह आपकी एक सरनामी कविता राष्ट्रीय डच रेडियो पर प्रसारित की जाती रही। आप अन्य भाषा की रचनाओं को हिंदी अनुवाद करके के भी गाते हैं। शब्द लय और ताल के अनूठे संगम से आपने सरनामी गीत को रूप दिया। राज जी की रचनाएँ मुख्यत: अप्रवास और गिरमिट के इर्दगिर्द घूमती है किंतु उन्होंने अपनी कविताओं में हिंदुस्तानी और भारतीय समाज में मौजूद कुरीतियों पर भी अँगुली उठाई है।

(24) सुश्री चाँदनी का जन्म 8 मार्च 1965 को सूरीनाम में हुआ और शिक्षा सूरीनाम के डच स्कूलों में हुई। आपकी मुख्य कृतियाँ हैं—घुंघरू टूट गइल (कविता संग्रह-1990), घर घर के खेल (कविता संग्रह-2002), राख के घर (उपन्यास-2002)।

हॉलैंड में स्वतंत्र लेखन व साहित्य रचना में क्रियाशील हैं। आपकी कविताएँ तीव्रतम अनुभूतियों के उद्‌गार हैं। कविताओं में सूरीनाम छोड़कर जाने वाले हिंदुस्तानियों की भावनाओं का चित्रण है और वर्षों बाद अपने देश को देखने का आह्‌लाद है। स्मृति की तहों से उभरती ये कविताएँ चलचित्र के समान चलती रहती हैं।

(25) चित्रा गयादीन का जन्म 21 जून 1954 को सूरीनाम में हुआ और आरंभिक शिक्षा डच स्कूलों में हुई, सरनामी/हिंदी अध्ययन स्वाध्याय से किया। आपकी मुख्य कृतियाँ हैं—कब के याद (सरनामी कविताएँ), भरी दोपहर (कहानी संकलन), सावित्री (नाटक)।

अभी वह साप्ताहिक अखबारों के लिए समीक्षक का कार्य करती हैं। आपकी कविताएँ शब्दों में ढली व्यक्तिगत अनुभूतियाँ हैं। कविताओं में सूरीनाम के सामान्य जन जीवन का चित्रण है, देश के, अपनी जड़ों के प्रति आदर भाव है और सामाजिक व्यवस्था पर कटाक्ष है।

(26) मार्तिन हरिदत्त लछमन श्रीनिवासी का जन्म 12 दिसंबर 1926 को सूरीनाम में हुआ। पारामारिबो में अध्ययन कर शिक्षक की उपाधि प्राप्त की और अध्यापन कार्य आरंभ किया। आपने पारामारिबो, निकेरी, क्यूरासाओ और देन हेग (नीरदलैंड्स) में अध्यापन कार्य किया। आपकी हिंदी कृतियाँ हैं अंजली, दिलाकार, प्रतीक्षा। डच भाषा में आपने कई कृतियाँ रची हैं और बहुत से सम्मान प्राप्त किए हैं जैसे गवर्नर क्यूरी पुरस्कार, सूरीनाम का राष्ट्रीय साहित्य पुरस्कार, भारतीय राजदूतावास से महात्मा गांधी हिंदी सेवा पुरस्कार, वेदांत पुरस्कार। आजकल आप क्यूरासाओ में रहकर स्वतंत्र लेखन कर रहे हैं।

(27) राज रामदास का जन्म 1953 में ब्रिटिश गयाना में हुआ वहाँ से वे सूरीनाम गए और फिर 1974 में अँग्रेजी व तुलनात्मक साहित्य अध्ययन के लिए हॉलैंड चले गए। आप डच भाषा के शिक्षक हैं और कविताएँ सरनामी और गद्‌य डच में लिखते हैं। वर्ष 2003 में आपका कविता संग्रह *'कहाँ है उ' छपा।*

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य लोगों ने भी समय समय पर लिखा है—

पंडित हलधर मथुरा प्रसाद—धार्मिक साहित्य संकलन

बलराज शिवनाथ—गुरु ऋण, सुमन माला

संझरी द्‌वारका सिंह—जेठू, सृष्टि

बिहारी लाल कल्लू—पुकार, अपनी की खोज में

तर्क शास्त्री लेखराम केवल—ऋषि दयानंद का सत्य स्वरूप

शिवरतन रामदुखी—सत्संग प्रकाश

कमला जगमोहन—विश्व हिंदी सम्मेलन नागपुर

रामचरण आर्य—प्रवासी इतिहास सुमन माला

किसुनदयाल रामदास—वैदिक चमत्कार

संतोखी सुरेंद्र—मेरी यादें

साथ ही नए साहित्यकारों की लंबी सूची है जैसे अमित अयोध्या, वीना अयोध्या, विकास समोधी, डॉक्टर कारमेन जगलाल, कृष्ण कुमारी भिखारी, संध्या लुल्क, तारावती बद्री, लीलावती कल्लू, सुमित्रादेवी बलदेव। ये सभी नए कवि और लेखक मुख्यत: मानक हिंदी में ही लिखते हैं। इनकी रचनाएँ शब्द-शक्ति नामक पत्रिका में छपती रहती हैं।

सूरीनाम के सभी साहित्यकारों ने बहुत अधिक मात्रा में साहित्य भले ही न रचा हो किंतु जितना भी साहित्य रचा गया है उसमें विषयगत विविधता है। प्रवास का दर्द, देश छोड़ने का मलाल, अपनों की याद, नई जगह पर मिले कष्ट व यातनाएँ, अपनी संस्कृति व भाषा के प्रति लगाव है।

सूरीनाम में हिंदुस्तानियों की स्थापना की कहानी है, उनकी प्रगति का विवरण है मन में उठने वाले भावों का चित्रण है, जब अमर सिंह रमण कहते हैं—

अब तो मेरा देस यही है
कहूँगा मैं दोहराए के
किसी ने परदेसी जो कहा
मारूँगा ढेला बहाय के....

तो वह सूरीनाम में हिंदुस्तानियों की स्थापना में एक ऐतिहासिक मोड़ है जब उन्होंने सूरीनाम की धरती को अपना लिया।

सुरजन परोही जब लिखते हैं.....

देश के किसान तेरे हाथों में हैं हंसिया कुदाली
तू ही है इस उपवन का माली
पैसा सोना चाँदी हीरे मोती
यही सब कुछ है दुनिया में
इन्हें कोई खाता है?

.....तो उनका संकेत उन हिंदुस्तानियों की ओर है जिन्होंने कठिन परिस्थितियों में खेती बाड़ी कर, जंगल काटकर सूरीनाम देश को उन्नति की राह पर अग्रसर किया, गोरे अधिकारियों के पास सब साधन थे किंतु अनाज तो पसीना बहाकर ही उगाया जाता है।

साहित्यकार का उद्देश्य समाज की कुरीतियों को उकेर इन्हें आम जनता को दिखाना है यह स्पष्ट है सुरजन परोही जी की कविता एकता से। एक समय था जब

सूरीनाम में आर्य समाज और सनातन धर्मियों के बीच बहुत मतभेद था, ऐसे में उन्होंने लिखा–

एक पंछी
दो पंखों के सहारे
उड़ता है
एक टूट जाए तो
वह उड़ न सकेगा
श्री सनातन धर्म
आर्य समाज
दोनों का संबंध
पंखों की तरह है
और
उनका जीवन वेद है।

डॉ. कारमेन जगलाल ने अपनी कविता 'क्या से क्या हो गए हम' में बदले हुए परिवेश को उकेरते हुए ईश्वर से उद्धार करने की गुहार की है–

हम क्या थे और क्या हो गए
चारों ओर पलता है झूठा अहंकार
मनुष्यता की पहचान है अब बेकार
हम क्या थे और क्या हो गए.....
हाय हो गयी है मानवता की हार
खुलता नहीं कहीं इंसानियत का द्वार
हाय कब करेगा आदमी अच्छा विचार
हे प्रभु आप ही करो हमारा उद्धार

बीते दिनों को याद कर राजमोहन लिखते हैं–

बैठक के रंग में खेल ले तू होली
बेजती भी होइगे तोर धारु के नसा में
दिवाली के पूजा में कब तोके पूछी
माँच पे आखिर कब मिलेगा नौता
काहे बिमार पड़ल बाटे रे भासा
काहे तू रोवे है आने में हेए के
लँठाइ लँठाइ में ताना सुनाए के
पास होवे अब्बे ले सब तोके नाँग के

राज रामदास की कविताएँ बीते दिनों को याद के साथ साथ कोमल भावों को लिए हुए हैं–

जहाँ पे
हम और तू
मिलत रहली
हुँआ
अब एगो दारु के दुकान है
पास जब होइला
तब मद्धिम चिराग में
मद्धिम आवाज़ में
बोल बात सुना है
कभी
नसेढ़ी के गीत भी
आम के पेड़ जौन रहा
उ तो कब्बे ना कटाइ गे
हबड़वा में
जौन छोटी के घरवा रहा
अब खाली है
ओकर रंग छूटगे
भला
इ सब बात
तू जानत होइए

उम्मीद और नाउम्मीद के मौसम में इस तरह जीवन के हर एक रंग को समेटे सूरीनाम का साहित्य वहाँ के प्रवासियों को समझने के लिए, उनकी पीड़ा, उनकी खुशियों का अहसास करने के लिए बहुत आवश्यक है। यह साहित्य ऐतिहासिक व समाजशास्त्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यद्यपि भारत में रचित साहित्य से उसकी तुलना नहीं की जा सकती तो भी वह गिरमिटिया जीवन का सच्चा दर्पण है। आरंभ से आज तक की परिस्थितियों का स्वरूप प्रस्तुत करता है और इसी दृष्टि से अमूल्य है।

❑❑

गिरमिटिया हिंदी-भाषा और साहित्य

डॉ. विमलेश कांति वर्मा

गिरमिटिया हिंदी आज एक पारिभाषिक शब्द है और इसका तात्पर्य उस हिंदी से है जो गिरमिट प्रथा के अंतर्गत भारत से दूर विविध देशों में गए तथा अपने प्रवास काल में भारतीयों द्वारा पारस्परिक बोलचाल के लिए विकसित हुई थी। इस गिरमिटिया हिंदी के फिजी, सूरीनाम तथा दक्षिण अफ्रीका में नए नए रूप विकसित हुए जो फिजीबात, सरनामी तथा नैताली आदि नामों से प्रसिद्ध हुए।

उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार विदेश में प्रवासी भारतीयों की संख्या लगभग दो करोड़ चालीस लाख बताई जाती है। ये प्रवासी भारतीय सुखद भविष्य की खोज में विदेश गए थे और फिर वहीं बस गए। इन विदेश में बसे हुए भारतीयों को स्पष्टत: दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पहले वर्ग में वे भारतीय हैं जो 19 वीं सदी के पूर्वार्ध से 20 वीं सदी के पूर्वार्ध तक मॉरीशस (1834), गुयाना (1838), त्रिनिदाद (1845), दक्षिण अफ्रीका (1860), सूरीनाम (1873) तथा फिजी (1879) आदि देशों में गिरमिट के रूप में विदेशी एजेंटों द्वारा गन्ने के खेतों में काम करने के लिए बहला फुसलाकर सुखद भविष्य का सपना दिखाकर विदेश ले जाए गए थे और फिर गिरमिट की अवधि पूरी होने पर विदेश में ही बस गए। इन देशों में इन भारतीयों की चौथी और पाँचवी पीढ़ी आज रह रही है। इनमें से बहुतों का भारत आना कभी नहीं हुआ पर वे भारत को अपने पूर्वजों की भूमि मानते हुए भारत से आत्मीय लगाव रखते हैं। अपने भारतीय जीवन मूल्यों का सम्मान करते हैं और अपनी भाषा की सुरक्षा और प्रतिष्ठा के लिए निरंतर प्रयत्नशील हैं। इन भारतीयों ने गिरमिट जीवन की कठोर यंत्रणाएँ सहीं पर गिरमिट का समय समाप्त होने पर नए देश को अपना लिया और उसके पुनर्निर्माण में उनकी बड़ी भूमिका रही। कालांतर में ये उस देश के प्रतिष्ठित नागरिक बने, सत्ता में उनकी भागीदारी भी रही। उनकी अपनी भाषा और संस्कृति को उस नए देश में सम्मान मिला। मॉरीशस के शिवसागर राम गुलाम, फिजी के महेंद्र चौधरी, त्रिनिदाद के वासुदेव पांडे इसका उदाहरण हैं। संभवत: इसका कारण यह भी रहा कि इन देशों में

प्रवासी भारतीयों की संख्या पर्याप्त थी और देश के निर्माण में उनकी प्रमुख भूमिका भी रही। सन् 1984 में राजनीतिक सत्ता के परिवर्तन के पहले तक तो फिजी में प्रवासी भारतीयों की संख्या देश की जनसंख्या का लगभग 52% तक थी जो कर्नल रांबूका के सत्ता पलट प्रयत्न के कारण सन 1987 में 48% तक रह गयी थी और जो आज कम होते-होते 40.1% रह गयी है। प्रवासी भारतीयों के संख्या बाहुल्य ने सर्वदा विदेश में उनकी अस्मिता को बनाए रखने में उनकी सहायता की है। जिन देशों में भारतीय गिरमिट के रूप में गए थे उन देशों में आज भी इन देशों में मूल निवासियों की तुलना में भारतीयों का अच्छा प्रतिशतक है।

दूसरी कोटि में उन प्रवासी भारतीयों की गणना की जा सकती है जो बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में सामान्यत: भारत के स्वाधीन होने के बाद विकसित देशों में यथा अमेरिका, कनाडा, जर्मनी, इंग्लैंड, हॉलैंड, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, पुर्तगाल, फ्रांस और खाड़ी के देशों में गए। वे वहाँ पहले अभियांत्रिकी, चिकित्सा, सूचना प्रौद्योगिकी और तकनीकी आदि विविध विषयों की शिक्षा के लिए या कुशल/अकुशल श्रमिक कार्य के लिए गए थे और वहीं बस गए। इनका भारत आना जाना निरंतर बना रहता है और ये सामान्यत: सुविधा भोगी संपन्न भारतीय के रूप में जाने जाते हैं। अपनाए गए नए देश के निर्माण में इनकी कोई विशिष्ट सामाजिक भूमिका नहीं रही इसलिए पहली कोटि के भारतीयों की तरह देश की सत्ता में भी इनकी भागीदारी सामान्यत: नहीं रही। यद्यपि अपनी योग्यता के कारण वे व्यक्तिगत स्तर पर संपन्न नागरिक बने, अपने कार्य क्षेत्र में उन्होंने प्रसिद्धि भी पाई पर भारतीय जनवर्ग की उस नए अपनाए गए देश के निर्माण में कोई विशेष भूमिका नहीं रही, इसलिए विदेश में उनकी विशेष सामाजिक छवि भी नहीं बनी। वे धन की लालसा में नए देश में आने वाले भारतीय ही माने गए। इसका प्रमुख कारण यह भी रहा कि मूल निवासियों की तुलना में इनका प्रतिशतक बहुत कम रहा और वे संगठित नहीं रहे।

विदेश में अपने स्वार्थ से बसे हुए इन भारतीयों की एक समुदाय के रूप में प्रतिष्ठा नहीं बन पाई, वे मूल निवासियों से घुल मिल नहीं पाए और उनके लिए राष्ट्रीय अस्मिता का प्रश्न जब उठा तो उनके बीच संपर्क भाषा के रूप में सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषा हिंदी ही उनकी राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान बनी। सुरक्षा और सहयोग के लिए उन्होंने साथ रहना उपयोगी समझा जो सुख दु:ख के अवसर पर उनके सहभागी बन सकें।

कहा जाता है कि दुनिया में दो देश ऐसे हैं जहाँ के रहने वाले विदेश में पर्याप्त समय रहने के बाद भी नए देश की संस्कृति में घुल मिल नहीं पाते या यों कहें कि वे विदेशी संस्कृति में अपने को ढाल नहीं पाते। वे अपने संस्कारों और जीवन मूल्यों को सुरक्षित रखते हुए अपने खान-पान, वेश-भूषा, रीति-रिवाज़ को अधिक श्रेष्ठ मानते हुए उसका पालन करते हैं। कहा जाता है कि ऐसे देशों में भारत और चीन प्रमुख हैं। इन देशों से जो भी विदेश गए वे अपने देशवासियों के साथ ही एक समुदाय के रूप में ही

रहे। ये विदेश में भी एक छोटा स्वदेश बनाकर रहते हैं। अमेरिका में "न्यूजर्सी", इंग्लैंड में "मिडिल सेक्स", मलेशिया में "मस्जिद इंडिया", सिंगापुर में "लिटिल इंडिया", सऊदी अरबिया में "लिटिल एशिया" ऐसे ही स्थान हैं जहाँ जाने पर आपको लगेगा कि आप विदेश में नहीं भारत में ही हैं। इसी प्रकार आपको "चाइना टाउन" हर बड़े देश में दिखेगा जहाँ चीनी समाज एक साथ रहता है।

भाषा, संस्कृति का मुख्य घटक है। खान-पान, वेश-भूषा, रीति-रिवाज़ में सहज परिवर्तन दूसरी संस्कृति के प्रभाव से सहज ही हो जाता है पर भाषा जो मानवीय अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम है व्यक्ति उसे जल्दी नहीं छोड़ पाता। भाषा उसकी अस्मिता की सबसे बड़ी पहचान बन जाती है। यह तथ्य दोनों कोटि के प्रवासी भारतीयों के संबंध में सत्य है। जब प्रवासी भारतीयों की जनसंख्या का प्रतिशत दूसरे देश के मूल निवासियों की जनसंख्या के प्रतिशत के लगभग बराबर होता है वहाँ अपनी भाषा की सुरक्षा और प्रतिष्ठा सामान्यत: अधिक सरल होती है यथा मॉरीशस में प्रवासी भारतीयों का देश की जनसंख्या का प्रतिशत 68.3, (गुयाना में) 43.5, (त्रिनिदाद में) 40.2, (सूरीनाम में) 27.4, (फिजी में) 40.1 है। इन देशों में इसीलिए हिंदी सुरक्षित है। भारतीयों के अधिक प्रतिशत होते हुए भी हम देखते हैं कि गुयाना और त्रिनिदाद और टोबैगो में आज हिंदी लगभग लुप्त प्राय-सी है और उसका स्थान सत्ता की भाषा अंग्रेज़ी ने ले लिया है। इन देशों में आज भी पुरानी पीढ़ी के लोग हिंदी को बचाए हुए हैं पर वह लुप्त होने के कगार पर है, हिंदी बोलने वालों की संख्या निरंतर घटती जा रही है। यदि हम हिंदी के वैश्विक स्वरूप का विस्तार चाहते हैं तो उसे बचाने और बढ़ाने का प्रयत्न होना चाहिए।

यहाँ एक बात समझना आवश्यक है कि प्रथम कोटि के देशों में जिनमें मॉरीशस, सूरीनाम, फिजी और दक्षिण अफ्रीका आदि देशों की गणना है वहाँ के प्रवासी भारतीयों की हिंदी भारत की परिनिष्ठित खड़ी बोली हिंदी नहीं है। वहाँ की हिंदी भोजपुरी मिश्रित अवधी है जिसमें स्थानीय भाषाओं के शब्द मिले हुए हैं और जो प्रवासी भारतीयों के मध्य जहाजी भाईयों की भाषा के रूप में विकसित हुई है, जिसका उन्होंने नामकरण भी अलग रूपों में किया हुआ है। फिजी में वह फिजीबात, सूरीनाम में वह सरनामी और दक्षिण अफ्रीका में वह नैताली के नाम से जानी जाती है। यही हिंदी उनकी अपनी हिंदी है, जिसका वह दैनिक बोलचाल में प्रयोग करते हैं।

विदेश में बसे हुए प्रवासी भारतीयों को आपस में जोड़े रखने में महत्वपूर्ण भूमिका तुलसीदास द्वारा अवधी में लिखित रामचरित मानस की रही है। 19 वीं सदी में जितने भी भारतीय विदेश गए वे चाहें किसी भी देश में गए हों, वे अधिकांशत: हिंदी भाषी क्षेत्र से ही गए थे। वे भोजपुरी, अवधी, मारवाड़ी, मगही आदि भाषाएँ बोलते थे पर वे सभी रात को साथ बैठकर मानस की चौपाईयाँ ही गाते थे और दिन भर की थकान और अपमान को भूलने की कोशिश करते थे। रामचरित मानस प्रवासी भारतीयों के मध्य एक संजीवनी थी, वह उनके बीच एक आचार संहिता का काम

करती थी जिसने सभी प्रवासी भारतीयों को नए देश में संगठित तो रखा ही अपने सांस्कृतिक मूल्यों को भी सुरक्षित रखने में सहायक बनी। सभी प्रवासी भारतीय इसीलिए तुलसी कृत रामचरित मानस को सम्मान देने के लिए फिजी में मानस को "मारीच देश" नाम देकर राम और रामायण के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित किया है। मानस की भाषा अवधी है इसलिए कितने ही हिंदीतर भाषियों ने तो रामायण पढ़ सकने के लिए हिंदी-अवधी सीखी थी। यही कारण है कि सूरीनाम और फिजी जैसे दो देशों की इतनी भौगोलिक दूरी होते हुए भी मानस की चौपाईयाँ गाते-गाते सभी भारतीयों की प्रतिदिन के प्रयोग की भाषा अवधीमयी हिंदी बन गयी।

भारत की परिनिष्ठित हिंदी का प्रवासी भारतीय सम्मान करते हैं, विद्यालयों में छात्र माध्यम के रूप में इसे सीख भी रहे हैं, सृजनात्मक अभिव्यक्ति का वह माध्यम भी बन रही है पर वहाँ का प्रबुद्ध वर्ग अपनी हिंदी का समर्थन करता है क्योंकि वह उसमें अधिक अधिकार पूर्वक अपने को अभिव्यक्त करने में समर्थ पाता है। पर वहाँ का एक छोटा-सा वर्ग जिसने भारत में आकर हिंदी सीखी हुई है वह अपनी वर्चस्विता सिद्ध करने के लिए अपनी हिंदी को टूटी-फूटी और भ्रष्ट कहकर उनका तिरस्कार और विरोध करता है। परिणामस्वरूप फिजी, सूरीनाम और दक्षिण अफ्रीका जैसे देश जहाँ हिंदी का विस्तार और प्रसार संभव है वहाँ हिंदी का विरोध स्पष्ट दिखने लगता है। यह दो विचारधाराओं का पारस्परिक विरोध हिंदी के विकास में बाधा उत्पन्न करता है। जहाँ अपनी भाषा के बोलने वालों का प्रतिशत कम होता है यथा अमरीका में बसे प्रवासी भारतीयों का प्रतिशत 1.1, (कनाडा में) 3.74, (इंग्लैंड में) 2.3, (जर्मनी में) 0.94, (फ्रांस में) 0.1, (नेदरलैंड में) 0.7, (ऑस्ट्रेलिया में) 2.0, (न्यूजीलैंड में) 2.6 है वहाँ उनकी अपनी भाषा ही उनकी राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान बन जाती है जो उनके लिए उपयोगी है। यह राष्ट्रीय भाषिक अस्मिता उन्हें सुरक्षा, सहयोग और सहानुभूति देती है। इस प्रकार दोनों ही परिस्थितियों में प्रवासी अपनी भाषा की सुरक्षा, संरक्षा और सम्मान के लिए प्रयत्नशील रहता है। अमेरिका, कनाडा, इंग्लैंड, जर्मनी, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड आदि देशों में बसे हुए भारतीय तमिल, बांग्ला, गुजराती, पंजाबी भाषी होते हुए भी सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा हिंदी को राष्ट्रीय अस्मिता की प्रतीक भाषा मानते हैं और यह सामुदायिक अस्मिता की आवश्यकता उनकी विवशता है। यहाँ हिंदी सभी प्रवासी भारतीयों को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में देखी जाती है।

भाषा सुरक्षित और सबल तब होती है जब वह सृजनात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम बनती है। लिखित अभिव्यक्ति के लिए भाषा पर अच्छा अधिकार होना आवश्यक है। यह अधिकार सायास सीखी हुई भाषा पर उतना कभी नहीं होता जितना अपनी मातृभाषा पर अधिकार होता है। प्रवासी भारतीयों के मध्य हिंदी का स्वरूप गिरमिट काल में जो बना वह उनकी अपनी बोलियों और भारतीय भाषाओं का सम्मिश्रित रूप था जिसमें स्थानीय भाषाओं के शब्द थे। अवधी और भोजपुरी भाषा

क्षेत्र से आए अधिकांश गिरमिटियों की भाषा में कहीं भोजपुरी की प्रमुखता थी तो कहीं अवधी की। इन मिश्रित रूपों में फिजी में अवधी, काईबीती और अंग्रेज़ी भाषा का तथा सूरीनाम में अवधी, स्नागतोंगों और डच का तथा नैताली में भोजपुरी के साथ अफ्रीकांस का मिश्रण हुआ और नए हिंदी भाषा रूपों का उदय हुआ उनकी सृजनात्मक अभिव्यक्ति के प्रभावशाली भाषा रूप हो सकते थे। फिजीबात में जिन फिजी के लेखकों ने, सरनामी में जिन सूरीनाम के लेखकों ने अपनी रचनाएँ लिखी उनको विश्वव्यापी ख्याति मिली और वे विश्वमंच पर हिंदी लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। फिजी के सुब्रमणी ने फिजीबात में लिखकर तथा सूरीनाम के लेखक जीत नराइन, हरिदेव सहतू, अमर सिंह रमण, आशा राजकुमार, चित्रा गयादीन, श्रीनिवासी, रामनाथ सिवदीन आदि ने सरनामी में साहित्य सृजन कर वैश्विक साहित्यिक ख्याति तो अर्जित की ही अपनी कलात्मक, साहित्यिक और भाषिक प्रौढ़ता का परिचय दिया।

डेढ़ सौ वर्षों में हिंदी की ये जो विविध भाषिक शैलियाँ इन देशों में विकसित हो गईं, वे मूलत: अवधी और भोजपुरी का मिश्रित रूप थीं तथा इनमें स्थानीय भाषाओं का पुट भी था। भारतीय सामान्य बोलचाल में इसी हिंदी का प्रयोग करते हैं तथा यह हिंदी सभी भारतीयों के मध्य तथा स्थानीय लोगों के बीच भी समझी एवं बोली जाती है। आज इन देशों में भाषा द्वैत की स्थिति उत्पन्न हो गई है। सामान्य बोलचाल और अनौपचारिक अवसरों पर वे अपनी हिंदी बोलते हैं जबकि परिनिष्ठित हिंदी के हिमायती बोलचाल की हिंदी को टूटी-फूटी, अशुद्ध कहकर उसे साहित्य-लेखन के लिए अनुपयुक्त मानते हैं।

मुझे आज भी स्मरण है, फिजी से प्रकाशित पत्र 'शांतिदूत' साप्ताहिक में उसके संपादक श्री महेंद्र चंद्र शर्मा 'विनोद' 'तिरलोक तिवारी' के छद्मनाम से प्रति सप्ताह 'थोरा हमरो भी तो सुनो' स्तंभ लिखते थे। यह स्तंभ भारतीयों के मध्य बड़ा लोकप्रिय था तथा सभी इसे बड़े चाव से पढ़ते थे; किंतु शुद्धतावादी हिंदी समर्थकों से यह नहीं देखा गया और उन्होंने स्तंभ का इतना विरोध किया कि स्तंभ के बंद होने की नौबत आ गई। स्तंभ बंद किए जाने की बात सुनकर तत्कालीन उपप्रधानमंत्री माननीय पंडित हरीश शर्मा, जो प्रतिष्ठित बैरिस्टर भी थे, उन्होंने 'पाठकों के पत्र' नामक स्तंभ में इस संबंध में लिखते हुए कहा, "अबकी एक बात हम बताय देई जो 'थोरा हमरो भी तो सुनो' बंद भय तो तुम्हरे पेपर के बिक्किरी कमती होय जाए। अब तुम्हीं सोचो कि तिवारी के लेख से 'शांतिदूत' पढ़ने वाले मजा लूटे हैं, ओह में फायदा है कि लेख बंद कर देव और बिक्किरी कमती होय जाए होय जाइ ओह में।" (देखें, 'शांतिदूत' साप्ताहिक, फिजी टाइम्स, सूवा, फिजी, 3 नवंबर, 1986)

जो स्थिति फिजी में 'फिजीबात' की है, वही स्थिति सरनामी, नैताली इत्यादि हिंदी की अन्य भाषिक शैलियों की है। ये सभी हिंदी के विदेशी शैली रूप अपने देश की सृजनात्मक अभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ हैं। प्रो. सुब्रमणी फिजी हिंदी को सृजनात्मक अभिव्यक्ति के लिए अधिक समर्थ समझते हैं तो जीत नराइन का मानना है कि सरनामी सूरीनामवासियों के लिए सहज अभिव्यक्ति के लिए अधिक उपयुक्त है। दक्षिण

अफ्रीका के प्रो. रामभजन सीताराम जो देश के प्रतिष्ठित विद्वान है वे नैताली को एक दमदार भाषा के रूप में देखते हैं। हिंदी के इन भाषिक रूपों पर विदेश के अनेक भाषा वैज्ञानिक कार्य कर रहे हैं, किंतु भारतीयों के मध्य दिन-प्रतिदिन बोलचाल की भाषा होते हुए भी यह साहित्य की भाषा नहीं बन पा रही है। जहाँ तक मुझे पता है, प्रोफेसर सुब्रमणी द्वारा 'फिजीबात' में लिखित उपन्यास 'डउका पुरान' अकेली प्रधान साहित्यिक रचना है, जो पूर्ण कृति के रूप में उभर कर आई है। जिन अन्य कवियों ने 'फिजीबात' को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है, वे बहुत लोकप्रिय हुए हैं; किंतु प्रश्रय और प्रोत्साहन के अभाव में इसमें अधिक रचनाएँ नहीं लिखी जा रहीं। आवश्यकता है इन शैलियों को पुष्ट करने की, जिससे इन देशों को साहित्यकार हिंदी की उत्तम रचनाएँ दे सकें। इन भाषा रूपों की अवहेलना हिंदी के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। रेडियो और टेलीविजन पर इनमें साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रसारित हों, इसमें पत्रिकाओं का प्रकाशन हो। मानक हिंदी का अपना महत्व है। हिंदी का पाठ्यक्रम मानक हिंदी का होगा, शिक्षा का माध्यम मानक हिंदी ही रहेगा, पर बोलचाल की हिंदी के स्वत: विकसित सहज स्वरूप को बने रहने देने में ही हिंदी का हित निहित है और अच्छी साहित्यिक रचनाओं के लिए वही उर्वर भाषा भी है।

अपनी भाषा हिंदी के प्रति निष्ठा, उसे प्रतिष्ठित करने की उत्कट लालसा भी सर्वत्र दिखेगी। भाषा द्वैत या हिंदी के विविध भाषा रूपों को लेकर जो विवाद भारतीयों में आपस में पनप रहा है उसके प्रति भी बड़े लेखक सजग हैं। उन्हें लगता है कि यह आपसी विवाद हिंदी को ही कहीं लेकर न डूबे। यही कारण है कि सूरीनाम के वयोवृद्ध राष्ट्र कवि पंडित हरिदेव सहतू लिखते हैं—

हम तोहके का बोली
बोली बोली
भाषा बोली
अवधी कि भोजपुरी
हम तोहके का बोली
सरनामी की सरनामी हिंदी
हिंदुस्तानी कि सरनामी हिंदुस्तानी
हम तोहके का बोली
मानक हिंदी कि खड़ी बोली
टूटल भाषा कि एली गेली
हम तोहके का बोली
अपन भाषा में एक बात बोली
तोहसे हम्मे बहुत है प्यार
महतारी भाषा हमार।
हरिदेव सहतू-महतारी भाषा हमार

प्रवासी भारतीयों द्वारा विदेश में लिखे जा रहे हिंदी के सर्जनात्मक साहित्य को सामान्यत: दो कोटियों में रखा जा सकता है—पहली कोटि में उन प्रवासी भारतीयों द्वारा लिखित हिंदी की रचनाएँ हैं, जो गिरमिट प्रथा के अंतर्गत 150 वर्ष पूर्व विदेश गए थे और वहीं बस गए। उनकी तीसरी और चौथी पीढ़ी सामान्य बोलचाल में हिंदी भाषा का प्रयोग करती है। इन्होंने हिंदी की स्थानीय शैली का विकास किया है। ये प्रवासी भारतीय हिंदी में कविता, कहानी, निबंध इत्यादि लिखकर हिंदी को समृद्ध कर रहे हैं। फिजी के कमलाप्रसाद मिश्र, जोगिंदर सिंह कँवल, अमरजीत कौर, रामानारायण, महावीर मित्र, काशीराम कुमुद, ज्ञानीसिंह, सुब्रमणी, मॉरिशस के अभिमन्यु अनत, प्रह्लाद रामशरण, बृजेंद्र कुमार भगत 'मधुकर', मुनीश्वरलाल चिंतामणि, रामदेव धुरंधर, वीरसेन जागासिंह, सोमदत्त बखौरी, सुमति बुधन, पूजानंद नेमा; सूरीनाम के मुंशी रहमान खाँ, अमरसिंह रमण, सुरजन परोही, जीत नराइन; त्रिनिदाद की ममता लक्ष्मना, हरिशंकर आदेश; गुयाना के रंडल बूटी सिंह, राम लाल, दक्षिण अफ्रीका के पंडित तुलसीराम पांडेय, प्रो. राम भजन सीताराम, उषादेवी शुक्ल, राम बिलास, भवानी प्रीतिपाल, चंपा वशिष्ठ मुनि, मालती रामबली, इत्यादि हिंदी के प्रसिद्ध लेखक हैं, जिन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा हिंदी-साहित्य को समृद्ध किया है। अवधेय है कि प्रवासी भारतीय लेखक अपने देश में विकसित हिंदी के शैली-रूप को न अपनाकर परिनिष्ठित हिंदी में लिखने के लिए प्रयत्नशील हैं। ऐसे बहुत कम लेखक हैं जो साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए अपनी सहज, सरल भाषा का प्रयोग करते हों। फिजी के लेखक प्रोफेसर सुब्रमणी एवं प्रोफेसर रेमंड पिल्लई, सूरीनाम के जीत नराइन, श्रीनिवासी, रामनाथ सिवदीन, चित्रा गयादीन, आशा राज कुमार इत्यादि कुछ प्रवासी भारतीयों ने प्रवासी भारतीय साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। अवधेय है कि अपनी भाषा में लिखी गई रचनाओं में अधिक प्रौढ़ता तथा अभिव्यक्ति सामर्थ्य होती है, जिससे वे अपनी साहित्यिक अभिव्यक्ति में हिंदी का प्रयोग करते हैं।

विकसित और संपन्न देशों में रह रहे और हिंदी में साहित्यिक रचनाएँ लिखने वाले प्रवासी भारतीयों की लंबी सूची है। अमेरिका के गुलाब खंडेलवाल, अंजना संधीर, रामेश्वर अशांत, विजय कुमार मेहता, वेदप्रकाश बटुक, विनोद तिवारी, सत्यदेव गुप्ता, भूदेव शर्मा, रजनीकांत लहरी, सुषम बेदी; इंग्लैंड की अचला शर्मा, उषाराजे सक्सेना, उषा वर्मा, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, कीर्ति चौधरी, कृष्ण कुमार, सत्येंद्र श्रीवास्तव, तेजिंदर शर्मा; कनाडा के अश्विनी गोपी, राजेंद्र सिंह, स्नेह ठाकुर, नॉर्वे के सुरेश चंद्र शुक्ल, अमित जोशी इत्यादि हिंदी में निरंतर लिख रहे हैं और प्रवासी भारतीय साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान भी उन्होंने बनाया है।

प्रवासी भारतीय लेखन को हिंदी-जगत में मान्यता मिले, इसके लिए आवश्यक है कि इन लेखकों की अच्छी साहित्यिक रचनाएँ विधिवत संपादित होकर भारत में अच्छे प्रकाशक द्वारा प्रकाशित हों, वे प्रबुद्ध पाठक तक पहुँचे, उनका समुचित मूल्यांकन हो तथा विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में अन्य भारतीय लेखकों के साथ उन्हें स्थान मिल सके और उनका साहित्य पढ़ा जाए।

प्रवासी भारतीय हिंदी साहित्य का इतिहास लगभग डेढ़ सौ वर्षों का है और यह साहित्य प्रधानत: भारतीयों के विदेश आगमन, उनके संघर्ष और विकास का दस्तावेज कहा जा सकता है। प्रवासी भारतीय साहित्य के सृजनात्मक हिंदी साहित्य की मूल संवेदना प्रवास की पीड़ा है जो साहित्य में आद्यंत देखने को मिलेगी यद्यपि उसका स्वरूप विविध सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के कारण बदलता हुआ दिखता है। प्रवास में जहाँ व्यक्ति के मन में एक ओर नई जगह जाने का उत्साह है, चुनौती है, नई आशाएँ और कामनाएँ हैं वहीं दूसरी ओर विछोह की पीड़ा है, विस्थापन का कष्ट है और भविष्य की आशंकाएँ हैं। इन भावों में डूबता उतराता मानव प्रवास का निश्चय करता है। इस कसक को व्यक्ति नए सुखमय भविष्य की आशा में भुलाने की चेष्टा करता है। यदि नया वातावरण अधिक सुख सुविधा संपन्न है तो प्रवासी धीरे-धीरे नए वातावरण में रम जाता है और विछोह की पीड़ा धीरे-धीरे कम होती जाती है। वहीं दूसरी ओर यदि प्रवास वह वातावरण नहीं दे पाता जिस आशा से व्यक्ति अपना घर-बार छोड़कर विदेश गया है तो प्रवास बड़ा कष्टकर लगता है, उसका मन क्षोम और ग्लानि से भर जाता है। न वह वापस अपने देश जा सकता है और न ही उसका मन यहाँ लगता है।

अपनी भूमि को छोड़कर विदेश गया व्यक्ति पीढ़ी दर पीढ़ी प्रवासी ही रहता है उसके मन में प्रवास की पीड़ा होती है उसके मन में एक दुविधा बनी रहती है कि यह नई दुनिया उसके लिए अधिक अच्छी है कि नहीं। वह अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, अपने जीवन मूल्यों को बराबर पकड़े रहना चाहता है क्योंकि यही दूसरे देश में उसकी अपनी पहचान है नए देश के मूल निवासी कभी भी उसे पूर्ण रूप में स्वीकार नहीं कर पाते। रूप रंग भेद ही नहीं भाषा, खान-पान, आचार-विचार, रीति-नीति, जीवन मूल्य का अंतर विदेश में उसे अलग बनाए रखता है यही प्रवास का दंश है। प्रवासी अपने को सामान्य से अलग महसूस करता है पर उसकी विवशता है कि उसे रहना वही है यह विवशता उसे नए देश को अपनाने की व अपना बनाने की है। यह दुविधा और विवशता प्रवासी अभिव्यक्ति की मूल संवेदना के रूप में भी उभर कर आती है। फिजी के राष्ट्रकवि पंडित कमला प्रसाद मिश्र की कविता "क्या मैं परदेसी हूँ"? में यह कितना मुखर है—

धवल सिंधु-तट पर मैं बैठा अपना मानस बहलाता,
फिजी में पैदा हो कर भी मैं परदेसी कहलाता।
यह है गोरी नीति, मुझे सब भारतीय अब भी कहते,
यद्यपि तन-मन-धन से मेरा फिजी से ही है नाता।
भारत के जीवन से फिजी के जीवन में अंतर है,
भारत कितनी दूर वहाँ पर कौन सदा जाता आता।
औपनिवेशिक नीति गरल है, नहीं हमें जीने देती,

वे उससे ही खुश रहते हैं जो उनका यश है गाता।
भारतीय वंशज पग-पग पर पाता है केवल कंटक
जंगल को मंगल करके भी दो क्षण चैन नहीं पाता।
साहस है, हम सब सह लेंगे हम भयभीत नहीं होंगे,
पता नहीं कब गति बदलेगा कालचक्र जग का त्राता।

कमला प्रसाद मिश्र : क्या मैं परदेसी हूँ?

प्रवासी भारतीय साहित्य में प्रारंभिक अभिव्यक्ति गिरमिट गीतों के रूप में ही मिलती है। परदेश आने का जो कारण सुखद भविष्य की चाह थी वह विदेश पहुँचते ही घोर निराशा में बदल गई। ये गीत बहुत ही मार्मिक हैं और प्रवासी भारतीयों के गिरमिट जीवन के मौखिक साहित्यिक दस्तावेज कहे जा सकते हैं। गिरमिट मज़दूर के रूप में फिजी पहुँचे। एक स्त्री की करुण कथा उसके ही शब्दों में कि कैसे छल छद्म से उसे फीजी लाया गया और यहाँ उसका क्या हाल है देखिये—

जो मैं ऐसा जानती फीजी आए दुख होय।
नगर ढिंढोरा पीटती फीजी न जइयो कोय॥

यह करुण प्रवासी स्वर फिजी की ही तरह सूरीनाम, मॉरीशस, दक्षिण अफ्रीका, गुयाना जहाँ प्रवासी भारतीय गिरमिट के रूप में गए सभी जगह दिखेगा।

फिजी, सूरीनाम तथा मॉरीशस में श्रेष्ठ साहित्यिक रचनाओं की आज कमी नहीं है, मॉरीशस में तो आज प्रभूत मात्रा में साहित्य लेखन हो भी रहा है जो हिंदी के वैश्विक स्वरूप और उसकी साहित्यिक संपन्नता का परिचय देता है। पर इस प्रथम कोटि के प्रवासी साहित्य की भारत में लिखे जा रहे साहित्य की भाषा प्रतिमानों को आधार बनाकर तुलना करना उचित नहीं है। परिनिष्ठित हिंदी में लिखी गई इन रचनाओं में आपको व्याकरणगत अशुद्धियाँ दिखेंगी, साहित्यिक कलात्मकता का अभाव भी अखर सकता है, छंदगत व्यतिक्रम भी दिख सकता है पर हमें यह ध्यान रखना होगा कि यह परिनिष्ठित हिंदी अपनी भाषा नहीं है यह उनकी सायास सीखी हुई दूर देश की भाषा है जिसे भारत के प्रति आत्मिक लगाव के कारण उन्होंने सीखा है। फीजी हिंदी तथा सरनामी हिंदी में लिखी हुई रचनाओं में संभवत: यह दोष आपको नहीं दिखेगा। यह भाषा रूप डेढ़ सौ वर्षों में उन्होंने विकसित किया है इन रचनाओं में अधिक साहित्यिक प्रौढ़ता दिखती है। भारत से हज़ारों मील दूर देश में लिखी हुई ये रचनाएँ प्रवासी भारतीयों की संघर्ष कथा के साहित्यिक दस्तावेज़ हैं जिनका ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय महत्व तो है ही ये रचनाएँ हिंदी के विश्वव्यापी स्वरूप का परिचय देने वाली रचनाएँ भी हैं।

भारत में यह आम राय है कि विदेश में लिखा जा रहा हिंदी-साहित्य स्तरीय नहीं है और उसमें ऐसा कुछ नहीं है जो साहित्य में रुचि रखने वाले पाठक को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। यह राय आमतौर पर उन लोगों की है, जिनका विदेशी हिंदी-साहित्य से परिचय नहीं है। यदि आप ऐसे लोगों से जिज्ञासा-भरे स्वर में यह पूछें कि महाशय, आपने यह राय कैसे बनाई तो उनके पास इसका कोई उत्तर भी नहीं है।

प्रवासी भारतीयों के देश यथा अमेरिका, कनाडा, इंग्लैंड, जर्मनी, हॉलैंड, जिनकी गणना विकसित देशों में होती है वहाँ भी आज हिंदी की सभी विधाओं में— पद्य और गद्य में पर्याप्त और उत्कृष्ट सृजनात्मक लेखन हो रहा है। अनेक लेखकों की रचनाएँ भारत में प्रकाशित हो रही हैं और हिंदी साहित्य जगत में उन्होंने अपना स्थान भी बनाया है पर उन देशों में जहाँ रहकर रचनाकार साहित्य लेखन कर रहा है वहाँ न तो भाषा के स्तर पर और न ही साहित्य के स्तर पर हिंदी लेखक को सम्मानित स्थान मिल रहा है जो अपेक्षित है। प्रवासी भारतीय हिंदी लेखकों द्वारा यह प्रश्न उठाया जाता रहा है कि प्रवासी भारतीय हिंदी लेखन को भारत में वह सम्मान नहीं मिल रहा जो उसका अधिकार है।

प्रवासी भारतीय लेखन को हिंदी-साहित्यिक जगत में मान्यता मिले, इसके लिए आवश्यक है कि इन लेखकों की अच्छी साहित्यिक रचनाएँ विधिवत संपादित होकर भारत में अच्छे प्रकाशक द्वारा प्रकाशित हों, वे प्रबुद्ध पाठक तक पहुँचे, उनका समुचित मूल्यांकन हो तथा विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में अन्य भारतीय लेखकों के साथ उन्हें स्थान मिल सके और उनका साहित्य पढ़ा जाए। इतना ही नहीं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर इन रचनाओं को उपयुक्त सम्मान तभी प्राप्त होगा जब ये उस देश में सम्मानित होंगी जिस भूमि पर वे लिखी गई हैं। इसलिए आवश्यक है कि इन रचनाओं का विदेशी भाषाओं में अनुवाद भी हो जिससे उसका नए परिवेश में सही आकलन भी हो सके।

प्रवासी भारतीय समाज के सामने आज कई चुनौतियाँ भी हैं जो वस्तुत: प्रवासी होने के कारण उनकी प्रवासी नियति से जुड़ी हुई है। प्रवासी भारतीयों की भाषा के संदर्भ में आज एक बड़ी चुनौती है कि प्रवासी भारतीय हिंदी भाषा बोलने के साथ ही हिंदी को देवनागरी में लिख भी सकें। बिना लिपि ज्ञान के भाषा ज्ञान तो व्यक्ति का अधूरा है ही वह भाषा जानने वाले के मन में आत्मविश्वास भी नहीं जग पाता। फिजी, सूरीनाम आदि देशों में हिंदी आज भी रोमन लिपि में ही लिखी जाती है। यही स्थिति इंग्लैंड, अमेरिका, जर्मनी आदि देशों में बसे प्रवासी भारतीयों की भी है जो हिंदी बोलते तो है पर देवनागरी के स्थान पर हिंदी रोमन में लिखते हैं। मुझे याद है कि जब चेतन भगत ने हिंदी को रोमन लिपि में लिखे जाने का प्रस्ताव दिया था तो संपूर्ण हिंदी समाज ने उनका पुरजोर विरोध किया था पर किसी ने इन प्रवासी भारतीयों को देवनागरी लिपि सिखाने की बात नहीं कही। भाषा सीखने की तुलना में यदि भाषा आती है तो लिपि का

सीखना बहुत ही सरल है और वह बहुत ही कम समय में लगभग एक सप्ताह में ही सीखी जा सकती है। यदि फिजी, मॉरीशस, सूरीनाम, त्रिनिदाद, गुयाना और खाड़ी के देशों में बसे हुए हिंदी बोलने वालों को योजना बद्ध रूप में कार्यशालाएँ लगाकर देवनागरी लिपि सिखा दी जाए तो हिंदी जानने वालों का आत्मविश्वास तो बढ़ेगा ही हिंदी का सहज ही व्यापक स्तर पर प्रचार भी हो सकेगा।

संख्या बल की दृष्टि से हिंदी आज विश्व की दूसरी प्रधान भाषा है और विश्व भाषा सर्वेक्षण यह भी संकेत देते हैं कि विश्व की प्रधान भाषाओं में अंग्रेजी, मंदारिन तथा रूसी भाषा के बोलने वालों का प्रतिशत पिछले दशक में निरंतर गिरा है जबकि हिंदी और अरबी भाषा बोलने वालों का विश्वस्तर पर प्रतिशत बढ़ा है। वस्तुस्थिति तो यह है कि आज हिंदी भारत में करोड़ों की मातृभाषा और विश्व में करोड़ों की अनुराग-भाषा है। हिंदी अपने विविध रूपों में आज विश्व के अनेक देशों में बोली जाती है। विदेश में आज तक हिंदी का प्रचार-प्रसार जहाँ एक ओर विदेशी विद्वानों के प्रयास से उनके अध्ययन एवं अनुसंधान से हो रहा है, वहीं दूसरी ओर विदेश में बसे प्रवासी भारतीयों के प्रयास से भी हिंदी की स्थिति सुदृढ़ हुई है और उसे नए क्षितिज मिले हैं। पिछली अर्धशती में स्वतंत्र भारत की एशिया में बढ़ती हुई साख ने भी विदेश में प्रवासी भारतीय समाज और उसकी भाषा हिंदी की प्रतिष्ठा बढ़ाई है। आज विदेश में बसे हुए प्रवासी भारतीय चाहे वे दो सौ वर्ष पूर्व शर्तबंदी प्रथा के अंतर्गत गए थे या भारतीय विशेषज्ञ के रूप में विदेश जा कर बसे आज अपने परिश्रम, लगन, ईमानदारी तथा प्रतिभा से वे हर देश में प्रवासी भारतीय समाज की अपनी महत्ता और पहचान है।

दुनिया की अधिकांश भाषाएँ विदेश में शासक भाषा के रूप में प्रचारित हुईं और विदेशी शासन से मुक्त होने पर वह उस देश की दूसरी प्रधान भाषाएँ बन गईं। अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, पुर्तगाली, जर्मन, स्पेनिश, अरबी आदि सभी भाषाएँ विदेश में ऐसे ही विकसित हुईं हैं। भारत में अंग्रेज़ी के विकास और प्रचार का भी यही इतिहास है किंतु हिंदी विदेश में स्नेह और सौहार्द की भाषा के रूप में विकसित हुई है। वह तो संतों, फकीरों और अध्यात्म वाले देश की भाषा के रूप में विदेशियों के आकर्षण का केंद्र बनी।

विश्व के भारत और चीन ऐसे दो देश हैं जहाँ के निवासी विविध कारणों से विभिन्न समयों में और विभिन्न परिस्थितियों में विदेश गए और फिर वहीं रम गए और पीढ़ी-दर-पीढ़ी रहने से उन देशों के महानगरों में उनकी एक बस्ती हो गई। वे वहीं रहते, सुख-दुख आपस में बाँटते और उस देश के मूल निवासियों के बीच कार्य करते किंतु अपने खान-पान, अपने जीवन मूल्य, अपनी भाषा और संस्कार की निरंतर रक्षा करते और विदेश में भी एक छोटा स्वदेश बनाकर रहते। वहाँ यदि आप जाएँ तो आपको लगेगा ही नहीं कि आप विदेश में है। स्वदेश से अधिक आपको वहाँ अपना देश दिखेगा। यदि आप फिजी, सूरीनाम, मॉरीशस, त्रिनिदाद जाएँ तो वहाँ यह देखकर

और अधिक आश्चर्य होगा कि स्वदेश में तो हम भारतीय अंग्रेज़ी को प्रतिष्ठा की भाषा मानकर दूसरे को प्रभावित करने के लिए अंग्रेज़ी भाषा का प्रयोग करते हैं चाहे हमें अंग्रेज़ी बोलने में कठिनाई होती हो। इसी प्रकार विदेश में अनेक देश ऐसे भी हैं जहाँ विविध भाषा-भाषी भारतीय हिंदी बोलकर अपने को गौरवान्वित अनुभव करते हैं। इन भारतीयों ने उस देश में जहाँ कभी वे शर्तबंदी प्रथा के अंतर्गत ब्रिटिश एजेंटों द्वारा बहला-फुसलाकर ले जाए गए थे और जहाँ उन्होंने अनेक कष्ट से उसी देश में ऐसा माहौल बनाया कि भारतीय वहाँ हिंदी को अपनी भारतीय अस्मिता की पहचान मानते हैं और घर पर तो वे अपनी हिंदी बोलते ही हैं, सामुदायिक सभाओं में मानक हिंदी या परिनिष्ठित हिंदी बोलकर यह बताना चाहते हैं कि उन्होंने अपने पूर्वजों की भाषा और संस्कृति को कितना संजोकर रखा है। फिजी, सूरीनाम, मॉरीशस, त्रिनिदाद तथा दक्षिण अफ्रीका ऐसे ही देश हैं जहाँ भारतीय स्वभाषा, स्वसंस्कृति के प्रति गर्व अनुभव करते हैं। फीजी के कवि काशीराम कुमुद कहते हैं—

शर्त में जिसने जीवन को उत्सर्ग किया
हम उन्हीं के श्री चरणों में शीश झुकाते हैं।
हम रक्त बिंदुओं से सींच-सींच
हिंदी बिरवा पनपाते हैं।
काशी राम कुमुद : हिंदी बिरवा

मॉरीशस के वरिष्ठ कवि मुनीश्वरलाल चिंतामणि 'मेरी हिंदी भाषा' शीर्षक कविता में घोषणा करते हैं कि हिंदी ने हम भारतीयों की पहचान विदेश में बनाए रखी है। ऐसी हिंदी यदि गई तो हमारी पहचान समझिए चली गई। हिंदी के प्रति मॉरीशस के कवि मुनीश्वरलाल चिंतामणि और सूरीनाम के कवि धीरज कंधई की निष्ठा की गहराई देखिए—

उस आदमी से जाकर कहो कि
मेरी हिंदी भाषा
एक ऐसी खूबसूरत चीज़ है
जिसने मेरी संस्कृति को
अब भी बचाए रखा है,
मेरी हिंदी भाषा
एक ऐसी खूबसूरत चीज़ है
जिसने मेरी पहचान को
अभी भी बनाए रखा है,
उस आदमी से जाकर कहो, कि
मेरी हिंदी भाषा की महानता का

वह अभिनंदन करे।
मेरे पूर्वजों की त्याग तपस्या का,
बार-बार स्मरण करे,
वह जान ले कि,
उन पूर्वजों के प्रति मेरी श्रद्धा अपार है।
उनकी भाषा की रीढ़ को,
टूटने नहीं दूँगा मैं।
हिंदी जो गई तो मैं समझूँगा,
संस्कृति भी गई,
हिंदी जो गई तो मैं समझूँगा,
अपनी पहचान भी गई।

मुनीश्वरलाल चिंतामणि : मेरी हिंदी

हिंदी ज्ञान,
मेरे लिए अमृत रस पान,
जितनी बार उसे पीता हूँ;
लगता है, उतनी बार जीता हूँ।

धीरज कंधई : हिंदी ज्ञान

सभी प्रवासी भारतीय विदेश में अपनी भाषा की रक्षा, संरक्षा और प्रतिष्ठा के लिए सचेष्ट हैं, यही कारण है कि सर्वत्र विदेश में जहाँ-जहाँ भारतीय प्रवासी या अप्रवासी रूप में गए हैं वे हिंदी बोलने का प्रयत्न करते हैं और अपनी भाषा और संस्कृति पर उन्हें गर्व है। अब वे अपनी अगली पीढ़ी को भी हिंदी सिखाना चाहते हैं। क्योंकि वही हिंदी उनको विदेश में जोड़ने वाली सबसे बड़ी ताकत है।

हिंदी ने भारतीयों के साथ कई देशों की यात्रा की, उनके सुख-दुख में, संघर्ष और सुविधापूर्ण जीवन में उनके साथ बराबर रही किंतु हर देश में वह नए रंग-रूप में उभरी। उसने हर देश की भाषिक समृद्धि को अपनाकर अपने को और समृद्ध किया, अपने को दुरुह होने से बचाया इसलिए सब जगह उसका स्वागत हुआ, वह उस देश की हो गई। वहाँ के मूल निवासियों ने भी अपनी भाषा के साथ हिंदी को भी अपनाया क्योंकि अब तो वह उनकी थी। हिंदी ने जैसा देश वैसा अपना वेश बनाया। सबको अपनी ओर आकर्षित किया और अपना बना लिया। उसकी साज-सज्जा तो बदली किंतु उसने अपने भाषिक संस्कार को सुरक्षित रखा। वह प्रेम, सद्भाव व सम्मान की भाषा बनी रही। वह किसी देश पर थोपी नहीं गई किंतु लोगों ने उसे प्रेम से अपनाया।

फिजी जैसे देश में जो भारत से हज़ारों मील दूर है वहाँ वह संसद की मान्यता प्राप्त भाषा बनी। अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर तथा प्रतिष्ठित साहित्यकारों ने भी अंग्रेज़ी के मोह को छोड़कर हिंदी में साहित्यिक कृतियाँ लिखनी प्रारंभ कीं। चूँकि यह हिंदी उनकी अपनी थी, सहज थी सारा देश उसे समझता था, उस हिंदी पर उनका अच्छा अधिकार था इसलिए इस अपनी हिंदी में साहित्य सृजन कर उन्होंने विश्वव्यापी ख्याति अर्जित की और भारत ने भी औपचारिक रूप से उनकी हिंदी में लिखित कृति को पुरस्कृत कर इस नई शैली की हिंदी को मान्यता प्रदान की। फिजी में इस नव विकसित हिंदी की शैली को फिजी के भारतवंशियों ने फिजीबात या फिजी हिंदी की संज्ञा दी। आज फिजी में कई हिंदी लेखकों की फिजी हिंदी में साहित्यिक रचनाएँ निरंतर प्रकाशित हो रही हैं। प्रो. सुब्रमणी, प्रो. रेमंड पिल्लई, प्रो. ब्रिज विलास लाल, श्री महेंद्र चंद्र शर्मा, 'विनोद' तथा बाबूराम शर्मा ने फिजी हिंदी को साहित्यिक गौरव प्रदान किया है।

(क) "ईसटा के छुट्टी में हम लोगन गवा झुरमुट सुकुल के घरे लामी। सूवा बड़ा गरम रहा। बिचार करा गय की समुंदर के किनारे पियाई करा जाय तो मजा पकरी। बीयर, विस्की, रम, जिन-बिन लय के छुटा हम लोगन। एक बड़का हंडा भर के चखना भी रहा।

सर-सर-सर-सर बहे समुंदर के ठंडा हवा। आम के नीचे बड़ा आनंद रहा। चटाई बिछाय के हम लोगन सात जने बइठा। हम के लगा रहा पियास महराज, हम ग्यारा बोतल ठंडा बीयर मार दिया। एक हाथ में उठाई गिलास अउर दुसरका में चखना, दुनो हथ चला दनादन आधा घंटा। इसके बाद आय गय नींद के झटका, बस हम चटाई के एक किनारे मार दिया घर्राटा। हमके खाली तारा दिखाय, अउर कुछ नहीं।

हम लोगन के गेंग में दुइ लउंडे रहिन देहात के, 'चिलबिल सिंह' अउर 'हड़पनाथ'। हड़पनाथ हमरे हथवा में से उतार लिहिस पाइलेट वाला घड़ी। जब हम गय रहा असमान में पुच्छल तारा देखे तब घड़िया खरीदे रहा एक हज़ार डोला में। हम सूता रहा तब सखा उतार लिहिस घड़िया, वइसे कहाँ उतार पावत। कुंभकरनी नींद में हमके कुछ पते न चला।"

महेंद्र चंद्र शर्मा 'विनोद' (छद्मनाम तिरलोक तिवारी) : शांतिदूत 14.10:86 पृ. 4 सूवा

(ख) **फरंगिया के राजुआ मां छूटा मोरा देसुआ हो,**
गोरी सरकार चली चाल रे बिदेसिया।
भोली हमें देख आरकाटी भरमाया हो,
कलकत्ता पार जाओ पाँच साल रे बिदेसिया।
डीपुआ मां लाए पकारयो कागदुआ हो,

अंगूठआ लगाए दीना हार रे बिदेसिया
पाल के जहाजुआ मां रोय धोय बैठी हो,
जीअरा डराय घाट क्यों नहिं आए हो,
बीते दिन कई भये मास रे बिदेसिया।
आई घाट देखा जब फिजी आके टापुआ हो,
भया मन हमरा उदास रे बिदेसिया।
कुदारी कुरवाल दीना हाथुआ मां हमरे हो,
घाम में पसीनुआ बहाए रे बिदेसिया।
स्वेनुआ मां तास जब देवे कुलंबरा हो,
मार मार हुकुम चलाये रे बिदेसिया।
काली कोठरिया मां बीते नाहि रतिया हो,
किस के बताई हम पीर रे बिदेसिया।
दिन रात बीती हमरी दुख में उमरिया हो,
सूखा सब नैनुआ के नीर रे बिदेसिया॥

—लोकगीत

उपयुक्त दोनों रचनाएँ फिजी हिंदी जिसे फिजी के लोग 'फिजीबात' कहते हैं, में लिखी गई हैं। फिजी में हिंदी के दो रूप देखने को मिलेंगे। घर पर तथा अनौपचारिक अवसरों पर एक भारतीय जिस हिंदी का व्यवहार करता है, उस हिंदी का विकास उसके पूर्वजों द्वारा फिजी में हुआ। यह हिंदी का सहज बोलचाल का रूप है। औपचारिक अवसरों पर जिस हिंदी का प्रयोग एक भारतीय करना चाहता है वह हिंदी का परिनिष्ठित रूप है तथा उसको वह भारत की हिंदी कहता है। फिजीबात न तो पूर्णत: अवधी है और न ही भोजपुरी। वह हिंदी की फिजी में विकसित एक नई भाषिक शैली है जिसकी संरचना तो सामान्यत: अवधी की है, भोजपुरी का उस पर प्रभाव है तथा अंग्रेजी और काईबीती के तत्सम और तद्भव दोनों के शब्दों का सहज समावेश है। 'फिजी हिंदी' एक महत्वपूर्ण परिचयात्मक ग्रंथ है।

सूरीनाम में भारतीयों का पदार्पण सन् 1873 ई. में हुआ। सूरीनाम पहुँचे भारतीय गिरमिटियों ने हिंदी की जिस नई शैली का विकास किया उसे सूरीनाम में बसे प्रवासी भारतीय सरनामी, सरनामी हिंदी, सरनामी हिंदुस्तानी कहते हैं। सरनामी हिंदी भी अवधी, भोजपुरी, ब्रज तथा खड़ी बोली का मिश्रित स्वरूप प्रस्तुत करती है। सरनामी में अनेक डच शब्दों का भी समावेश दिखता है। आज सूरीनाम में बसे भारतीय ही नहीं, हालैंड में बसे अनेक भारतीय भी 'सरनामी हिंदी' में अपनी साहित्यिक कृतियाँ लिखकर अपने को गौरवान्वित अनुभव करते हैं। सूरीनाम के प्रतिष्ठित लेखक डॉ. जीत नारायण तो सरनामी में ही अपनी कृतियाँ लिखना चाहते हैं।

भाषा नमूना : सरनामी

(क) टूकुर टूकुर ताके
इधर से उधर
काहे फिर ना
कोई आ जाई
काहे कोई और
जनावर ना आ जाइ
हम्मे खा जाइ।
हवा से पकड़ के
बंद कर लेइस
एक खुलल कमरा में
सामने है दाना पानी
आँखी टपके हैं
फिन गाना गावे
के चाही
रोने के सिवाई
और का बाकी रह गइल
और गँवा
रहल है
जबर जस्त
ज्ञान है हमार
रंग और दंग
के होवे हैं?
के बोलत रहा
आज़ाद जैसे पंदी

आशा राजकुमार (चांदनी) : टूकुर टूकुर ताके

(ख) हम कैसे भुल दी
हम हैं हिंदुस्तानी अयन हरी भरी देस
के छोड़ के काहे हम
जाए परदेस
खाइ का हे खात
कोई और के निमक

जब अपने घर में
है दूध मात
हम कैसे भुलाई
हम हैं हिंदुस्तानी

आशा राजकुमार (चाँदनी) : हिंदुस्तानी

(ग) "पुरनियन लोग पहिले अपन पोतिन अउर नाती नतकुर के रात के समय उ सब के सूते से पहिले रिवस्सा कहानी सुनावत करल रहिले। ओभन में से एगोजउन अब्बे तलक याद बा हियाँ बतावल जा है।

खेतवन में जब पुरखान कंत्राक-पांच बरस तलक मजूरी, काटत रहिले तउ सब अपन समय कभी-कभी हैसी मजाक में बितावत रहिले। कब्भी कब्भी जब ऊ सब के अपन मुलुक याद आवत रहा त कुछ न कुछ मन में गढ़ के हैसी मजाक करके अपन चिंता के दूर कर देवत रहें।"

सूर्य प्रसाद बीरे : बिना ततई के बेरवा गढ़ा से निकार

दक्षिण अफ्रीका में बसे हुए भारतीय मूल के लोगों के बीच बोली जाने वाली हिंदी की विशिष्ट भाषिक शैली को नैताली नाम से संबोधित किया जाता है। दक्षिण अफ्रीका चार प्रांतों में बँटा हुआ है—नेताल, केप, आरेंज फ्री स्टेट तथा ट्रांसवाल। दक्षिण अफ्रीका के महानगर डरबन में भारतीय मूल के निवासी सबसे अधिक हैं। यहाँ पर बोली जाने वाली हिंदी जो कि भोजपुरी हिंदी का एक विशिष्ट रूप है, भारतीयों के मध्य बोली जाती है उसे नैताल में बोली जाने के कारण नैताली कहा जाता है।

आज दक्षिण अफ्रीका में नैताली बोलने वाले भारतीय मूल के लोग अधिक नहीं हैं। यही कारण है कि नेताली में साहित्य लेखन बहुत कम हो रहा है। वहाँ के लोकगीतों में नैताली का रूप आज देखने को मिलता है। लोकगीतों का एक विशिष्ट रूप जिसे 'चटनी' नाम से संबोधित किया जाता है, आजकल प्रतिष्ठित भारतीय समाज में बहुत लोकप्रिय हो चुका है। विवाह के अवसरों पर आज इनकी माँग बहुत बढ़ गई है क्योंकि पश्चिमी डिस्को की शैली में ढले ये नैताली लोकगीत आधुनिक फैशन के प्रतीक बन गए हैं। इन चटनी लोकगीतों में भारतीय समाज के सांस्कृतिक तथा भाषिक मूल की ओर भारतीयों को फिर से आकर्षित किया है। यह नैताली हिंदी ही है जो भारतीयों को उनके मूल भारत से तथा उनके कर्म क्षेत्र दक्षिण अफ्रीका से जोड़े हुए है।

भाषा नमूना : नैताली

(क) भगत—अरे डेम फूल! वो सुन घंटी बजी। चल काम पर चलें। तोहार घर कासी में न हो भगतिन?

भगतिन—हाँ, भगत! ओही कासी दिहलन फाँसी। ओही कासी में रहत रहलीं फिर हुआ से कलकत्ता चल गयल रह लीं और उहंई से हियां अइली हैं। आज काल में हमका गदेला होवै वाला है। अब बताओ हम कइसे काम करी।

भगत—चुप रह, चुप। देख साहब आवत हौवन। चल हियां से चल देइ अपने काम पर।

भगतिन—हम कइसे काम पर जाई। मौरे बुते काम न होइ। देखो साहब आवत हौवत, उनकीन के पांव पड़कर आपन दुख कहब। (साहब आ गया) साहब। हम गरभ से हई, जल्दी गदेला होने वाला बा। हम काम नाही कर सकत हई।

साहब—यू रास्कल, टुम काम छोड़ डेना चाहटा है। हम टुमारा बोटी-बोटी काट डालेगा।

भगतिन—नाहीं साहेब, हम काम छोड़ के कहाँ जाइब? गदेला होय जाई ते फिर हम काम करब। दुई चार दिनां का हमका छुटी देव।

साबह—उल्लू का पट्ठा डैम, सूवर कुली। बहुत बाट करता है। जल्दी काम पर जाओ नहीं तो अबी हम टुमको ठीक कर देगा।

भगतिन—हाय विधाता, हम का कही, साहब नाहीं मानता हौवन। भला साहब तौहरी बीबी के पेट में बच्चा रहित तब का तू वोहू से काम लई सकतौ।

साहब—रोग, चुप रह, हम तुमसे पोलिटिक्स नहीं करटा। एक डफा में बोलो, काम करेगा कि नहीं।

भगतिन—हम करब साहब, लेकिन.....

—भवानी दयाल संन्यास-नेटाली हिंदू

रूसी भाषाविदों का विचार है कि उज़्बेकिस्तान तथा तज़ाकिस्तान में बोली जाने वाली भाषा पारया भी हिंदी की ही एक भाषिक शैली है। पारया भाषा के लिए अफ़गानी, जवान-ई-अफ़गानी, लफ़्ज-ई-अफ़गानी, इंकू, लफ़्ज-ई-इंकू, सुरहानी, चंगर, चस्क गरक आदि नामों का भी प्रयोग होता है। इस भाषा के बोलने वाले अपने को अफ़गान शाइखोल तथा पारया भी कहते हैं।

पारया भाषा-भाषियों की संख्या आज कितनी है इसके कोई प्रामाणिक आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। पारया भाषा-भाषियों की संख्या विद्वानों के अनुमानत: 6000 बताई है। मार्गदोविच ने अपने एक प्रकाशन में उनकी संख्या जरफशां में 65 तथा दुशाम्बे में 300 बताई हैं। पारया भाषी अपना मूल स्थान अफ़गानिस्तान में लगमान बताते हैं। पारया की न अपनी कोई लिपि है न ही लिखित साहित्य किंतु इसका लोक साहित्य संपन्न है। लोकगीत तथा लोककथाएँ दोनों ही पारया में मिलती हैं। रूसी विद्वान ओरांस्की ने पारया लोकसाहित्य पर पर्याप्त कार्य किया है।

भाषा नमूना : पारया

छो नि छो एक चोपन छो। ओ एक बेटा तरा छो। उसको नॉ त गुनन रको। गुनन दिन ब दिन बोरो होत गो। ओ एक कोरो तरा छो। गुनन शिकार मां गियो। तेलपक गमा रोब को पोस्त लियो। एकिनि पांशां को अमलदार लंगो कि अनमिंड कुन शिंन कि देख मरो शांषा नांदांन इ, गुनन दॉनॉ छे। पांषा को कॉर आयो। गुनन मरे कुल।

अजा गुनन गियो। पांशां न कियो उस अदर मं अदमखुर छे। गुनन गियो अदर मं। अदमखुर गुनन त देखे अयो। गुनन न उकरयुक न लेकि अदमखुर को सर मं बगयो अदमखुर त लायो। पॉषॉ न ति पत गुनत न दिनो। गुनन न तिन दिन उ तिन रत बिया करो। इसि नल मुरद उ मखसदु सो मं रसो।

(था या नहीं था, एक चरवाहा था। उसके एक बेटा था। उसका नाम गुनन रखा था। गुनन दिन-ब-दिन बड़ा होता गया। उसके पास एक घोड़ा था। गुनन शिकार पर गया। टोपी के लिए लोमड़ी का चमड़ा लाया। एक दिन बादशाह के एक अमलदार गुज़र रहे थे। लोगों से बोले—देखो, मेरे बादशाह नादान हैं, गुनन होशियार है। बादशाह के घर गए। गुनन, मेरे पास आ जाओ। गुनन आया। बादशाह ने कहा उस पहाड़ी (की गुफा) में आदमखोर है। गुनन पहाड़ी (की गुफा) में गया। आदमखोर गुनन को देखकर आया। गुनन ने एक विशेष प्रकार की फँसाने वाली रस्सी लेकर आदमखोर के सर पर फेंकी और आदमखोर को (उसमें फँसाकर) लाया। बादशाह ने अपनी लड़की गुनन को दुल्हन के रूप में दी। गुनन ने तीन दिन और तीन रात तक भोज किया। इस तरह उसने अपनी मुराद व अपने मकसद को पा लिया।)

हिंदी आज विश्व की एक प्रमुख भाषा है। इस भाषा के बोलने वालों की संख्या विश्व में दूसरी सबसे बड़ी भाषा-भाषियों की संख्या है। हिंदी विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र की राजभाषा भी है। वह केवल भारत में ही नहीं फिजी, मॉरीशस, सूरीनाम, ट्रिनिडाड, दक्षिण अफ्रीका आदि देशों में बसे प्रवासी भारतीयों द्वारा मातृभाषा के रूप में बोली जाती हे। यही कारण है कि विश्व के सभी प्रभुता संपन्न देश हिंदी के अंतरराष्ट्रीय महत्व को आज समझते हैं तथा आधुनिक विश्वविद्यालयों में आज हिंदी का अध्ययन-अध्यापन होता है। हिंदी की साहित्यिक रचनाओं का व्यापक स्तर पर विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो रहा है। प्रवासी भारतीय हिंदी की सुरक्षा तथा सम्मान के लिए सजग हैं तथा हिंदी को भारतीय अस्मिता का प्रतीक मानते हैं। हिंदी की विदेशी शैलियों का फिजी, सूरीनाम, दक्षिण अफ्रीका में विकास हुआ है। हिंदी की विदेशी शैलियों का विकास विदेश में हिंदी की सुदृढ़ नींव और उसकी स्थायी व चिरकालिक सत्ता का द्योतक भी है। यही हिंदी की विदेशों में विकसित भाषिक शैलियाँ हिंदी को विश्वस्तर पर वैश्विक भाषा के रूप में प्रतिस्थापित करेंगी।

❑❑

संदर्भ साहित्य :

तात्याना ओरान्स्क्या : पार्या भाषा बहुवचन-हिंदी का विश्व अंक 46 जुलाई-सितंबर 2015 पृष्ठ 86-104

दया प्रकाश सिन्हा : गगनांचल (फिजी विशेषांक), भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नई दिल्ली

धीरा वर्मा : फिजी के लोकगीत, गगनांचल, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, आज़ाद भवन, नई दिल्ली

भावना सक्सेना : सूरीनाम में हिंदुस्तानी, हिंदी बुक सेंटर, आसफ अली रोड, नई दिल्ली, 2012

भवानी दयाल संन्यासी : नेटाली हिंदू

भोलानाथ तिवारी : सोवियत संघ में बोली जाने वाली हिंदी बोली ताज़ुब्बेकी-तुलनात्मक अध्ययन और शब्दकोश, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली

महेंद्र चंद्र शर्मा : 'विनोद' शांतिदूत साप्ताहिक, फीजी टाइम्स, सूवा, फीजी 14.10.1986, पृष्ठ 4

राजेंद्र मेस्त्री : लैंग्वेज़ इन इनडेंजर, विटवाटरस्ट्रैंड यूनिवर्सिटी, प्रेस, जोहन्सबर्ग 1991

रामभजन सीताराम : नेटाली हिंदी, बहुवचन-हिंदी का विश्व अंक 46, जुलाई-सितंबर 2015, पृष्ठ 86-104)

विमलेश कांति वर्मा : हिंदी और उसकी उपभाषाएँ, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1995

विमलेश कांति वर्मा : विदेश में हिंदी-पूर्वार्ध, एवं उत्तरार्ध, गगनांचल विशेषांक, भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद्, नई दिल्ली, वर्ष 27, अंक 3-4, 2004

विमलेश कांति वर्मा : प्रवासी भारतीय हिंदी साहित्य, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2016

विमलेश कांति वर्मा : फिजीबात-हिंदी की विदेशी शैली, बहुवचन-हिंदी का विश्व अंक 46, जुलाई-सितंबर 2015, पृष्ठ 7-25)

विमलेश कांति वर्मा व धीरा वर्मा : फिजी में हिंदी स्वरूप और विकास, पीतांबरा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000

विमलेश कांति वर्मा : फिजी का सृजनात्मक हिंदी साहित्य, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2012

विमलेश कांति वर्मा : मॉरीशस का सृजनात्मक हिंदी साहित्य, साहित्य अकादमी नई दिल्ली, 2016

विमलेश कांति वर्मा व भावना सक्सेना : सूरीनाम का सृजनात्मक हिंदी साहित्य, राधाकृष्ण प्रकाशन (राजकमल प्रकाशन समूह), नई दिल्ली, 2015

सुब्रमणी : डउका पुरान, पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड, आसफ अली रोड, नई दिल्ली, 2001

प्रवासी हिंदी साहित्य और गिरमिटिया जीवन
(मॉरीशस, फिजी और सूरीनाम देशों के विशेष संदर्भ में)

अभिनव

प्रवासी साहित्य के संदर्भ में स्पष्ट अवधारणा बना ली जाती है कि भारत से बाहर रचा गया सारा साहित्य प्रवासी साहित्य है। भारत देश से बाहर विदेशों में रहने वाले हिंदी साहित्यकारों की सभी रचनाओं को प्रवासी साहित्य मान लिया जाता है। विभिन्न कारणों से गए लोग अपनी साहित्यिक रुचि के कारण कुछ रचनाएँ लिखते हैं। जिन्हें भारतीय साहित्य क्षेत्र में प्रवासी साहित्य की संज्ञा दे दी जाती है परंतु इस प्रकार की अवधारणा सर्वथा अस्पष्ट एवं गलत है। प्रवासी हिंदी साहित्य के परिदृश्य में जो संवेदना, धारणा, कारण, पीड़ा तथा विद्रोह का स्वर प्रमुख है, वह अनदेखे व अनछुए ही रह जाते हैं। प्रवासी हिंदी साहित्य को स्पष्ट तौर पर समझने के लिए कई पक्ष द्रष्टव्य हैं। जिनमें गिरमिटिया जीवन प्रमुख पक्ष है। साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा अधिकृत क्षेत्रों में गिरमिटिया जीवन के प्रवासन द्वारा ही प्रवासी हिंदी साहित्य की नींव पड़ती है और वहीं से प्रवासी हिंदी साहित्य की शुरुआत भी होती है। "प्रवासी–एक ऐसा शब्द है जो अपना भी लगता है और पराया भी। यह निकटता भी दर्शाता है और दूरी भी। शायद महाभारत में इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले किया गया था। मगर हिंदी साहित्य में इस शब्द के नए अर्थ गढ़े गए हैं और एक नया खाँचा तैयार किया गया है जिसे कहा गया है—प्रवासी साहित्य।"[1] यह नया खाँचा मॉरीशस, गयाना, फिजी, सूरीनाम, दक्षिण अफ्रीका, त्रिनिदाद और टोबैगो आदि देशों के संदर्भ में तैयार हुआ है, जहाँ गिरमिटिया जीवन ने अपने प्रथम चरण रखे और अपना पसीना ही नहीं खून भी इन देशों की भूमि को दिया। "19वीं सदी के पूर्वार्ध से 20वीं सदी के पूर्वार्ध तक मॉरीशस (1834), गयाना (1838), त्रिनिदाद (1845), दक्षिण अफ्रीका (1860), सूरीनाम (1873) तथा फिजी (1879), आदि देशों में गिरमिट के रूप में विदेशी एजेंटों द्वारा गन्ने के खेतों में काम करने के लिए गए थे और फिर गिरमिट की अवधि पूरी होने पर विदेश में ही बस गए।"[2] इन्हीं गिरमिटिया मज़दूरों के वंशज आज जिस संवेदना, पीड़ा तथा विद्रोह को प्रकट करते हैं वह प्रवासी हिंदी साहित्य नाम से अभिहित किया जाता है।

गिरमिटिया शब्द से अभिप्राय है शर्तबंद या अनुबंध करार मज़दूर जो एक निश्चित अवधि के लिए मज़दूरी के कार्य में लाये जाते थे। संपूर्ण विश्व में स्थापित साम्राज्यवादी शक्तियों के उपनिवेशों में इन करार बंद मज़दूरों को मज़दूरी करवाने भेजा जाता था, "चूँकि भारतीय श्रमिक एक एग्रीमेंट के अंतर्गत लाए जाते थे, अतएव भोजपुरी बोली में उन्हें 'गिरमिटिहा' कहा जाने लगा।"[3] स्पष्ट है कि गिरमिटिया शब्द भोजपुरी बोली से उत्पन्न हुआ है। इसी संदर्भ में एक और बात ध्यान देने की है कि इन शर्तबंद या अनुबंध किए गए मज़दूरों में उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल तथा बिहार के पश्चिमी क्षेत्रों से सर्वाधिक मज़दूरों को मज़दूरी कराने के लिए यहाँ लाया जाता था। बिहार तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के जमींदारों, सूदखोरों से गाँव की जनता बहुत त्रस्त थी। जात-पात, ऊँच-नीच, अपमानजनक व्यवहारों से भी निम्न तबके की जनता दुखी थी। ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोज़गारी, भुखमरी, गरीबी तथा निराशा का वातावरण व्याप्त था। यूरोपीय देशों में औद्योगिक क्रांति के मद्देनज़र भारतीय लघु व कुटीर उद्योग तबाह होने लगे थे। पहले की अपेक्षा कृषि भी चौपट होने लगी थी। बाढ़, सूखा, अकाल की मार से किसान बेहाल हो उठा था। इन्हीं सब परिस्थितियों का लाभ उठाकर उपनिवेशवादी शक्तियों ने इन कृषकों को अपने उपनिवेशों में भेजा। यह साम्राज्यवादी शक्तियाँ भली-भाँति इन कृषकों की कार्यक्षमता तथा कुशलता से परिचित थीं। अत: इन भोले-भाले कृषकों को इनके सुनहरे भविष्य का लालच देकर, इन्हें अपने घर-परिवार, देश से दूर एक अनजाने देश भेजने को मजबूर कर दिया परंतु इन मज़दूरों की समस्याओं का अंत नहीं हुआ। ये लोग जिस स्वप्नलोक की रचना करके उन अनजाने देशों में पहुँचे, वहाँ पहुँचते ही उनके स्वप्न चकनाचूर हो गए। ये मज़दूर स्वयं को एक पिंजड़े में फँसा महसूस करने लगे, जहाँ से निकलना असंभव था। फिजी, मॉरीशस और सूरीनाम देशों के संदर्भ में निम्नलिखित काव्य पंक्तियों के उद्धरण से इन गिरमिटिया मज़दूरों की पीड़ा को महसूस किया जा सकता है।

"कटिया हम **फिजी** आवा
होए गयो जीना भारी
साहिब के दिन, रात गुलामी
करते बीती सारी"[4]

"बिटिया भागा, बेटवा भागा, होयलान की राजधानी में
बिना मेहनत के माँगकर खाते हैं इस भरी जवानी में
हम तो **सरनामवा** के जंगल काट-काटकर उन्नति करवली रे
जब सुख करने का बेरिया आवा, तब यही दसा हम पवली रे।"[5]

"जब इतिहास के ऊपर से
मिट्टी की परतें धूल जाएँगी
मॉरीशस के उन प्रथम मज़दूरों के
अधगले पंजरों पर के चाबुक और बाँसों के निशान
ऊपर आ जाएँगे।"[6]

प्रवासी हिंदी साहित्य के परिप्रेक्ष्य में फिजी, मॉरीशस, सूरीनाम देशों को देखें तो इन देशों में हिंदी का प्रारंभ 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही मान लेना उचित रहेगा क्योंकि गिरमिटिया मज़दूरों के साथ उनकी भाषा, संस्कृति तथा धार्मिक आस्थाएँ भी इन देशों की भूमि पर पहुँची। ये लोग जब भारत से चले तो रामचरितमानस, महाभारत, हनुमान चालीसा, ग्रामीण किस्से-कहानियाँ आदि भी इनके साथ इन अंजान देशों में आ पहुँची। दिन-भर के कठिन परिश्रम करने तथा अपमान सहने के पश्चात रात में यह मज़दूर अपनी थकान मिटाने के लिए एक साथ बैठकर रामचरितमानस, हनुमान चालीसा आदि का पाठ करते थे। दिन-भर की आप बीती एक दूसरे को बताते थे। इसी सामूहिक सभा से 'बैठका' की उत्पत्ति हुई, जहाँ ये मज़दूर अपने बच्चों को भारतीय संस्कृति व धार्मिक, नैतिक शिक्षा तथा हिंदी का ज्ञान देते थे, क्योंकि इन मज़दूरों के बच्चों को शिक्षा का अधिकार प्राप्त नहीं था, यही नहीं इन्हें स्वामित्व तथा कुछ समय पूर्व तक इन्हें विवाह करने का अधिकार तक प्राप्त नहीं था। 19वीं सदी में जितने भी भारतीय विदेश शर्तबंद प्रथा के अंतर्गत गए, वे चाहे किसी भी देश में गए हों, वे अधिकांशत: हिंदी भाषी क्षेत्र से ही गए थे। वे भोजपुरी, अवधी, मारवाड़ी, मगही आदि भाषाएँ बोलते थे, परंतु वर्तमान हिंदी साहित्य के परिदृश्य में एक बात स्पष्ट करनी आवश्यक है कि प्रथम कोटि के देशों जिनमें मॉरीशस, सूरीनाम, फिजी और दक्षिण अफ्रीका आदि देशों की गणना की जाती है, वहाँ के प्रवासी भारतीयों की हिंदी, भारत की परिनिष्ठित खड़ी बोली हिंदी नहीं है वहाँ की हिंदी भोजपुरी मिश्रित अवधी है, जिनमें स्थानीय भाषाओं के शब्द मिले हुए हैं। जिसका नामकरण भी उन्होंने अलग-अलग रूपों में किया हुआ है। फिजी में वह फिजीबात, सूरीनाम में वह सरनामी, मॉरीशस में मॉरीशस क्रियोल तथा दक्षिण अफ्रीका में नैताली के नाम से जानी जाती है यही हिंदी उनकी अपनी हिंदी है।

मॉरीशस

प्रवासी हिंदी साहित्य के परिदृश्य में, मॉरीशस, फिजी, सूरीनाम, देशों के हिंदी साहित्यकारों का एक बड़ा वर्ग नज़र आता है, मॉरीशस अफ्रीका महाद्वीप में स्थित एक छोटा-सा द्वीपीय देश है। मॉरीशस पर फ्रेंच तथा अंग्रेजी उपनिवेशवादी सरकारों का शासन रहा था, मॉरीशस को 12 मार्च, 1968 ई. में स्वतंत्रता मिली और मॉरीशस का प्रशासन, भारतीय मूल की प्रवासी जनता के हाथों में आ पहुँचा। इन्हीं गिरमिटिया मज़दूरों की संतानें आज इस देश की सरकार चलाती है। इन प्रवासियों ने आज विकास के प्रत्येक क्षेत्र में नई उपलब्धियाँ प्राप्त की है और हिंदी भाषा लेखन क्षेत्र में भी इनका योगदान विशिष्ट रहा है। मॉरीशस में कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध-संग्रह और जीवनी आदि की रचना हुई। भारत को छोड़कर मॉरीशस का साहित्य अन्य देशों की तुलना में कहीं अधिक समृद्ध है, इस बात का प्रमाण मोका में स्थित महात्मा गांधी संस्थान तथा विश्व हिंदी सचिवालय जैसे केंद्र हैं, जहाँ से हिंदी भाषा को मॉरीशस में नवीन आयाम मिला है। मॉरीशस का हिंदी साहित्य अधिक पुराना

नहीं है। आज मॉरीशस में हिंदी लेखन के क्षेत्र में नवीन मार्ग प्रशस्त हुए हैं, जिसके लिए प्रोफेसर विष्णु दयाल, सोमदत्त बखोरी, बृजेंद्र 'मधुकर', अभिमन्यु अनत, मुनीश्वरलाल चिंतामणि, भानुमति नागदान, रामदेव धुरंधर, प्रह्लाद रामशरण, ईश्वरजागा सिंह, जनार्दन कालीचरण आदि लेखकों का सराहनीय योगदान रहा है।

फिजी

फिजी देश में भी भारतीयों का आगमन ब्रिटिशों द्वारा शर्तबंद मज़दूर प्रथा से हुआ। 1879 ई. तक लगातार कई मज़दूरों को भारत से फिजी लाया जाता रहा। 1916 ई. में इस प्रथा का अंत हो गया। "फिजी में भारतीय सबसे पहले 15 मई, 1879 ई. को 'लेवनी दास' जहाज से पहुँचे। इस जहाज में 463 व्यक्ति थे जो गन्ने के खेतों में काम करने के लिए बहला-फुसलाकर लाए गए थे।"[7] इसके पश्चात 1916 ई. तक लगभग 87 जहाजों का आगमन फिजी में हुआ जहाँ कई मज़दूर प्रवासित किए जाते रहे। इन 37 वर्षों की अवधि के दौरान कुल 63,000 भारतीयों का आगमन फिजी में हुआ। तत्कालीन फिजी की राजधानी सुवा के गवर्नर आर्थर गार्डन ने अपने वरिष्ठ अधिकारियों से अनुरोध किया था कि फिजी के जंगलों को साफ करके वहाँ गन्ने की खेती कराई जाए। इसके लिए भारत से कुशल कृषकों का प्रवासन हेतु कलकत्ता और चेन्नई में मज़दूरों के प्रवासन हेतु केंद्र खोले गए। इस गिरमिटिया समझौते के अनुसार वे मज़दूर एक निश्चित अवधी के लिए फिजी भेजे गए परंतु अवधि पूरी हो जाने के पश्चात अधिकतर गिरमिटिया मज़दूर फिजी में ही रह गए। शर्तबंद प्रथा की समाप्ती के बाद और भी भारतीय जिनमें अधिकांशत: गुजरात से थे, फिजी आए। नए अपनाए गए देशों में व्यवसायिक कार्यों में लग गए और इसी पारस्परिक मिलन से इनकी एक मिली-जुली हिंदी का विकास हुआ जिसका नाम 'फिजीबात' रखा गया।

फिजी में हिंदी का आगमन गिरमिटिया मज़दूरों के प्रथम दल के साथ 15 मई, 1879 ई. से ही माना जाना उचित रहेगा। तब से लेकर 1916 ई. तक लगातार भारतीय शर्तबंद स्त्री-पुरुष मज़दूर वहाँ ले जाए जाते रहे और उनके आगमन के साथ ही हिंदी बोलने वालों की संख्या फिजी में निरंतर बढ़ती रही और आज हिंदी यहाँ के बहुसंख्यक समाज की भाषा है। मॉरीशस में जिस तरह भोजपुरी खड़ी हिंदी के विकास में सहायक हुई, उसी प्रकार फिजी में पूर्वी हिंदी का अवधी और ब्रज सम्मिश्रित रूप अधिक प्रखर है। समय के साथ कई पत्र-पत्रिकाएँ भी फिजी से निकलीं, जिनमें 'हिंदीमिलाप', 'मनोरमा वार्षिकी' आदि प्रमुख हैं। आज फिजी की प्रशासन व्यवस्था भारतीय मूल की जनता के हाथों में है। फिजी को ब्रिटिश शासन से मुक्ति 10 अक्टूबर, 1970 ई. में मिली। 2,74,000 वर्ग किमी. क्षेत्रफल का यह देश बहुलतावादी संस्कृति को अपनाए हुए है। मुख्य रूप से ईसाई, हिंदू और इस्लाम मतावलंबियों के इस देश की जनसंख्या लगभग 8 लाख है। फिजी के प्रमुख हिंदी लेखकों में अमरदीप कौर, ईश्वर प्रसाद चौधरी, कमला प्रसाद मिश्र, काशीराम कुमुद, जोगिंदर सिंह कंवल, ज्ञानीदास राघवनंद शर्मा, हरनामसिंह 'हरनाम' आदि हैं।

सूरीनाम

उपनिवेशवादी युग में गयाना तीन टुकड़ों में बँटा था, उसके एक क्षेत्र पर ब्रिटेन, दूसरे पर फ्रेंच तथा तीसरे पर डच साम्राज्यवादी शक्तियों का शासन था। उपनिवेशवादी युग के इसी डच गयाना को वर्तमान में 'सूरीनाम' से जाना जाता है। सूरीनाम को औपनिवेशिक चुंगल से मुक्ति 26 नवंबर, सन् 1975 ई. में मिली। सूरीनाम में भारतीयों का आगमन गिरमिटिया मज़दूरों के रूप में ही हुआ। 1873 ई. में कलकत्ता से 'लाला रुख' नामक जहाज से भारतीयों के आगमन का सिलसिला 1916 ई. तक चला। इन वर्षों में अर्थात् "सन 1873 से लेकर 1916 तक कुल चौंसठ जहाजों द्वारा चौंतीस हज़ार चार सौ से कुछ अधिक भारतीय स्त्री-पुरुष और बच्चे सूरीनाम में लाए गए थे। 'देवा' नामक अंतिम जहाज तीन सौ तीस मज़दूर लेकर आया था।"[8] यह सभी मज़दूर अनपढ़ थे, अशिक्षित थे। इस कारण उनकी भाषा ही उनकी एक मात्र शक्ति थी, जो उनकी पहचान को बनाए रखने में सक्षम थी।

वर्तमान में हिंदी सूरीनाम की मान्यता प्राप्त भाषा है। मॉरीशस, फिजी के समान ही सूरीनाम में भारतीय मूल की जनता के लिए हिंदी आम-बोलचाल की भाषा है। सूरीनाम में बोले जाने के कारण इसे 'सरनामी हिंदी' कहा जाता है। यहाँ गए प्रवासी भारतीय अपने साथ रामचरितमानस, महाभारत, आल्हा-उदल, सत्यनारायण तथा सती-सावित्री की कथा जैसी पुस्तकें साथ ले गए। इस कारण इन मज़दूरों ने अपनी भाषा-संस्कृति को इस अज़नबी देश में आलोकित किया और इसी कारण भारतीय संस्कृति एवं हिंदी भाषा का बीजारोपण, पल्लवन सूरीनाम में हो पाया। आज सूरीनाम में कई हिंदी पत्र-पत्रिकाएँ निकलती हैं, जिनमें सूरीनाम दर्पण, भाषा पत्रि शक्ति, हिंदीनामा, आदि प्रमुख हैं। सूरीनाम के हिंदी जगत में अमर सिंह रम राजकुमार (चाँदनी), कारमेन जगलाल, चंद्रमोहन रंजीत सिंह, जीत नाराइन प्रसिद्ध नाम हैं।
9 जनवरी, 1915 को 'प्रवासी हिंदी दिवस' के अवसर पर हिंदी प्रवासी भारतीयों की संख्या लगभग 2 करोड़ मानी गई। इनमें कुछ स्वेच्छा भविष्य की दृष्टि से विदेश गमन कर वहाँ बस गए तथा कुछ वे प्रवासी हैं जो गिरमिटिया या कुली बनकर विश्व के भिन्न-भिन्न देशों में प्रवासित बन गए। इन प्रवासी मज़दूरों को जिन उपनिवेशों में प्रवासित किया गया था, वे 'गयाना' (1838) 'मार्टिनक' (1850), 'ग्वालुप' (1852), 'सेंट लूसिया' (1856), 'सेंट फ़ीसेंट' (1860), 'मॉरीशस' (1834), 'दक्षिण अफ्रीका' (1860), 'ग्रोस' (1861), 'नैटाल' (1863), 'सूरीनाम' (1873), 'फिजी' (1879) प्रमुख देश थे। वर्तमान में यह सभी राष्ट्र स्वतंत्र हैं तथा अधिकतर देशों की शासन व्यवस्था भारतीय मूल की जनता के हाथों में है।

❑❑

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. प्रवासी हिंदी कहानी एक अंतर्यात्रा, सुषमा आर्या, अजय नावरिया, पृष्ठ संख्या-5, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली।
2. आजकल पत्रिका, फरहत परवीन (संपादक), पृष्ठ संख्या-6, जनवरी, 2016, नई दिल्ली।
3. हिंद महासागर का मोती मॉरीशस, डॉ. धर्मेंद्र प्रसाद, पृष्ठ संख्या-35, पुस्तकायन प्रकाशन, नई दिल्ली।
4. प्रवासी भारतीय हिंदी साहित्य, विमलेश कांति वर्मा, पृष्ठ संख्या-29, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिली। वर्ष-(2016)
5. पृष्ठ संख्या-70
6. पृष्ठ संख्या-161
7. विश्व में हिंदी, डॉ. प्रेमचंद, पृष्ठ संख्या-76, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली। वर्ष (2015)
8. पृष्ठ संख्या-70

विदेशी धरती पर भारतीय स्त्री : सर्जनात्मक हिंदी-लेखन

डॉ. कविता वाचक्नवी

विदेशी धरती पर भारतीय स्त्री के कदम पहले-पहल जिस प्रकार मॉरीशस फिजी, गुयाना, सूरीनाम आदि देशों में मज़दूरों के रूप में पड़े, उसी प्रकार यूरोपीय धरती पर भी नैनी, रसोइया, सेविका आदि बनकर ही पड़े। ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों के साथ सेवक आदि के रूप में यहाँ साथ आ जाने से बहुधा यात्रा प्रारंभ हुई, किंतु इस यात्रा में समय के साथ-साथ स्त्री की स्थिति बदलती चली गई... यद्यपि उस अनुपात में कदापि नहीं बदली जिस अनुपात में इन देशों की मूल स्त्रियों की स्थिति थी। आज भी भारत से विकसित देशों में आई स्त्रियों का मनोविज्ञान इन देशों की स्त्रियों से बहुत अलग है, भले ही वे 40 अथवा 50 और कोई-कोई तो 60 वर्ष से इन अत्याधुनिक देशों में बसी हैं। जो लड़कियाँ व महिलाएँ यहीं जन्मीं, पली, बढ़ी हैं, वे उस पीढ़ी की स्त्रियों से कई अर्थों में बहुत भिन्न हैं जो मूलतः भारत से आकर यहाँ बसीं। फिर भी आश्चर्य की बात यह है कि आज अमेरिका-यूरोप आदि में विभिन्न क्षेत्रों में अग्रणी/सिलेब्रिटीज भारतीय/दक्षिण एशियाई मूल की महिलाओं का आँकड़ा भारतीय/दक्षिण एशियाई मूल के पुरुषों की तुलना में बहुत ही कम है। यदि इन देशों के भारतीय/दक्षिण एशियाई मूल के सिलेब्रिटीज की सूची देखें तो आश्चर्य व क्षोभ दोनों होते हैं। इससे आगे बढ़ कर और भी ध्यान दें तो इन सिलेब्रिटी महिलाओं में भी सौंदर्य प्रतियोगिताओं आदि से जुड़ी महिलाओं का आँकड़ा दूसरे क्षेत्रों खेल, विज्ञान, शोध, मेडिकल, व्यापार आदि से कहीं अधिक है। इन तथ्यों के आलोक में हम विकसित देशों में बसी भारतीय मूल की महिलाओं की आगामी पीढ़ियों के मनोविज्ञान, कार्यक्षेत्र, शिक्षा आदि की स्थिति का अनुमान लगा सकते हैं; यद्यपि भारतवंशी परिवारों की हजारों लाखों-महिलाएँ उच्च शिक्षित व सम्माननीय पदों पर हैं किंतु तुलनात्मक दृष्टि से यह अनुपात कम है। अरब आदि देशों में तो स्त्रियों की संवैधानिक स्थिति भिन्न होने के चलते इस अनुपात में अंतर स्वाभाविक है, किंतु जिन

देशों में समान सुविधाएँ, समान अधिकार व समान अवसर हैं, वहाँ ऐसा होना अकारण ही माना जाएगा। कुछ लोग इसे पहली बार में रंग-भेद/नस्ल-भेद से जोड़ कर देखते हैं, किंतु यदि रंग-भेद या नस्ल-भेद इसका कारण होता तो भारतीय मूल के पुरुषों के साथ भी यह बराबर होता क्योंकि तुलना भारतीय-मूल के पुरुषों और भारतीय-मूल की स्त्रियों के मध्य ही की जा रही है।

यह तो रही इन देशों में भारतीय-मूल की स्त्रियों की स्थिति की बात। अब भारतीय-मूल के परिवारों की इन स्त्रियों पर कुछ गहराई से ध्यान केंद्रित करें तो स्पष्ट होता है कि इनमें अलग-अलग पीढ़ियों की बात हमने ऊपर की, स्पष्ट है कि उन पीढ़ियों का मनोविज्ञान अलग-अलग है। भारत से आई हुई पीढ़ी की महिलाएँ, भले ही वे किसी भी आयु-वर्ग की हों, उनका जीवन-दर्शन यहाँ जन्मी, पली, बढ़ी भारतीय-मूल की किसी भी आयु की स्त्री से भिन्न है। किंतु देह को लेकर उनके विचार अभी भी भारतीय विचारों से मेल खाते हैं। भारत से विदेश जाने वाली स्त्रियाँ बहुधा कई प्रकार के सांस्कृतिक द्वंद्वों का सामना करती हैं। ऐसे में बहुधा ये स्त्रियाँ अपने जीवन में आते परिवेशजन्य सांस्कृतिक परिवर्तनों को सांस्कृतिक पतन के रूप में देखती हैं। एक रोचक उदाहरण देती हूँ। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में नॉर्वे पहुँचने पर अपने बच्चों को तैराकी सीखते देख मुझे रोमांच हुआ करता था क्योंकि मुझे तब तक तैराकी नहीं आती थी। मेरा रोमांच देख मेरे पति ने तैराकी सीखने के लिए मुझे राजी कर दिया और वही युवा पुरुष-इंस्ट्रक्टर मुझे भी तैराकी सिखाने के लिए नियत हो गया जो उस क्लब में नियत था। पहली बार में यह कल्पना ही मेरे लिए कठिन थी कि उस युवावस्था में एक समवयस्क पुरुष के समक्ष मुझे स्वीमिंग कॉस्ट्यूम में जाना है। किसी तरह इसके लिए अपने को राजी किया तो एकदम एकांत में इकलौती उसके साथ पूल में उतरना दूसरी चुनौती रहा, तिस पर तैरने के लिए पानी में अपने दोनों हाथों पर लिटा कर जब उसने तैराकी सिखाना प्रारंभ किया तो अपने बच्चों के सम्मुख मुझे वह नियमित घटना अपने प्रति लज्जाजनक लगती रही और स्वयं को मातृत्व-च्युत होने व बच्चों पर बुरे संस्कार पड़ सकते हैं, का-सा अपराधबोध मन को घेरता रहा। आज लगता है कि देह हमारे व्यक्तित्व को अपराधबोध से भर हमारे व्यक्तित्व में निस्संदेह विचलन व विखंडन और कुंठा ही भरती है, अस्तु! तभी एक दिन सप्ताहांत में तैराकी से पूर्व महिलाओं वाले ड्रेसिंग रूम में बच्चों की अध्यापिका से सामना हुआ जो तैरने आई थी। मेरा तीन वर्ष का पुत्र मेरे साथ ही था... वह अध्यापिका अत्यंत शालीन, सौम्य, मृदुभाषी व बच्चों का पल-पल ध्यान रखने वाली व अनेक कारणों से सबकी प्रिय थी। मुझसे बातें करते-करते वह अध्यापिका अपने वस्त्र उतारती रही व एक समय ऐसा आया जब एक भी वस्त्र उसकी देह पर नहीं था और वह उसी सहजता से मुझसे बात करती रही... मैंने घबरा कर तुरंत अपने छोटे बेटे को बहाने से पुरुषों वाले

ड्रेसिंग रूम में धकेल दिया ताकि मेरे पति उसे अपने साथ रख सकें, किंतु पाँच ही मिनट बाद उसे वापिस हमारे यहाँ धकेल दिया गया क्योंकि उस कक्ष में कई लोग (पुरुष) थे व वे सब भी पूर्णत: नग्न थे, जो उसके लिए अधिक भयावह दृश्य था। भारतीय परिवेश में पले तीन वर्ष के बच्चे को हमने अपनी-अपनी घबराहट में इधर से उधर धकेल पर्याप्त भौंचक्का कर दिया था। किंतु उस घटना से देह को लेकर बच्चों के सम्मुख स्वयं को स्वयं ही अनादृत न समझने की पहली सीख मिली। इस घटना का दूसरा पक्ष यह भी है कि किसी दूसरे नगर में एक भारतीय परिवार के साथ जब हम तैराकी के लिए गए तो उनकी वहीं जन्मी-पली युवा बेटी भी तैराकी से पूर्व/पश्चात् बच्चों के सामने उस रूप में आने को लेकर सशंकित रही।

जानती हूँ, इन पंक्तियों को पढ़ने वाले अधिकांश पाठक इसे भारतीय संस्कृति और स्त्री का आभूषण लज्जा के साथ जोड़कर गदगद होंगे कि वाह इसे कहते हैं भारतीय संस्कार! किंतु खेद की बात है कि स्त्री की देह, उसकी शुचिता, उसका पर्दे में रहना जिस समाज में जितना बड़ा मूल्य है, उस समाज में स्त्री देह पर सर्वाधिक आक्रमण होते हैं। सर्वाधिक ढकी हुई देहों वाले समाजों में ही स्त्री की देह सर्वाधिक बर्बरता झेलती है, उसी का सर्वाधिक शोषण होता है। जिन देशों में देह इन अर्थों में मूल्य नहीं है, वहाँ देह स्त्री को तो अकुंठ करती ही है, पुरुषों द्वारा शोषण का अनुपात भी बहुत कमतर करती है।... और इन कारणों के चलते व्यक्तित्व में कुंठा और अपराधबोधक का अनुपात कम होता है जो व्यक्तित्व निर्माण की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। किंतु विदेशों में बसी लेखिकाओं के कथा-लेखन को समग्र रूप में देखने पर पता चलता है कि लेखन में स्त्री की जो छवि अधिकांश उभर कर आ रही है, वह विश्वग्राम में बसने के बावजूद अंतर्द्वंद्वों से जूझ रही है। वह मानसिक व वैचारिक स्तर पर दो संस्कृतियों में तालमेल न बिठा पाने की ऊहापोह से ग्रसित है या इसी कारण व्यक्तित्व-विखंडन का शिकार भी है। दो भिन्न सांस्कृतिक धाराओं में वह दुविधाग्रस्त है और बहुधा अपने भारतीय सांस्कृतिक व्यक्तित्व का चयन करना उसके लिए अधिक सरल व सहज मार्ग है, जो उसके जीवन के बिखराव को समेटता भले नहीं है किंतु वह उसकी अभ्यस्त है और उसके लिए उसके पास ऐसा करने के पर्याप्त कारण भी हैं। यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि हिंदी के ये सभी लेखक-लेखिकाएँ मूलत: भारत में जन्मे-पले-बढ़े व रोजगार की आयु में या उसके उपरांत विदेशों में गए लोग हैं। विदेशी धरती पर जन्म लेने वाली किसी भी पीढ़ी के किसी भी व्यक्ति ने अब तक हिंदी लेखन की राह नहीं पकड़ी है, क्योंकि हिंदी उनकी अभिव्यक्ति की भाषा नहीं बन पाई है। अत: भारत से आकर यहाँ बसने वाले लोगों में सांस्कृतिक व सामाजिक परिवर्तनों को उस सहजता से स्वीकार न कर पाने के पीछे कारण उतने वैयक्तिक ही नहीं है, जितने जातीय व पारिवारिक आदि भी हैं।

अब स्त्री की अंतद्र्वंद्वों में निहित उन कारकों को भी एक बार देख लिया जाए जो विभिन्न स्तरों पर स्त्री की मानसिकता व करणीय-अकरणीय का निर्माण/निर्धारण करते हैं। इसमें सबसे बड़ा कारक है परिवार। ध्यान रखना होगा कि विदेशी धरती पर स्त्री के लिए परिवार का एक ही अर्थ है और वह है उसका पति और संतान। संतानें इन देशों में स्त्री की अपनी भावुक कड़ियाँ हो सकती हैं, होती ही हैं, किंतु दबाव व तनाव नहीं। एकमात्र दबाव होता है स्त्री का अपना पति। ये वे पुरुष हैं, जो भारतीय परिवार-संरचना की विशेषताएँ भले ही अपने साथ न लाए हों किंतु सभी मध्यकालीन जातीय 'गुण' कूट-कूट कर अपने साथ लाते हैं, उन्मुक्त वातावरण में अपनी जातीय धरोहर व संस्कृति के खो जाने से पत्नी के निष्ठावान न रहने की आशंकाओं से सर्वाधिक ग्रस्त प्राणी जो उसकी सुरक्षा के निमित्त उसकी सीमा रेखाएँ कड़ी करता जाता है और इस कड़ा करने की प्रक्रिया में स्त्रियाँ भी प्रारंभ में जी-जान लगाती हैं क्योंकि उन पर सांस्कृतिक मूल्यों को सुरक्षित रख अगली पीढ़ी तक पहुँचाने का भारी दबाव होता है; और क्योंकि इसलिए भी कि इस परिवेश में इन दो के अतिरिक्त शेष कोई भी तीसरा उस भावी पीढ़ी को वह वातावरण नहीं दे सकता व न ही समाज की इसमें कोई भूमिका रहती है। अगली पीढ़ी के संस्कारहीन हो जाने की आशंका से, संस्कारों की जातीय धरोहर को बचाने की अतिरिक्त सावधानता में बहुत-सी ऐसी चीज़ें बचाई जाने लगती हैं जो अनावश्यक ही नहीं होतीं, अवैज्ञानिक भी होती हैं, हानिकारक भी और वस्तुत: उनका संस्कृति से कोई लेना-देना भी नहीं होता; बहुत-सी रूढ़ियाँ, बहुत-से अवैज्ञानिक रीति-रिवाज़, प्रचलन और दकियानूसीपन तक। ऐसे पुरुषों का अनुपात कम नहीं जिन्होंने पत्नी को जीवन-भर केवल साड़ी और लंबे ब्लाऊज़ ही पहनोगी, का अल्टीमेटम देकर बुढ़ापे तक उसे मॉडर्न होने के खतरों से बचाए रखा, गृह कार्य में पाश्चात्य देशों के पुरुषों द्वारा बराबरी की सहभागिता के वातावरण व समाज में रहने के बावजूद अपनी भारतीय पत्नी से सदा तीनों समय गरम फुल्का बना कर पति को खिलाने की निष्ठा व मर्यादा को बनाए रखा, भारत से अपने माता-पिता या परिवार को लाने पर उनकी सेवा-सुश्रुषा का संपूर्ण दायित्व सती पत्नी के कर्तव्यों व सदाचार के नाम चढ़ा दिया, परिवार व जीवन के सारे निर्णय अपने पास सुरक्षित रखे, घरेलू उपयोग की वस्तु की तरह स्त्री का भरपूर उपयोग-उपभोग किया व बहुधा उससे फिर यह भी अपेक्षा की वह अत्याधुनिक समाज के योग्य बने व कमा कर भी लाए। कुछ ऐसे लोग तो भारतीय संस्कृति की चिंता में इतने धुरंधर निकले कि विदेशी महिलाओं को पत्नी बनाने पर उनसे भी सभी पारंपरिक भारतीय रीति-रिवाज़ों को निभाने वाली एकनिष्ठ सहनशील सती पत्नी होने की बलात् अपेक्षाएँ करते रहे। कुछ कहानीकारों ने पुरुष मन की इन असुरक्षाओं के चलते गृहस्थ जीवन के तनावों पर बहुत अच्छी कहानियाँ भी लिखी हैं। पारिवारिक दबाव झेलती स्त्रियों पर आधुनिक स्वतंत्र समाज में ढल कर रहने के दबाव भी थे; अत: उनके अंतद्र्वंद्वों की अभिव्यक्ति

भी कहानियों में खूब हुई है। किंतु स्त्री-मन के वे कोने जिन पर पाप-पुण्य का मुलम्मा खूब चढ़ा हुआ है, उसे पति, स्वयं स्त्री और फिर बाज़ार ने और पक्का करने में कोई कसर नहीं छोड़ी।

इन सबके लिए सांस्कृतिक विरासत का अर्थ मध्ययुगीन परंपराओं को बिना सोचे-विचारे निभाते जाना व अगली पीढ़ियों को यथावत् सौंपना है। उसी का परिणाम है कि करवा-चौथ आदि का प्रचलन आज पहले से अधिक भव्य और विशाल स्तर पर आयोजित होता है, क्योंकि पति के लिए स्त्री के त्याग व एकनिष्ठ होने के 'पुण्य-अवसर' के भाव से प्रारंभ यह त्योहार आधुनिकता से सराबोर होकर महिलाओं के शृंगार, गहने, मिलने-जुलने व धूमधाम आदि का अवसर बन गया है। अत्याधुनिक से अत्याधुनिक भारतीय स्त्रियाँ इस दिन महँगे पारंपरिक परिधानों में लक़दक़ करतीं इसे एक सामाजिक उत्सव व भारतीय समुदाय के साथ आयोजन के अवसर के रूप में मनाती हैं। सांस्कृतिक असुरक्षा व दबाव तथा बाज़ार की शक्तियों ने मिलकर ऐसा एका साधा है कि वैचारिकता के लिए वहाँ कोई अवकाश नहीं है, न ही वैचारिकता कोई मूल्य ही है।

इसी प्रकार धनी से धनी, आधुनिक से आधुनिक भारतीय परिवारों की अगली पीढ़ी के युवक-युवतियों के लिए भी भारत की तरह विवाह, प्रदर्शन का एक सबसे बड़ा अवसर है, जिस पर अंधाधुंध धन खर्च किया जाता है। पाश्चात्य देशों में भारतीय विवाह और उससे जुड़ा उद्योग सबसे बड़ा व महँगा व्यापार है। भारतीय लड़कियों से विवाह करने पर दहेज का कोई स्व-निषेध बहुधा नहीं दीखता। यहाँ यह भी ध्यान दिलाना अनिवार्य है कि अनेकानेक भारतीय युवकों को यहाँ अपने लिए भारतीय युवतियाँ नहीं मिलतीं, क्योंकि नई पीढ़ी की भारतीय युवतियाँ भारतीय युवकों के पति-रूप से घबराती हैं और पति के रूप में अपने लिए ऐसे पुरुष का वरण नहीं करना चाहतीं जो उन्हें जीवन-भर पत्नी की पारंपरिक सीमा-रेखा में कैद कर रख दे। अत: वे इनसे विवाह करने से कतराती हैं और साथ ही भारतीय युवक अथवा उनके परिवार भी अपने लिए पारंपरिक संस्कारवान कुलवधू लाने की जद्दोजहद में सीधे भारत की ओर दौड़ लगाते हैं, उनकी दृष्टि में विदेश में पली-बढ़ी भारतीय युवतियाँ कुल-वधू की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं और एक आदर्श बहू नहीं बन सकतीं। इसका एक बड़ा दुष्प्रभाव भारत में रहने वाली युवतियों व उनके परिवार पर यह पड़ता है कि अति उत्साह में खूब दान-दहेज व धन खर्च करके किए गए विवाह के बाद जल्दी ही अनेक को धोखे का पता चलता है... भारत में भारी संख्या में ऐसे कोर्ट-केस व अनिश्चित काल के लिए युवतियों व उनके परिवारों को संताप में झोंकने के उदाहरण सामने आए हैं। भारत में हुए विवाह के आधार पर युवतियों को यहाँ सभी वैधानिक अधिकार भी विवाह टूटने की स्थिति में नहीं मिल पाते, यदि विवाह स्थायी नागरिकता प्राप्त करने

से पूर्व ही टूट जाता है तो यह सारा एक बड़ा दुष्चक्र है। ऐसा नहीं है कि सभी भारतीय परिवारों में स्त्रियों की यही दशा है या सभी भारतीय पुरुष ऐसे हैं, किंतु फिर भी इनकी संख्या इतनी कम भी नहीं है कि इन पर ध्यान न दिया जाए। नई पीढ़ी के यहीं जन्मे भारतीय-मूल के परिवारों के युवकों द्वारा विदेशी युवतियों से विवाह का अनुपात भी इधर काफी बढ़ा है।

देह को लेकर यहाँ बसे भारतीय मूल के परिवारों की यहीं जन्मी नई पीढ़ी की युवतियों की वर्जनाएँ लगातार टूटी हैं। यद्यपि ऐसे परिवार व युवतियाँ भी अनुपात में बहुत हैं जो विवाह-पूर्व यौनशुचिता के अत्यंत आग्रही हैं। भारतीय-मूल के परिवारों के युवकों द्वारा भारत में बसे परिवार की युवतियों से विवाह करने के पीछे यह भी एक बड़ा कारण है क्योंकि उन नवयुवकों व परिवारों के लिए पत्नी का कौमार्य मुख्य है। यद्यपि भारतीय-मूल की यहीं जन्मी-बढ़ी युवतियों में यह आग्रह इस तुलना में काफी कम अनुपात में है; उनके लिए पति का कौमार्य मूलभूत अनिवार्यता नहीं है। ऐसे जोड़ों की भी कमी नहीं, जिनके लिए एक-दूसरे के विवाह पूर्व यौनिक संबंधों का कोई मूल्य नहीं। वे अपने साथी का आकलन इस आधार पर नहीं करते कि वह उनसे पूर्व किसी दूसरे के साथ कैसा-क्या था/थी, अपितु इस आधार पर करते हैं कि उनका/उनकी साथी उनके साथ कैसा/कैसी है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि आधुनिक भारत से विदेश जाने वाली पीढ़ी में से अधिकांश को सांस्कृतिक द्वंद्वों का सामना कम करना पड़ता है क्योंकि बदलते समय में विदेश कोई एकदम अनजाना स्थल नहीं रहा, भारत में रहते हुए भी लोग यहाँ के परिवेश से परिचित हैं, यहाँ की फिल्में व टीवी कार्यक्रमों के द्वारा वे यहाँ की उस छवि से तो परिचित होते ही हैं जो टीवी व फिल्मों अथवा समाचारों द्वारा संप्रेषित होती है; साथ ही भारत में अत्याधुनिकता के प्रवेश के कारण खुलापन कोई अचंभे वाली स्थिति नहीं रही, अत: खुलेपन को लेकर किसी प्रकार की कठिनाइयों का सामना या द्वंद्व आदि आधुनिक समय में आने वाले परिवारों/व्यक्तियों/महिलाओं को नहीं झेलने पड़ते। सच बात तो यह है कि भारत से बाहर निकल कर इन देशों में रहना स्त्रियों के लिए कहीं बड़ी मात्रा में निरापद भी होता है। इस 'निरापदत्व' का मूल कारण इन देशों में स्त्री की सामाजिक, पारिवारिक स्थिति है। छेड़छाड़ के मामले न के बराबर हैं, पत्नी व पति की सामाजिक व पारिवारिक स्थिति में कोई अंतर नहीं है, स्त्रियाँ आधी रात को अकेली भी निरापद हैं, (या यदि असुरक्षित हैं तो उसी अनुपात में जितने अनुपात में पुरुष), कोई आँख उठा कर सुंदर से सुंदर, युवा से युवा स्त्री को नहीं देखता है, उसका सार्वजनिक यौनिक-उत्पीड़न तो दूर की बात है, पत्नी अपने पति से कमतर नहीं है व न पति अपनी पत्नियों पर पुरुष होने के नाते धौंस जमाते हैं, अत: लड़की देखने, दहेज, खर्चीला विवाह, ससुराल का उत्पीड़न और बहू का कमतर होना

जैसा पूरा दुष्चक्र यहाँ सिरे से नदारद है, देह को लेकर स्त्री का स्वयं को लज्जास्पद समझना व तज्जन्य ग्लानिवश घबराए, स्वयं को छिपाए, ढँके घूमना आदि कल्पनातीत बाते हैं। घूँघट-पर्दे आदि की तो बात ही क्या। बेटी का जन्म बेटी व माँ का अपराध नहीं है अपितु अधिकांश लोग बेटी के माता-पिता होना गर्व का कारण समझते हैं अत: कन्या-भ्रूण-हत्या की कल्पना भी दूर की कौड़ी है, बलात्कार के 'वास्तविक' आँकड़े भारत की तुलना में नाममात्र को हैं, जो हैं भी तो वे लड़कियों के वयस्क होते या सुध में आते ही प्रकाश में आ जाते हैं क्योंकि बलात्कार यहाँ स्त्री का अपराध नहीं अपितु पुरुष का ही है, समाज में देह को लेकर वर्जनाएँ न होने के कारण बलात्कार से पाप-पुण्य का कोई लेना देना नहीं, बलात्कृत समाज में निंदनीय अथवा त्याज्य नहीं है, न ही बलात्कार जीवन का अंत है, वे खुलकर व पूर्ववत् इस दुर्घटना के बाद भी अपने सामाजिक स्तर से छिन्न नहीं होतीं, नौकरियों के समान अवसर हैं, वेश्यावृत्ति भी वैसा कार्य नहीं है जैसा भारत में समझा जाता है, वह केवल प्रोफेशन है, स्त्री के चरित्र का आकलन व निर्धारण उसके वेश्या होने न होने से नहीं होता। भीड़भाड़ में स्त्री देह को छूने-मसलने जैसी घटनाएँ दुर्लभ हैं। मात्र स्त्री के लिए यौन-शुचिता व स्त्री के ही लिए किसी भिन्न आचार-संहिता का अस्तित्व नहीं है, स्त्री होने के चलते उनकी कोई भिन्न 'कंडशनिंग' नहीं हुई होती है, न ही उस पर दो कुलों की मान-मर्यादा का बोझ होता है, आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी होती हैं, बल्कि पूरे परिवार का खर्च स्त्री की कमाई से भी कई बार चलता है और अनेकानेक परिवारों में तो स्त्रियों की आय पुरुषों की आय से कहीं अधिक है, स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक सामाजिक महत्ता रखती हैं और कुछ अंशों में पुरुष का स्थान कमतर होता जा रहा है, रिश्ते निभाने का दायित्व मात्र स्त्री पर ही नहीं है, सृजन/संतानोत्पत्ति व सतीत्व/स्त्रीत्व की अनिवार्य शर्त नहीं हैं, स्त्रियाँ संपत्ति नहीं हैं। स्कैंडेनेवियन देशों में गर्भपात की वैधानिक मान्यता व अधिकार स्त्री को मिलते ही वह लिंगाधारित बंधन से स्वेच्छा से मुक्त होने का अधिकार भी पा गईं; यद्यपि गर्भ-निरोधकों का आविष्कार स्त्री-शोषण के कई बड़े अस्त्रों व अवसरों के समापन जैसा था, क्योंकि उन्हीं की आड़ लेकर सदियों से दैहिक शोषण चलता आ रहा था। विकसित देशों में सर्वप्रथम घटी इन दो घटनाओं के चलते यहाँ की स्त्री बहुत पहले वैयक्तिक रूप से स्वतंत्र होने की ओर बढ़ चुकी थी। अत: पुरुषों के पास लिंगाधारित भेदभाव के अधिकांश अवसर भी समाप्त हो चुके। अब तो अरसे से सामाजिक स्तर पर लिंगाधारित भेद-भाव का लेश भी नहीं है, परिवार व समाज के निर्णयों में स्त्री की समान भूमिका होती है, विवाह का अर्थ स्त्री का सामाजिक जीवन से निर्वासन कदापि नहीं होता, स्त्री से 'गृह कार्यों में दक्ष' होने की माँग व अपेक्षा इस समाज के शब्द नहीं हैं, अत: इनका कोई अस्तित्व व्यावहारिक जीवन में नहीं है, घरेलू कामकाज में पुरुष व स्त्रियों की बराबर भूमिका होती है, अत: घर स्त्री का दायित्व है

ऐसा समझना भी भारी भूल है, अपराध है, घरेलू व पारिवारिक परिवेश में भी लिंग-भेद का लेश नहीं है, कुछेक अपवादों को छोड़कर। स्त्री परावलंबी व आश्रिता है यह कोई सोच भी नहीं सकता, निर्भरता के लिए स्त्री को आश्रय के विकल्पों की खोज नहीं करनी पड़ती, इसलिए स्त्री-पुरुष संबंध समानता पर तय होते, बनते व निभते-न निभते हैं, मात्र स्त्री को पतिव्रता का कवच ओढ़ने-पहनने की आवश्यकता नहीं होती।

भारत जैसे लिंगभेद से ग्रसित व पितृसत्तात्मक समाजों से आने वाली युवतियों व महिलाओं के लिए इस प्रकार के वातावरण में रहना दिवास्वप्न के साकार हो जाने जैसा होता है, अत: ऐसे में जो द्वंद्व उनके अंतर्मन को मथते हैं, वे उनके निजी पारिवारिक जीवन में इस लिंगभेद की उपस्थिति के कारण ही अधिकांश जन्मते हैं; क्योंकि आप जिस देश, समाज व वातावरण में रह रहे हों, जब वह पूरा वातावरण स्त्री की दृष्टि से आपका वांछित वातावरण हो जिसमें आप खुल कर साँस ले सकते हैं या सबको लेते देखते हैं एवं आप स्त्री होने के नाते स्वयं को तिरस्कृत अनुभव करवाए जाने वाले सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश से एकदम बाहर आ चुके होते हैं; तो वैसे में अपने निजी दैनंदिन जीवन में परिवार की जड़ीभूत मान्यताओं के चलते मनुष्य से अधिक स्त्री होने का स्मरण सदा बनाए रहना हर पल सालता है व अधिकाधिक सालता है क्योंकि तुलना के लिए एक जीता-जागता समाज व परिवेश आपके सम्मुख होता है, आपको लिंगाधारित भेदभाव अन्याय के रूप में समझ आने लगता है। यह समझ आना ही असंतोष व फिर प्रतिरोध का जनक बनता है।

खेद का विषय है कि पाश्चात्य देशों की इस सामाजिक संरचना को भारत में रहते ठीक से समझा नहीं जा सकता, बहुधा लिंगभेद न होने को पश्चिम में नग्नता, निरंकुशता, चरित्रहीनता, संस्कारहीनता आदि विशेषणों से भारतीय समाज में अभिहित किया जाता है, अल्पावधि पर्यटन आदि के लिए आने वाले बुद्धिजीवियों तक के माध्यम से भी इन देशों की ऐसी छवि ही भारत में गई है क्योंकि वे कुछ दिन के लिए यहाँ आकर भारत के चश्मे से व अपने पूर्वाग्रहों वाली मानसिकता से इन विकसित देशों को देख कर लौट जाते हैं। कुछ वरिष्ठ लेखकों ने अपने यात्रा-वृत्तांत आदि भी जो लिखे हैं, वे भी ऊपर-ऊपर से भारतीय चश्मे व पूर्वाग्रही मन से इन देशों को देखने की उनकी समझ के प्रमाण बन कर रह गए हैं। इसलिए समाज- सांस्कृतिक अर्थों में यदि विदेश को कोई गंभीरता से देखना चाहे, तो उसे गंभीर भारतेतर हिंदी साहित्य का अध्ययन गंभीरता से करना चाहिए। इन देशों की सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना की मूलभूत विशिष्टताओं को, इन समाजों के सौंदर्य-बोध व शिष्टाचार को व ऐसी अनेकानेक अन्य विशेषताओं को बिना समझे इन देशों का मूल्यांकन करने के अपने खतरे तो हैं ही, साथ ही हमारी अनवधानता का प्रदर्शन भी होता है और ग्राह्य-अग्राह्य के विवेक का अभाव भी प्रकट होता है। इन अर्थों में यह संकेत भी उभर कर आते हैं

कि भारतेतर साहित्य की आलोचना के लिए कुछ नए मापदंडों/पैमानों की आवश्यकता भी है जो इस साहित्य का मूल्यांकन इस आधार पर भी कर सकें कि इस साहित्य को किसी चश्मे से नहीं देखेंगे। आलोचना की एक ऐसी दृष्टि का विकास किया जाना चाहिए जो कोई पूर्वापर दृष्टि लेकर अवतरित न हो। यहाँ सहज ही यह अवश्यंभावी प्रतीत होता है कि आलोचना की वह दृष्टि भी क्यों न उसी समाज व परिवेश में विकसित हो, जहाँ यह साहित्य विकसित-विरचित हो रहा है, ताकि इस साहित्य के साथ सही न्याय किया जा सके व सही मूल्यांकन भी हो सके। अस्तु!

इन सभी प्रकार की सामाजिक-पारिवारिक स्थितियों के बीच पलता-बढ़ता भारतेतर हिंदी-लेखन गत कुछ वर्षों से प्रचुर मात्रा में पाठकों के हाथों में पहुँच रहा है। जिन देशों में सर्वाधिक मात्रा में हिंदी लेखन प्रकाश में आ रहा है, वे क्रमशः ब्रिटेन, अमेरिका व कैनेडा हैं। इनके अतिरिक्त नॉर्वे, ऑस्ट्रेलिया, जर्मनी, डेनमार्क, स्विट्जरलैंड, फ्रांस, जापान, अरब देश, मॉरीशस, फिजी, सूरीनाम, गयाना, मलेशिया, न्यूजीलैंड, थाईलैंड आदि अनेक देशों में भी हिंदी लेखक लिख रहे हैं किंतु उनकी संख्या व अनुपात प्रथम तीन देशों की तुलना में कम है। इस लेखन का सर्वाधिक सुखद पक्ष यह भी है कि लेखकों में बड़ी संख्या स्त्रियों की है, लेखकों की तुलना में लेखिकाएँ अधिक हैं और इनकी मुख्य विधा कहानी ही है। यह जानना सुखद है कि ब्रिटेन से पहले समेकित संकलन के संपादन का श्रेय लेखिका (उषा राजे) को जाता है व अमेरिका से पहले समेकित संकलन के संपादन का श्रेय भी लेखिका (अंजना संधीर) को ही एवं ब्रिटेन से लेखिकाओं के 'प्रवास में पहली कहानी' (21 लेखिकाएँ) संकलन के संपादन का श्रेय भी लेखिका (उषा वर्मा) को ही।

आज जिस व्यापक व विस्तीर्ण भावभूमि पर महिलाएँ लिख रही हैं, वह आश्वस्त करता है कि श्रेष्ठ साहित्य में समानांतर योगदान देने में भारतेतर (प्रवासी) हिंदी साहित्य की भी बड़ी भूमिका सुनिश्चित है। लेखिकाएँ सांस्कृतिक सेतु का निर्माण ही नहीं कर रहीं, अपितु हिंदी समाज में स्त्री की एक नितांत भिन्न छवि को भी स्थापित कर रही हैं, जो एक अलग भावभूमि व परिवेश में साँस लेती है। समकालीन भारतेतर हिंदी कथा साहित्य में यद्यपि स्त्रियों का योगदान सर्वाधिक है किंतु इसके साथ ही इस गर्व को भी स्मरण रखा जाना चाहिए कि भारत से बाहर की धरती पर रचे गए साहित्य ने ही हिंदी को पद्मश्री डॉ. धनीराम प्रेम, निर्मल वर्मा, अभिमन्यु अनत, कृष्ण बलदेव वैद आदि भी दिए। भारत से बाहर रचे जा रहे स्त्री-लेखन में सबसे प्रमुख नाम उषा प्रियंवदा का है, जिनकी भारत में रहते हुए व अमेरिका पहुँचने तक केवल एक कहानी 1961 में आई थी 'वापिसी' शीर्षक से। उनका शेष समूचा साहित्य भारत से बाहर रचा गया। अमेरिका की भूमि पर रचा गया उनका कहानी संकलन 'एक कोई दूसरा' 1966 में प्रकाशित हुआ। इस नाम से लिखी गई उनकी कहानी 1961 में 'नई कहानियाँ' में प्रकाशित हुई थी। स्वयं उषा प्रियंवदा बताती हैं कि 'वापिसी' के

अतिरिक्त उनका समूचा लेखन अमेरिका की धरती पर ही हुआ है। विदेशी धरती पर **किसी महिला द्वारा रचा** पहला हिंदी उपन्यास भी 'रुकोगी नहीं राधिका' उषा प्रियंवदा का ही है। उन्होंने उच्चकोटि का इतना प्रभूत लेखन किया है कि हिंदी का सामान्य पाठक व अध्येता तक सहज विश्वास नहीं कर पाता कि वे 50 से अधिक वर्षों से अमेरिका में बसी हुई हैं। उनके लेखन पर शताधिक शोध कार्य विभिन्न शिक्षा संस्थानों में हो चुके हैं, जो भारतेतर (प्रवासी) लेखन के लिए गर्व का विषय हैं। इनके अतिरिक्त पचासों छोटे-बड़े महिला नाम और हैं जो निरंतर अपनी लेखनी से समय व संवेदना को अभिव्यक्ति दे रहे हैं। **प्रसंगवश यह उल्लेख भी अनिवार्य है कि भारतेतर प्रथम हिंदी कहानीकार/उपन्यासकार ब्रिटेनवासी पद्मश्री डॉ. धनीराम प्रेम (नवंबर, 1904-11 नवंबर, 1979) हैं, कथासाहित्य, संपादन, संगीत-निदेशक, पटकथा-लेखक, यात्रा-वृत्तांत, सिनेमोटोग्राफी, फिल्मकला, मेडिकल विषय, राजनीति, वैचारिक निबंध आदि विधाओं में उनकी अप्रतिम बहुमुखी प्रतिभा का मूल्यांकन अभी आलोचना द्वारा बहुत शेष है।**

वस्तुत: विदेशों में पुस्तकों के किसी समेकित प्राप्ति स्थल का अभाव साहित्य व पठनीयता की दृष्टि से बहुत बड़ा अभाव है। ऐसा कोई सार्वजनिक संग्रह/पुस्तकालय नहीं है जहाँ अलग-अलग देशों के सभी रचनाकारों की सभी कृतियों की प्रति उपलब्ध या संकलित हो। ऐसे में रचनाकार स्वयं या उनके परिवार वाले ही वह केंद्र होते हैं जिनसे संपर्क कर उनकी रचनाओं के विषय में आशा की जा सकती है। दिवंगत रचनाकारों के संदर्भ में यह कितना कठिन है इसका अनुमान लगाया जा सकता है। क्योंकि देश या विदेश में बसा लगभग प्रत्येक हिंदी रचनाकार अपने परिवार द्वारा अपने कृतित्व से अपरिचय व मूल्यांकन न कर पाने के लिए अभिशप्त है। यह पीड़ा भाषा की है या साहित्य की, अथवा भाषा व साहित्य दोनों की, यह किसी से छिपा नहीं है। देश कि परस्पर भौगोलिक दूरी व तदज्जन्य रुकावटें भी लेखन व लेखक से परिचय में बाधा लाती हैं और फिर यदि काल का अंतर हो तो समकालीनों से इतर का अधिकांश रचनाकर्म कई बार अछूता ही रह जाता है, कुछ देशों के रचनाकार किसी संदर्भ/अध्ययन में अधिक आ जाते हैं तो दूसरे देशों के बहुधा नगण्य रह जाते हैं। इस दूरी को इंटरनेट अब यद्यपि पाट सकता है किंतु उसमें भी कई अड़चनें हैं। गंभीर हिंदी लेखन से जुड़ी पीढ़ी की लेखिकाओं के सशक्त व सबल होने की आवश्यकता इन अर्थों में भी रेखांकित होती है कि विदेशों में बसी भारतीय मूल की बुद्धिजीवी स्त्रियों को भी अपने समय के साथ समताल होने के लिए कुछ दूरी मापना अभी शेष है। किंतु यह सच है कि जिस प्रकार भारत में महिला लेखन और उसके मुद्दे मुख्यधारा में स्थापित हो गए हैं, उसी प्रकार भारतेतर साहित्य में भी बहुधा वर्चस्व महिलाओं का ही है। यद्यपि कविता व कथा से इतर विधाओं का अस्तित्व यहाँ नगण्य-सा ही है।

भारतेतर हिंदी-लेखन जिस प्रचुर मात्रा में इन कुछ वर्षों से सामने आ रहा है, उसमें इंटरनेट की बड़ी भूमिका है। कंप्यूटर, नेट से भारत से प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं तक इस लेखन की पहुँच व राह जहाँ सरल कर दी है, वहीं सोशल मीडिया व स्मार्टफोन के माध्यम से विश्व के किसी भी कोने में बैठा व्यक्ति विश्व-भर से पल-पल जुड़ा है। वे स्त्रियाँ जो अभिव्यक्ति के माध्यम सुगमता से नहीं पा सकती थीं, उन्हें एक ऐसा मंच मिला है जहाँ वे बिना किसी की कृपा-पात्र बने, बिना किसी प्रकाशक या संपादक के सहारे भी अपनी बात लिख-कह सकती हैं। इतना ही नहीं, अब भारत सहित विश्व की स्त्री दशा पर उनकी पल-पल दृष्टि है क्योंकि संचार के माध्यमों की सरलता व बहुलता के चलते विदेश में रहकर भी सब समाचार तुरंत मिल जाते हैं। मुझे लगभग बीस वर्ष पुराना वह समय याद है जब भारत का महीने में कोई एकाध समाचार जो अंतरराष्ट्रीय सुर्खी बनता था, वही हमें मिलता था, किंतु आज स्थिति भिन्न है। आज अरब की स्त्री, भारत की स्त्री, सीरिया या ईरान की स्त्री, इजरायल या अमेरिका की स्त्री, ब्रिटेन या जापान की स्त्री, अफ्रीका या ऑस्ट्रेलिया की स्त्री आदि सबकी सब लेखिकाओं की कलम से अभिव्यक्ति पा सकती हैं क्योंकि सबकी स्थिति का पता लगा सकने वाले माध्यम अस्तित्व में हैं। बस इन सबके बीच विश्व-स्त्री का जो स्वरूप उभर कर आ रहा है व अपनी स्थानीयता के साथ प्रस्तुत होने वाली स्त्री की छवि को धूमिल न कर दे या विश्व समस्याओं के चक्कर में स्थानीय समस्याएँ ओझल न हो जाएँ, यह ध्यान रखने की बात है। यद्यपि इस लेखन में प्रवास, नस्लभेद, रंग भेद, आतंक, गुंडा गर्दी, औपनिवेशिकता, भ्रष्टाचार, संबंधों के ताने-बाने, दरकते रिश्ते, बाज़ारवाद, बूढ़ों का एकाकीपन, विस्थापन की पीड़ा, सांस्कृतिक द्वंद्व, अंधविश्वास, सबल स्त्री-रूप, त्योहार, जन्म-मृत्यु, विवाह, धार्मिक मान्यताएँ व संघर्ष, पीढ़ियों के अंतराल व द्वंद्व आदि जैसे सैकड़ों विषयों को उकेरा जा रहा है किंतु भविष्य में अधिक व्यापक सामाजिक, राजनैतिक, प्रशासनिक, राष्ट्रीय आदि प्रश्नों, सरोकारों व उथल-पुथल तथा वैचारिक संघर्षों, कटु-यथार्थ, व्यापक मानवीय सरोकारों आदि से संयुक्त साहित्य की संभावना व आशा पूरी होनी शेष है। भारतेतर (प्रवासी) हिंदी लेखन के स्तर को लेकर व इसके नॉस्टेलजिक साहित्य होने आदि के आरोप भी सदा से इस पर लगते रहे हैं। शीघ्र ही इन चुनौतियों का उत्तर देने वाले एक बहुखंडीय संकलन की योजना भी मूर्त रूप लेने वाली है।

आधुनिक देशों में स्त्री-विमर्श के प्रतिमान भारतीय स्त्री-विमर्श से कई अर्थों में भिन्न हैं। जैसा कि यहाँ की सामाजिक संरचना में स्त्री के स्थान व भूमिका का ऊपर उल्लेख किया ही है, तो उससे स्पष्ट है कि देह का बंधन इन देशों में स्त्री-विमर्श का प्रमुख मुद्दा नहीं है। इसलिए स्त्री-विमर्श के मात्र देह-विमर्श तक सीमित हो जाने का प्रतिरोध भी विकसित देशों में दीखने लगा है, इन देशों में स्त्री-विमर्श में देह के विमर्श की उपस्थिति स्त्री के स्वेच्छा से बाज़ार की शक्तियों द्वारा संचालित हो देह-भर रह जाने के प्रतिरोध में भी व्यापक रूप से है। वैश्विक दृष्टि से विकसित देशों के

अतिरिक्त शेष दुनिया-भर में देह का बंधन व अंकुश निस्संदेह स्त्री पर है किंतु स्त्री-विमर्श के मात्र देह-विमर्श हो जाने के और भी बड़े खतरे उसी अनुपात में उन देशो में हैं जहाँ देह-विमर्श की आवश्यकता अनुपातत: अधिक है। उन अविकसित या विकासशील देशों में स्त्री की इतनी काराएँ हैं कि देह-विमर्श के चलते स्त्री-विमर्श के प्रति बने समाज के नज़रिए के कारण स्त्री-विमर्श को सही स्त्री तक पहुँचने ही नहीं देतीं। साधारण जन स्त्री-विमर्श से इस कारण बिदकने लगता है। इन अर्थों में मात्र देह-विमर्श में रूपांतरित हुए स्त्री-विमर्श ने स्त्री-विमर्श के लक्ष्यों की पूर्ति में ही बड़ी बाधा खड़ी कर दी है। एक और प्रश्न समाज उठाता है कि स्त्री-विमर्श पुरुष के 'सेक्सुअल फ्रीडम' से त्रस्त स्त्री को उबारने/उबरने का भी विमर्श है, जो मूलत: पुरुष के 'सेक्सुअल फ्रीडम' को स्त्री के प्रति किया गया बर्बर अन्याय भी कुछ अर्थों में मानता है। पुरुष के 'सेक्सुअल फ्रीडम' का विरोध इसके लक्ष्यों में एक है। ऐसे में स्त्री के लिए 'सेक्सुअल फ्रीडम' क्या पुरुष के 'सेक्सुअल फ्रीडम' का प्रतिरोध बन सकता है? क्या यह उचित है? जिसकी निंदा व विरोध किसी विमर्श का लक्ष्य हो, उसकी माँग व अपेक्षा अपने लिए करना किसी विमर्श का मुख्य लक्ष्य हो जाना भी एक बड़ा प्रश्नवाचक है।

चिंतनीय प्रश्न यहाँ यह भी है कि भारत से बाहर हिंदी में लेखन करने वाली पीढ़ी वही है जो भारत से भाषा व साहित्य का संस्कार लेकर विदेश गई थी, न कि विदेशी धरती पर जन्मी-पली-बढ़ी। अब जबकि भारत से आकर यहाँ बसने वाली पीढ़ी के पास भी हिंदी या भारतीय भाषाओं का साहित्यिक-भाषिक संस्कार नाममात्र है, तो ऐसे में भारतेतर साहित्यिक लेखन का भविष्य क्या होगा, इसकी कल्पना कठिन नहीं है.... यह लगभग समाप्तप्राय है।

❑❑

प्रवासी कथा साहित्य और स्त्री

डॉ. अनीता कपूर

ऐसा माना जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है फिर चाहे वो भारतीय समाज हो या अपनाए हुए देश का समाज हो। प्रवासी भारतीयों की सोच भारत में हो रही गतिविधियों से भी संचालित होती है, और यह संचालित सोच प्रवासी लेखन में बखूबी दिखाई देती हैं, फिर चाहे वो कोई भी विधा हो। प्रवासी कथा साहित्य जिसका रंग-रूप भारत के पाठकों के लिए एक नएपन का बोध देता है, कारण है, प्रवासी कथा साहित्य में अपने अपनाए हुए देश के परिवेश, संघर्ष, विशिष्टताओं, रिश्तों और उपलब्धियों पर जानी-मानी प्रवासी कथाकारों ने अपने लेखन के द्वारा एक भिन्न समाज से परिचय करवाया है। विषय समाज की ठोस समस्याओं से जुड़े होते हैं और नारी चरित्रों एवं परिवेश के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों और अन्याय का अनावरण भी किया जाता है। प्रवासी के लिए यह आसान नहीं होता कि वह अपने अपनाए हुए देश की संस्कृति, सभ्यता और रीति-रिवाज़ से पूरी तरह जुड़ पाए। उनकी जड़ें अपनी मातृभूमि, संस्कारों एवं भाषा से जुड़ी होती हैं और जहाँ तक स्त्री की बात आती है तो सभी धर्मों और देशों में नारी का रुतबा हमेशा से दोयम दर्जे का रहा है। जो प्रवासी रचनाकारों की कथाओं में भी झलकता है।

प्रवासी कथा-साहित्यकारों में ऐसे बहुत से नाम है, जिनकी रचनाओं को पढ़कर आप बखूबी अनुमान लगा लेंगे कि आज भी विदेशों में रहते हुए भी वे दुनिया को भारतीय चश्मे से देखते हैं, इसीलिए उनका लेखन नएपन के बावजूद भी पाठक के दिल के करीब होता है और मन को छू जाता है। अमेरिका में विगत 25 वर्षों से रह रही जानी मानी कथाकार सुधा ओम ढींगरा जी के कहानी संग्रह 'कौन सी ज़मीन अपनी' में यह कहानी 'क्षितिज से परे' पाठक को वाकई सोचने पर मज़बूर कर देती है कि, औरत ही हमेशा त्याग की मूरत बनी रहे, पुरुष चाहे भारत की जमीं पर रहता हो या विदेशी जमीं पर। कहानी की नायिका, सारंगी जो सिर्फ सत्रह साल की उम्र में अपने पति सुलभ के साथ कैनेडी एयरपोर्ट पर डरी-सहमी-सी उतरी थी और अमेरिका में पहले

ही दिन उसके पीएच्.डी. उम्मीदवार पति ने उसे 'बेवकूफ़' कह कर पुकारा था और चार पढ़े-लिखे और अच्छे कैरियर वाले बच्चों की माँ होने के बावजूद चालीस साल तक उसका पति बेवकूफ़ कह कर पुकारता रहा, सारंगी त्याग और सहिष्णुता की देवी बनी सारे कर्तव्य चुपचाप निभाती रही। अंत में वह फैसला करती है कि उसे अपने पति को तलाक देना होगा, उसका पति अभी भी चालीस साल पहले की मानसिकता में जी रहा है। दसवीं पास सारंगी, जिसने हर रोज़ पराये देश में संघर्ष किया, सोच और समझ दोनों में बहुत आगे निकल गई है। वह अब और अपने पति से जुड़ी नहीं रह सकती। उसकी प्राथमिकताएँ बदल गई हैं। सारी ज़िम्मेदारियों का निर्वाह करने के बाद आज वो आखिरकार हिम्मत जुटा पायी है....कि अपने आसमान की तलाश उसे करनी ही होगी, जहाँ वो उम्र के पड़ाव को भी पछाड़ सकती है। चूँकि कोई भी कहानी रिश्तों और समस्याओं की तर्कसम्मत प्रस्तुति होती है इसी कारण कहानी में समस्याओं का हल प्रस्तुत करने के लिए लेखिका ने विदेशों में रह रहे भारतीयों ख़ास कर महिलाओं के बारे में एक ग़लतफ़हमी को दूर करने का सफल प्रयास किया है। अमेरिका की प्रसिद्ध लेखिका रचना श्रीवास्तव जी को विदेश जाकर जो माहौल दिखा, उसमें वो कहती है कि, हम स्त्रियों की दशा थोड़ी कष्टप्रद होती है। भारतीय संस्कार और यहाँ के वातावरण में तालमेल बैठाना कठिन होता है। बहुत समय लगता है अपने आपको इस माहौल में ढालने के लिए। कभी किसी महिला का दर्द शब्दों में ढल कर कविता या कहानी का रूप ले लेता है। भारतीय समाज और विदेशी समाज की धारणाएँ अलग होते हुए भी ..... यहाँ भी पुरुष सिर्फ अपने लिए ही जीता है..... इसकी मिसाल उनकी एक कहानी 'पार्किंग' है..... जिसमें नारी पात्रों के जरिये रचना जी ने विदेशी समाज और भारतीय समाज की नारी के रिश्तों के प्रति सोच और त्याग को एक जैसा ही दर्शाया है, और पुरुष की स्वार्थी मानसिकता को भी, नायिका जूलिया का रूखा व्यवहार स्नेह को तब समझ आता है जब जूलिया उसे अपनी आपबीती सुनाती है कि, किस तरह वो पति के हाथों छली गयी है और बेटे के एक्सिडेंट ने उसे और भी तोड़ दिया है पर वो फिर भी जीती है बेटे की खातिर.... परिवेश कोई भी हो आज भी नारी ही चुपचाप सहती है परिवार और बच्चों की खातिर।

अमेरिका में 30 वर्षों से प्रवासी होते हुए भी सुषम बेदी जी भारतीय समाज की संस्कृति और रीति-रिवाज़ों को भुला नहीं पायी, जहाँ आज भी स्त्री हर रस्मों-रिवाज़ को निभाने में पूरा सहयोग करती है। चूँकि इस कहानी में स्त्री विदेशी मूल की है, तो उसका एक अलग ही रूप दर्शाया गया है जो भारतीय स्त्री से कहीं भी मेल नहीं खाता और उसकी पीड़ा नायक सहता है। सुषम बेदी जी की कहानी 'अवसान' में नायक शंकर अपने दोस्त दिवाकर का अंतिम संस्कार हिंदू रीति से करना चाहता है; परंतु उसकी अमेरिकी पत्नी हेलन चर्च में ही सारी औपचारिकताएँ पूरी करनी चाहती है। यहाँ नारी का दूसरा रूप दर्शाया है जो 'पार्किंग' कहानी की नायिका के बिलकुल विपरीत है, जबकि दोनों नायिकाएँ अमेरिकी मूल की हैं। हेलन शंकर का साथ न

देकर जिद पर अड़ी हैं, जिसके चलते शंकर, पादरी की क्रिया खत्म होते ही गीता के श्लोकोच्चारण से अपने मित्र के अंतिम संस्कार की क्रिया को पूर्ण करता है और वो कैसे बहुत संयत तथा हल्का महसूस करता है।

ब्रिटेन की शैल अग्रवाल जी की कहानी 'वापसी' में परंपरा तथा आधुनिकता के अंतर्द्वंद्व में फँसी नायिका पम्मी अपने घर-परिवार की मान-मर्यादा के लिए अपनी खुशियों तथा आकांक्षाओं का गला घोंट देती है। नारी को फिर त्याग की मूर्ति दिखाया है। उसके हिसाब से हित के लिए लिया गया निर्णय सौदा नहीं, त्याग होता है और वह कहती है कि मैं ही क्या हमारे यहाँ तो हज़ारों पम्मियाँ सदियों से ही करती आ रही हैं। नारी-हित की बातें करने वाले इस देश में बस यही होता आया है। पहले राधा-कृष्ण अलग किए जाते हैं; फिर उनके मंदिर बना दिए जाते हैं....आदत डाल लो तो समुंदर में तैरती मछली भी खुशी-खुशी काँच के बॉल में तैरने लग लाती है।' (पृ. 42) परंपरा तथा आधुनिकता के अंतर्द्वंद्व में फँसी पम्मी अंततः हेमंत के साथ जाने को तैयार हो जाती है और खास बात तो यह कि उसकी दादी भी उसकी वापसी के लिए अपनी सहर्ष सहमति देती है। कहानी के अंत को पढ़कर पुरानी पीढ़ी की नारी (दादी) को नए परिवेश में ढलते दिखाना कहीं न कहीं बदलते समाज का रूप है... चाहे धीरे-धीरे ही सही।

नारी का एक विश्व प्रसिद्ध रूप कर्मठता का भी है, चाहे देशी धरती हो या विदेशी। महिला चाहे तो अपनी मेहनत और लगन से कुछ भी हासिल कर सकती है और यह लंदन की उषा राजे सक्सेना जी की कहानी 'बीमा बीस्माट' एक बिल्कुल नए कथानक से पाठकों को परिचित कराती है। कहानी एक शिक्षिका द्वारा एक अर्धविक्षिप्त बालक बीमा बीस्माट को एक जिम्मेवार ब्रिटिश नागरिक बनाने की कड़ी मेहनत, लगन और समर्पण को प्रस्तुत करती है।

गौतम सचदेव की कहानी 'आकाश की बेटी' साधना नाम की स्त्री के त्यागपूर्ण तथा संघर्षमय जीवन की कथा है। घर-परिवार के सारे रिश्तों को तोड़कर व तमाम सुख-सुविधाओं को छोड़कर जिस देविंदर के प्यार के लिए साधना झूठ बोलकर इंग्लैंड चली जाती है, वहाँ जाने पर देविंदर द्वारा छली जाती है। देविंदर का रुखा व्यवहार तथा एक अन्य ब्रिटिश मेम शाइला से प्यार उसे तलाक के लिए मज़बूर कर देता है। दूसरी शादी में भी उसे इसी प्रकार की समस्याओं से दो-चार होना पड़ता है। वह अपनी बेटी बबली को भी गँवा देती है। अपने घर के दालान में कबूतरों को दाना चुगाती साधना के जीवन में आई एक नई कबूतरी, जिसकी शरारतें कुछ-कुछ बबली से मिलती-जुलती हैं। अब साधना उसी के इंतजार में रहती है और उसी को जीने का सहारा मानकर खुश रहती है।

प्रवासी कथाकारों ने अपने साहित्य के जरिए स्त्री के हर रूप को शब्दों में बाँध बारीकी से दर्शाने की बहुत ईमानदारी से कोशिश की है। अमेरिका की ही एक और कहानीकार पुष्पा सक्सेना जी की कहानी 'विकल्प कोई नहीं' में माँ को बेटे के चले जाने के बाद, दर्द को छिपाकर सिर्फ बहू की आने वाली लंबी ज़िंदगी के बारे में सोच

कर, बहू का बेटी की तरह कन्यादान करना और बहू का अतीत से बाहर न आ सकना, बारीकी से दिखाया है और औरत का यह रूप जहाँ, वो सास से माँ बन कर फिर एक मार्गदर्शक के नाते बहू सौम्या को समझाना कि, 'दूसरा पति, पहले का विकल्प नहीं हो सकता', नारी की बुद्धिमत्ता का द्योतक है।

और दूसरी तरफ बिलकुल इसके विपरीत लंदन के सुप्रसिद्ध कथाकार तेजेंद्र शर्मा जी की कहानी 'देह की कीमत' में अपने पति हरदीप को, जिसके साथ पम्मी ने सिर्फ 4-5 माह ही व्यतीत किए थे, जिसे वह विदेशी धरती जापान में खो चुकी है, उसके दुखों और भविष्य की परवाह न करते हुए, बीजी (सास) ऐसे विषम क्षणों में भी तिजारत और व्यावहारिक फायदे नहीं भूलती। बेटे की मौत के बाद मित्रों द्वारा भेजे चंदे बहू को न मिल पाये, बल्कि घर में ही रहे, यह सोचकर वो अपने दूसरे बेटे से विधवा बहू पर चादर ओढ़ाने की बात करती है। औरत के ऐसे स्वार्थी को तेजेंद्र जी ने बड़ी ही कुशलता से उकेरा है।

अमेरिका की एक सुप्रसिद्ध प्रवासी कथा लेखिका उषा प्रियंवदा की कहानी 'वापसी' में औरत का बिलकुल अलग रूप देखने को मिलता है जो घर-गृहस्थी और बच्चों के कारण वर्षों पति से अलग रहती है और जब सेवानिवृत्त होकर पति साथ रहने आता है तो सब कुछ बदला हुआ पाता है। यहाँ तक कि पत्नी भी साथ नहीं रह पाती, अंतराल प्यार खत्म कर चुका होता है। उनकी ही दूसरी कहानी 'आधा शहर' में स्त्री के आधुनिक रूप को दर्शाती नायिका इला पंडित अमेरिका में अँग्रेजी विभाग की प्राध्यापिका है। वह एक अकेली स्त्री है जो छोटी उम्र में घर से भाग जाती है और कैसे फिर एक प्रेमी द्वारा ठुकराई जाती है। पड़ी लिखी होने के बावजूद कलंक का टीका उसके माथे पर लगा ही रहता है जिसके चलते समय पति अभय जिसे वह बेहद प्रेम करती है आत्महत्या कर लेता है। जबकि वो एक अच्छी इंसान है, पर फिर भी इला वहाँ रह नहीं पाती। इसीलिए रिसर्च के बहाने वो अमेरिका से गोवा आ जाती है और इस देश में जिंदगी को नए सिरे से शुरू करना चाहती है। वह बिना चप्पू की नाव के तरह न भटक कर बल्कि स्थिर होकर केवल अपनी इच्छानुसार स्वतंत्र लेखन कर केवल अपनी खुशी के लिए जीना चाहती है।

अमेरिका निवासी श्री उमेश अग्निहोत्री जी की कहानी "क्या हम दोस्त नहीं रह सकते?" स्त्री का एक नया सामयिक रूप है, जहाँ कहानी की नायिका विजया, गृहस्थी के साथ-साथ अपनी आज़ादी को भी बनाए रखना चाहती है...और पति को शादी के 2 साल बाद भी एक दोस्त के उसी रूप को देखना चाहती है, जिसे देख कर ही उसने जय से विवाह किया था... पर विजया का पति, जय दोस्त से पति बन चुका है। वो विजया को फ्रायडे गर्ल्स नाइट के लिए जाने से रोकता है जो विजया को गँवारा नहीं। वो जानती है कि गृहस्थी और अपनी आज़ादी में कैसे तालमेल बिठाया जाए, पर जय उसका पति अब काफी पज़ेसिव हो गया है...इस बदलाव को महसूस करते हुए

आखिरकार विजया बिना कोई बहस या झगड़ा किए, एक सुलझी हुई महिला की भाँति कहती है, "तुम जानते हो मैंने शादी क्यों की थी, जबकि मैं तुमसे ज़्यादा हैंडसम व अच्छे डीलडोल वाले लड़कों से शादी कर सकती थी...पर उनकी तुलना में तुम मुझे कहीं अधिक कद्दावर इंसान दिखे। वे मेरी 'मूवमेंट्स' को 'मैनेज' करना चाहते थे। कोई भी मुझे मेरी आज़ादी देने के लिए तैयार न था। तुम मुझे अधिक संवेदनशील और उदार जान पड़े थे। शादी से पहले तुम मुझे मेरी आज़ादी देते थे। सोचने की वह आज़ादी अब भी दे पाओगे?" यह कह कर नायिका अनुत्तरित प्रश्नों को कमरे में छोड़ बाहर चली जाती है।

कहानीकार ने पुरुष होते हुए भी, स्त्री के लिए बोल्ड रूप को दिखाने का सुंदर प्रयास किया है...जो सराहनीय है।

ऐसा ही एक और उदाहरण कनाडा के कथाकार सुमन घई जी की कहानी "स्मृतियाँ" में देखने को मिला, जहाँ कनाडा में रहने वाली सुषमा अपने पति के आकस्मिक निधन के पश्चात् किस तरह दिलेरी और हिम्मत से अकेली ही परिस्थितियों का सामना करती है और समाज में सम्मान के साथ अकेले ही बच्चों की परवरिश करती है...यह एक आत्मनिर्भर, स्वाभिमान नारी को दर्शाने वाली अच्छी कहानी है।

अमेरिका की जानी मानी कथा लेखिका सुदर्शन प्रियदर्शिनी जी ने अपनी कहानी 'धूप' के माध्यम से नारी के मन के अंतर्द्वंद्व को उकेरा है। जिसमें नायिका रेखा अमेरिका की धरती पर कदम रखते हुई खुश है। समय के साथ उसे महसूस होता है कि उसका पति बिलकुल अमेरिकन बन चुका है और स्वार्थी भी। जैसे दूसरों की स्कीमों पर बने घरों में उम्र कट रही है। अपनी मनपसंद की चौखट कभी मिल ही नहीं पाएगी, इसलिए दूसरों के बनाए हुए साँचों में ढल और अपना नापतौल भूलने से पहले वह किस तरह से समझदारी और हिम्मत से फैसला लेती है। काबिले तारीफ है।

कुल मिला कर प्रवासी-साहित्य में कथाकारों ने अपनी पारखी नज़रों और पैनी कलम से स्त्री के संघर्ष, त्याग, साहस और बुद्धिमत्ता का ऐसा ख़ाका खींचने का प्रयास किया है, जिसमें देशी और विदेशी धरातल पर पाठकों को लाकर एक सवालिया निशान बना, उन्हें समाज में बदलाव लाने का न्योता देने का काम कर रहे हैं। देशी मिट्टी में देशी संस्कारों की सौंधी महक से सराबोर इन कहानियों से गुज़रते हुए अपने देश, अपनी मिट्टी और अपनी संस्कृति के प्रति आस्था और विश्वास में बढ़ोत्तरी होती है।

❑❑

भाषा : हमारी अस्मिता और स्वतंत्रता का रक्षा कवच

रमेश जोशी

सभी जीवों में अपनी चेतना, बुद्धि और वाक् अवयवों और आवश्यकता के अनुसार भाषा के विभिन्न स्तर होते हैं किंतु सबकी कोई न कोई भाषा होती अवश्य है। मनुष्य सबसे अधिक विकसित और विचारशील प्राणी है इसलिए उसके मानसिक स्तर के अनुसार भाषा संश्लिष्ट होती चली जाती है। वह अभिधा से होती हुई गूढ़ व्यंजना तक जाती है। इस व्यंजना में उसकी संस्कृति, इतिहास, भूगोल और जातीय अनुभवों, सभी का प्रभाव रहता है जिसे कहावतों, मुहावरों, सूक्तियों, प्रतीकों, रूपकों और उपमाओं में स्पष्ट देखा जा सकता है और भाषा की यह पूर्णता युवावस्था आते-आते प्राप्त हो जाती है। यदि बाद में जीविका या और किसी उद्देश्य के लिए अन्य भाषा सीखी जाती है तो उसका उपयोग सीमित होता है। यह सीमित काम मात्र की हो सकती है, व्यक्ति के उद्वेगों, संवेगों, सुख-दु:ख और चेतना-चिंतन की वाहिका नहीं हो सकती। इसीलिए जिन बच्चों को आजकल आर्थिक हितों के लिए मातृभाषा के अतिरिक्त कोई भाषा सिखाई जाती है तथा मातृभाषा से अधिक ज़ोर रोज़गार की भाषा पर दिया जाता है तो उस बालक का सांस्कृतिक, भावनात्मक, मानसिक, सामाजिक, जातीय और राष्ट्रीय विकास अधूरा रह जाता है। शुरू से ही विदेशों में पढ़े-लिखे और भारत में रहकर भी विदेशी वातावरण में पले बच्चे इस देश के इतिहास, संस्कृति, सोच और आशाओं और आकांक्षाओं से चाह कर भी नहीं जुड़ पाते।

आज रोज़गार और विकासशील दुनिया से जुड़ने की भाषा अंग्रेजी ही मानी जा रही है। इसलिए तथाकथित राष्ट्रीयता का दंभ भरने वाले दल भी पहली क्लास से ही अंग्रेज़ी सिखाने की बात करने लगे हैं। इसमें कोई बुराई नहीं है मगर यह मातृभाषा की कीमत पर नहीं होना चाहिए। भारत एक बहुत बड़ा और बहुभाषी देश है। यहाँ के बच्चे से कई भाषाएँ सीखने की अपेक्षा की जाती है। अपने चेतन-जगत की पूर्णता के लिए मातृभाषा, अन्य प्रांतीय भाइयों से संवाद के लिए उनकी भाषा, आर्थिक उन्नति के लिए

ग्लोबल गाँव की भाषा अंग्रेज़ी। इस प्रकार एक भारतीय बच्चे पर विकसित देशों के बच्चे की अपेक्षा सीखने का अधिक दबाव रहता है और इससे कभी-कभी उसकी स्वाभाविक विकास की गति रुक जाती है क्योंकि उसकी अधिकतर शक्ति भाषा के चक्कर में ही खर्च हो जाती है। इस मायने में वे बच्चे, जिनका केवल अपने विकसित देश की एक भाषा सीख कर ही काम चल जाता है, अधिक फ़ायदे में रहते हैं।

केंद्रीय विद्यालयों में अध्यापन के दौरान विभिन्न अहिंदी भाषी विद्यार्थियों को पढ़ाने का अवसर मिला। जिन बच्चों की मातृभाषा हिंदी से इतर थी वे बच्चे हिंदी भाषी बच्चों से अधिक विकसित हुए क्योंकि उनके पास एक भाषा अधिक हो गई। इस प्रकार यदि हमारे पास एक से अधिक भाषाएँ होती हैं तो हम अधिक सामाजिक, राष्ट्रीय और वैश्विक होते हैं जैसे कि सभी धर्मों के बारे में जानने वाला व्यक्ति धार्मिक दृष्टि से अधिक सहिष्णु और उदार होता है। इसलिए अधिक से अधिक भाषाएँ सीखने से हमारा विकास अधिक होता है। मगर इसका यह अर्थ कभी नहीं हो सकता कि हम साँस, हवा, पानी और माँ के दूध की तरह मिलने वाली अपनी मातृभाषा को न सीखें या उसे कम महत्व दें। यदि ऐसा करते हैं तो हो सकता है कि हम थोड़ा बहुत आधुनिक होने का भ्रम पाल लें पर हमारा जीवन अधूरा ही रहेगा।

भाषाओं के बारे में हम जान लें कि कोई भी भाषा उसके नियमों के अनुसार पूरे अनुशासन से सीखी जाए तो फिर कोई अन्य भाषा सीखने में अधिक ज़ोर नहीं आएगा मगर हो क्या रहा है कि हम कैरियर के नाम पर विज्ञान और गणित को इतना महत्व और समय दे देते हैं कि अपनी भाषा उपेक्षित हो जाती है। विज्ञान और गणित भी बच्चे को इसलिए कठिन लगते हैं कि उसे उस भाषा की समझ कम होती है जिसके माध्यम से वह उन विषयों को पढ़ रहा है। आवश्यक है कि कोई भी एक भाषा अच्छी तरह से सिखाई जाए जोकि मातृभाषा ही हो सकती है। इसके बाद हम, जैसा भी आवश्यक हो, नई भाषा भी सीखें पर उसे जीवन की भाषा बनाने की न सोचें क्योंकि जीवन की भाषा तो मातृभाषा ही हो सकती है।

भाषा के साथ उस भाषा वाले समाज के इतिहास, संस्कृति और जातीय अनुभव भी आते हैं। अंग्रेजी का साहित्य हमारे लिए घटना मात्र हो सकता है, हमें संस्कारित करने वाला नहीं। उदाहरण के लिए बच्चों के शिशु गीत—'लंदन ब्रिज इज फालिंग डाउन' से बच्चा क्या बिंब बना सकेगा और क्या समझेगा। ऐसे सीखी गई भाषा जीवन को एकांगी बनाती है। ऐसी शिक्षा ने ही भारत को 'भारत' और 'इंडिया' में बाँट दिया है। और यह विभाजन हमारी उन्नति और राष्ट्रीय एकता में बहुत बड़ी बाधा है।

देश से बाहर जाने पर यह खालीपन और अधिक अनुभव होता है। वहाँ आप किसी की शक़्ल-सूरत देखकर उसे भारतीय जानकर दौड़ कर उससे मिलते हैं मगर भाषा के अभाव में संवाद नहीं हो सकता। अंग्रेज़ी में तो ऊपरी तौर पर हाल-चाल ही पूछे जा सकते हैं, दिल की बात तो नहीं हो सकती। अमेरिका प्रवास के दौरान एक

मंदिर में गए जहाँ बहुत से भारतीय थे मगर वे आपस में अच्छी तरह संवाद नहीं कर पा रहे थे और मज़बूरन अपने-अपने भाषाभाषी ग्रुप में बँट गए। एक प्रवचन हुआ तो वह भी अंग्रेज़ी में और फिर तो सारा ही अंग्रेज़ीकरण हो गया। गणेश जी 'एलीफेंट गोड' और हनुमान जी 'मंकी गोड' हो गए। क्या 'मंकी गोड' से हनुमान के भाव तक पहुँचा जा सकता है? यही बात और भी सांस्कृतिक संदर्भों पर लागू होगी।

जब काले लोगों को गुलाम बनाने के लिए पकड़ कर अमेरिका में बेचा गया तो उन्हें खरीदने वाले मालिकों ने उन्हें मार-मार कर अपना नाम न लेकर मालिकों द्वारा दिया गया नाम मानने के लिए बाध्य किया गया। इसके बाद इन्हें मालिकों की भाषा में बात करने के लिए बाध्य किया गया। अमेरिका में एक बार कालों ने विद्रोह किया। हालाँकि वह बहुत छोटा था और बीस-तीस गोरों और दो-चार सौ कालों के मरने तक समाप्त हो गया। इसी विद्रोह के बारे में जो कुछ लिखा गया उसमें एक जगह आता है कि 'काले लोगों का आपस में मिलकर अपनी बोली में गाया गया गीत तलवार से भी अधिक खतरनाक है। इससे पता चलता है कि किसी समाज की अस्मिता, एकता और संवाद से पैदा होने वाली शक्ति कितनी महत्वपूर्ण और बड़ी होती है। इस शक्ति पर प्रहार किसी विदेशी शासन या योजना के तहत हो तो बात समझ में आती है मगर हम ख़ुद ही नासमझी में उसे क्षीण करें तो अधिक चिंता की बात है और उस स्थिति में उसका इलाज भी अधिक कठिन हो जाता है। अंग्रेज़ों के समय में उनकी गुलामी से लड़ना अधिक आसान था बजाय अपनों द्वारा वैश्वीकरण के नाम पर लादी जा रही आज की अप्रत्यक्ष गुलामी से लड़ने के।

जन्म से पूर्व से न भी मानें तो, जन्म के बाद से तो निश्चित रूप से शिशु अपने आसपास के व्यक्तियों की बातें, अन्य विभिन्न जीवों की आवाज़ें और विविध ध्वनियाँ सुनता और समझता रहता है। सुनते समय वह उन्हें देखता भी है और फिर उनके अनुकरण पर स्वयं भी संबंधित ध्वनि-अवयवों का सही उपयोग करते हुए, वांछित उतार-चढ़ावों के साथ उसका उच्चारण करने का प्रयत्न भी करता है। उनके अर्थों और भंगिमाओं को भी समाहित करता है। यह उसके जीवन की भाषा है जिसमें वह सभी अभिव्यक्तियों को समझता है और ख़ुद को भी अभिव्यक्त करता है। उसके सुख-दुख उल्लास, अवसाद, संकेत, व्यंजना सभी उसके संवाद के व्यक्त और अव्यक्त अंग बनते चले जाते हैं। यह उसकी अभिव्यक्ति का एक संपूर्ण और लगभग सही रूप होता है।

इसके बाद वह अपने विद्यार्थी जीवन में विभिन्न विषयों की शब्दावली और उसका उपयोग सीखता है। इसके बाद वह इस ज्ञान से अपना जीविकोपार्जन करता है। इसके दौरान वह विभिन्न प्रकार के लोगों से इसी सिलसिले में संवाद भी करता है। इस प्रकार उसकी भाषा का विस्तार होता चलता है। कभी-कभी वह अपने ज्ञान वर्धन, व्यापार, जीविका के लिए अन्य भाषा के संपर्क में आता है। पहले यह सभी के साथ नहीं होता था क्योंकि व्यक्ति का क्षेत्र अपने आसपास तक ही सीमित होता था। इसलिए

एक भाषा से ही उसका काम चल जाता था।

पहले भी विद्वान लोग, अन्य भाषाओं में संचित ज्ञान को प्राप्त करने और उसका लाभ अपने समाज को पहुँचाने के लिए कई-कई भाषाएँ सीखते थे। बहुभाषा-भाषी विद्वानों द्वारा विश्व में ज्ञान का प्रचार-प्रसार हुआ। भारत में इस्लाम के आगमन से पूर्व भी अरब देशों और उनके माध्यम से भारत का मध्य एशिया और यूरोप से संपर्क हुआ और ज्ञान का आदान-प्रदान हुआ। चीन आदि देशों से भी बहुत से जिज्ञासु और विद्वान भारत में आए और उनके माध्यम से भारत और पूर्वी देशों में बौद्ध धर्म, दर्शन और ज्ञान-विज्ञान का आदान-प्रदान हुआ। उस समय के विद्वान प्राय: बहुभाषी हुआ करते थे। इसके बाद यूरोपीय देशों में सीधा संपर्क और फिर उनके यहाँ उपनिवेश स्थापित होने के कारण उनके प्रशासन तंत्र और व्यवस्था में जीविका और ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश के लिए उनकी भाषाओं का यहाँ प्रचार हुआ जिनमें अंग्रेज़ी प्रमुख थी। इससे भारत का सीधा विस्तार यूरोप में भी हुआ। फलस्वरूप दोनों ही पक्ष लाभान्वित हुए।

इतना होने के बावज़ूद हमारे लिए अन्य भाषाएँ मात्र ज्ञान और जीविका की भाषाएँ रहीं। मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य भाषा या यहाँ स्थापित हो चुके विदेशी शासक की भाषा जानने वाले भी अपना जीवन अपनी भाषा में ही जीते थे और शेष समाज के साथ अपनी मातृभाषा में ही संवाद करते थे। मुगल काल में अरबी, फ़ारसी आदि भाषाएँ जानने वाले भारतीय हिंदू और मुसलमान सभी की जीवन की भाषा अपनी मातृभाषा ही रही। इस प्रकार किसी अन्य भाषा ने कभी हमारे जीवन, संस्कृति, समाज, शिक्षा, दर्शन और मूल्यों को प्रभावित नहीं किया। इसलिए एकाधिक भाषाएँ जानने के बावजूद हम अपनी भाषा, समाज, संस्कृति और देश से विच्छिन्न नहीं हुए।

अंग्रेज़ों के शासन काल में एक विशेष परिवर्तन आया या उन्होंने सायास किया या यहाँ के पढ़े-लिखे लोगों ने अपने भौतिक स्वार्थों, नौकरी, हीनभावना आदि के कारण अतिरिक्त उत्साह से अपनाया। अंग्रेज़ों ने अपनी शिक्षा पद्धति और पाठ्यक्रम ही शुरू नहीं किए बल्कि एक सांस्कृतिक साम्राज्यवाद भी स्थापित किया जिसके तहत भारत के समस्त ज्ञान, भाषा, संस्कृति को यूरोप और विशेषकर ब्रिटिश ज्ञान-विज्ञान सभ्यता-संस्कृति और नस्लीय श्रेष्ठता आदि की तुलना में निम्नतर सिद्ध किया गया। तत्कालीन व्यवस्था में अपने आर्थिक, सामाजिक, शासकीय रुतबे को बढ़ाने के लिए उस समय के समृद्ध और शिक्षित लोगों ने अंग्रेज़ी भाषा, सभ्यता-संस्कृति को पूरी लगन और मन से अपनाया तथा जहाँ-जहाँ तक उनके हाथ और प्रयत्न पहुँचे, इसे स्थापित किया।

स्वाधीनता के बाद होना यह चाहिए था कि हम इस देश की सभी भाषाओं में समस्त ज्ञान-विज्ञान का अनुवाद करते और सभी को उनकी मातृभाषा में सर्वोच्च ज्ञान प्रदान करते। विश्व की अन्य भाषाएँ भी सिखाते जिससे वे अपने ज्ञान का विस्तार

करते और सभी प्रकार से स्वयं भी लाभान्वित होते और देश को भी लाभान्वित करते लेकिन ऐसा नहीं हुआ। ज्ञान की एक मात्र भाषा अंग्रेज़ी को मान लिया गया और सभी भारतीय भाषाओं को ज्ञान और सम्मान दोनों के लिए अयोग्य करार दे दिया गया।

अब स्थिति यह है कि लोग अपनी उन्नति और बेहतर रोज़गार के लिए कोई भारतीय भाषा नहीं बल्कि अपने बच्चों को अंग्रेज़ी तथा कोई अन्य विदेशी भाषा सिखाना चाहते हैं। बड़ी कंपनियों के बड़े अधिकारियों का तो यह हाल है कि उनके बच्चे ऐसे तथाकथित बड़े स्कूलों में पढ़ते हैं जहाँ कोई भी भारतीय भाषा नहीं पढ़ाई जाती। अपने घरों में वे अंग्रेज़ी का ही प्रयोग करते हैं और इस प्रकार अपने बच्चों के एक बहुत ही उज्ज्वल भविष्य का सपना देखते हैं। लेकिन इस सारे प्राणायाम के बावज़ूद न तो वे बच्चे बहुत योग्य निकल रहे हैं, न ही उनमें सामाजिकता विकसित होती है और न ही उनका अपने माता-पिता और परिवार के अन्य लोगों से कोई जुड़ाव बन पा रहा है। संस्कृति तो उनकी कोई है ही नहीं। वस्त्रों, फिल्मों और नए-नए मोबाइलों के अतिरिक्त उनके पास कोई विषय ही नहीं है। जीवन में भी कोई बहुत संतुष्ट नहीं है। कुल मिलाकर उनका जीवन बहुत एकांगी और कुंठित है। कहें तो, वे जीवन जी ही नहीं रहे हैं। इस नकली जीवन के चक्कर में वे असली जीवन से परिचित ही नहीं हो पाए। क्योंकि उनके पास जीवन की भाषा ही नहीं थी।

उनके अभिभावकों ने एक बेहतर आर्थिक भविष्य के लिए अंग्रेज़ी सीखी लेकिन उनके पास अपनी एक भाषा थी, एक संस्कृति थी, एक पारिवारिक संबंधों की परंपरा थी। ये अभिभावक अपने बहुभाषी ज्ञान, पारिवारिक संबल और संस्कृति के बल पर ठीक-ठाक नौकरियों तक पहुँचे, विदेश भी गए, आरामदायक जीवन भी जी रहे हैं। ऐसे में वे सोचते हैं कि यदि उनके माता-पिता अंग्रेज़ी में पढ़े होते, कई भाषाओं का बोझ नहीं रहा होता तो शायद वे आकांक्षा के तारे तोड़ लाते। इसलिए वे अपने बच्चों को अंग्रेज़ बनाना चाहते हैं। फिर यह अंग्रेज़ी चाहे—yes, no, thank you, very good, bloody, bastard, get out तक ही हो लेकिन भारतीय भाषाओं से दूर रहें। क्योंकि उनके जीवन में जो कुछ कमी रह गई है वह भारतीय जड़ों के कारण ही है। वे हर तरह से उससे दूर जाना चाहते हैं और अपने बच्चे की समस्त शक्ति अंग्रेज़ी सीखने और अंग्रेज़ी जीने में ही लगाना चाहते हैं।

यह सच है कि अधिकतर विद्वान, वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ एक से अधिक भाषाएँ जानते हैं और वे बहुभाषी होने के कारण एक भाषी से अधिक सक्षम होते हैं। पता नहीं, प्रवासी भारतीय बच्चे कब पूरी तरह से अमेरिकी या अंग्रेज़ बनेंगे लेकिन उनके भारतीय संस्कृति, अपनी भाषा और जड़ों से उखड़ने का काम तो लगभग पूरा हो चुका है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भले ही हम हज़ार वर्षों तक कहीं विदेश में रह लें लेकिन हमें माना तो अपनी नस्ल के कारण भारतीय ही जाएगा।

यदि अंग्रेज़ी या कोई अन्य भाषा सीखने से हमारे लिए ज्ञान और समृद्धि के द्वार खुलते हैं तो उसे सीखने में कोई बुराई नहीं है लेकिन वह रहेगी हमारे लिए आदेश लेने और देने की भाषा ही। जीवन मात्र आदेश लेना और देना ही नहीं है। जीवन तो संपूर्ण रूप से एक दूसरे के कहे और अनकहे भाव लोक को समझना और उसके जीवन में शामिल होना है। और यह किसी अन्य भाषा में नहीं हो सकता। हम रोटी के लिए जीवन को न छोड़ें। रोटी ज़रूरी है लेकिन इतनी भी नहीं उसके लिए जीवन को ही भुला दिया जाए।

किसी को भी उसकी अपनी भाषा अभिव्यक्ति का वह भाव लोक प्रदान करती है जिसे मात्र शब्द और अनुवाद व्यक्त नहीं कर पाते। राजस्थान में कहावत है—'मेऊ तो बरस्या भला, होणी हो सो होय।' अर्थात् बरसात होना शुभ है जबकि ब्रिटेन में (अंग्रेज़ी में) 'रेनी डेज़' परेशानी का समय माना जाता है। वहाँ 'सन्नी डेज़' सुख का समय है। हमारी भाषा के बिंब, मुहावरे, कहावतें, कविताएँ, दोहे, शेर कुछ शब्दों में ही वह बात समझा देते हैं जिसके लिए हमें अन्य भाषा में बहुत से शब्दों की ज़रूरत पड़ेगी फिर भी बात अधूरी रह जाएगी। ग़ालिब के एक शेर का संकेत 'कौन जीता है...', या 'आँखों में तो दम है' कह देता है वह किसी विदेशी भाषा में हम एक पैराग्राफ में भी नहीं कह सकते। यह है अपनी भाषा की व्यंजना।

पेट के लिए भाषा, संस्कृति छोड़ देने की मज़बूरी या लालच आज सभी देशों में और समाजों में दिखाई दे रही है। इसलिए जिनकी भाषा अंग्रेज़ी है वे भी जीवन की भाषा वाली अंग्रेज़ी से दूर होते जा रहे हैं। आज सभी देशों और समाजों में जीवन की भाषाएँ समाप्त हो रही हैं। शेष है तो केवल नौकरी की भाषाएँ जिनमें आदेश लिए और दिए जा रहे हैं। कहीं व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सच्चा और दिली संवाद नहीं है। सुख-दुख में शामिल होने वाली भाषा न पढ़ी जा रही है, न बोली जा रही है। वे ही रटे-पिटे, अर्थ खो चुके शब्द हैं जिनसे किसी का कोई जुड़ाव नहीं हो पाता। हम जीवन की भाषा खोते जा रहे हैं इसलिए जीवन भी हमारे हाथों से फिसलता जा रहा है। सभी देशों के विचारवान लोगों को जीवन की भाषा, संस्कृति, परिवार और सामाजिकता खतरे में नज़र आ रही है। जीवन की भाषा के अभाव में लोग एक भाषी होते हुए भी सही तरह से संवाद तक नहीं कर पाते। इसी कारण समस्या को समझना और समझाना मुश्किल होता जा रहा है। इसलिए छोटी-छोटी बात पर गुस्सा जाते हैं और सामान्य रूप से सुलझाई जा सकने वाली समस्या भी बड़ा विकट रूप ले लेती है।

इसलिए ज़रूरी है कि अपनी आवश्यकताओं को इतना न बढ़ाएँ कि उनकी पूर्ति के लिए दिन के चौबीस घंटे भी कम पड़ जाएँ। जीवन, वस्तुएँ जुटाने या जीने की तैयारी का नाम नहीं है। जीवन हर पल जीने के लिए है और शांति और संतोष से जीने के लिए है।

तुलसी कहते हैं–

बिनु संतोस न काम नसाहीं।
काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं।

इसलिए सायास समय निकाल कर जीवन और उसकी भाषा से जुड़ना ज़रूरी है। पिछली पीढ़ी के लोग कोई सुपर मैन नहीं थे जो कई भाषाएँ सीख लेते थे और नौकरी के बाद जीवन में भी लौट आते थे। जीवन की यह भाषा अपने जातीय जीवन के साहित्य, लोक गीत-संगीत, दर्शन, मुहावरे, कहावतें, उद्धरण और सुभाषितों में मिलेगी। न तो सस्ते, समय बिताऊ कहानियों, चुटकलों में मिलेगी और न ही पैसे कमाऊ फिल्मों में।

जब हम जीवन की भाषा बोलेंगे, तो शायद वे बहुत सी समस्याएँ भी कम हो जाएँगी जो उचित संवाद के अभाव में हमें बहुत बड़ी लग रही थीं। और तब हम जीवन के सुख-दुखों को एक दूसरे के साथ मिल-बाँट कर जीवन का वास्तविक आनंद ले सकेंगे।

हम एक नहीं, चाहे जितनी भाषाएँ सीखें मगर अपनी भाषा की कीमत पर नहीं क्योंकि अपनी भाषा केवल भाषा नहीं, हमारी अस्मिता और स्वतंत्रता का रक्षा-कवच भी होती है।

❑❑

नॉर्वे में हिंदी जगत : विस्तार एवं संभावनाएँ

सुरेशचंद्र शुक्ल 'शरद आलोक'

छियालीस लाख की आबादी वाले नॉर्वे में लगभग चौदह हज़ार भारतीय निवास करते हैं जो आपस में हिंदी में बातचीत करना पंसद करते हैं। बहुत से नॉर्वेजीय लोग भी हिंदी बोल सकते हैं। योग शिक्षा के कारण बहुत से लोग हिंदी थोड़ी बहुत जानते हैं। हिंदी फ़िल्में, गीत-संगीत यहाँ एशियाई लोगों में लोकप्रिय है।

नॉर्वे में स्कूलों में दसवीं कक्षा में बच्चे हिंदी की परीक्षा दे सकते हैं पर हिंदी की शिक्षा अनेक स्वयंसेवी संस्थाएँ और व्यक्ति देते हैं। इससे बच्चे तो हिंदी सीखते ही हैं और इससे वह अपनी भाषा, संस्कृति सीखने के साथ-साथ भारत/पूर्वजों के देश से भी जुड़े रहते हैं।

यहाँ की एक राजनैतिक पार्टी सोशलिस्ट लेफ्ट पार्टी ने अपनी पार्टी की तरफ से यह पारित किया कि हिंदी को नॉर्वे के स्कूलों में अंतरराष्ट्रीय भाषाओं—फ्रेंच, जर्मनी, स्पेनिश आदि की तरह पढ़ाई जाए। यहाँ सभी बच्चों को इनमें से एक भाषा चुननी होती है। यदि अन्य राजनैतिक पार्टियों ने भी हिंदी को अंतरराष्ट्रीय भाषा की तरह पढ़ाए जाने पर अपना प्रस्ताव पास किया तो वह हिंदी जगत और उसके विस्तार के लिए स्वर्णिम अवसर होगा।

नॉर्वे में हिंदी को भारतीयों की मातृभाषा के रूप में स्वीकृति प्राप्त है। नॉर्वे में हिंदी के विस्तार की बहुत संभावनाएँ हैं। लोग हिंदी में रेडियो और टी. वी. चैनल में कुछ समय प्रसारण चाहते हैं। यदि हिंदी के विकास के लिए कोई सार्वजनिक कार्य किया जाता है तो नॉर्वे की सरकार से आर्थिक सहयोग प्राप्त किया जा सकता है।

नॉर्वे से प्रकाशित 'स्पाइल-दर्पण' पत्रिका जो हिंदी और नॉर्वेजीय भाषा में नॉर्वे के संस्कृति विभाग की आर्थिक सहायता से छपती है।

यहाँ ओस्लो में हर माह हिंदी की साहित्यिक गोष्ठियाँ होती हैं। भारत-नॉर्वे लेखक सेमीनार में हिंदी के विकास तथा उसमें आने वाली समस्याओं और संभावनाओं पर विचार होता है।

अक्टूबर, 2015 से ओस्लो में हिंदी के नाटक की शुरुआत हुई है जो हिंदी नाटक के लिए मील का पत्थर साबित हुआ है।

नॉर्वे

किसी भी देश में हिंदी की स्थिति जानने के लिए उस देश की भौगोलिक स्थिति और वहाँ की मूल भाषा तथा संस्कृति के बारे में जान लेना ज़रूरी है।

नॉर्वे विश्व के सबसे उत्तर भाग में बसा देश है। "नॉर वे" अंग्रेज़ी में इसका अर्थ नॉर = उत्तर और वे = रास्ता = उत्तर का रास्ता।

यहाँ लोगों ने हज़ारों वर्षों में आर्कटिक सागर के लिए मार्ग बनाया।

अधिकतर नॉर्वेवासी समुद्र के पास रहते हैं। यह सिलसिला नौ-दस हज़ार वर्ष से चला आ रहा है। उत्तर में सामी लोग रहते हैं जिनकी अपनी संस्कृति और भाषा है।

हज़ार साल पहले वीकिंग (समुद्री डाकू) विदेशी समुद्री तटों पर आते रहे। अटलांटिक समुद्र बोर्ड पर नॉर्वे ने राज्य किया और आज भी नॉर्वे और आइसलैंड के मध्य समुद्र को नॉर्वेजीय समुद्र कहा जाता है। नॉर्वे का नगर हामेरफेस्ट नगर विश्व का सबसे अधिक उत्तर में बसने वाला नगर है और यहाँ पर ही नार्थ केप है।

नॉर्वे की सीमा स्वीडेन, फिनलैंड और रूस से लगी हैं। नॉर्वे में 53,000 किलोमीटर सड़कें, 17,300 पुल और 830 सुरंगे हैं। यहाँ का लैंडस्केप देखते नहीं बनता है। नॉर्वे आने वाले यात्री यहाँ के लैंडस्केप, आइसलैंड के मध्य बने पुलों और सुरंगों का सौंदर्य देख कर खुशी से दाँतों तले अंगुलियाँ दबा लेते हैं। छोटी पट्टी वाले 50 एयरपोर्ट हैं। नॉर्वे में, नॉर्वे का अधिकांश कार्गो-सामान की ढुलाई समुद्री-यातायात से होती है। कृषि में दूध, चीज-पनीर और माँसाहार पैदा होता है जिसका निर्यात भी किया जाता है। नॉर्वे विश्व का सबसे बड़ा मछली उत्पादन और मछली-निर्यातक देश है। नॉर्वे छोटे-छोटे उद्योगों वाला देश है। यहाँ सस्ता हाइड्रो इलेक्ट्रिक पावर उपलब्ध है। नॉर्वे गैस और कच्चे तेल का निर्यातक है। दूसरे विश्वयुद्ध के समय नॉर्वे विश्व का सबसे बड़ा समुद्री-मालवाहक देश था। नॉर्वेजीय लोगों के पास सबसे अधिक पानी के जहाज थे। अभी भी नॉर्वे विश्व में बड़े मालवाहक पानी के जहाजों वाला देश बना हुआ है। समुद्री-जहाज (यातायात) में नॉर्वे के मानवीय मूल्यों और उच्च स्तर को दुनिया में सराहा जाता है। नॉर्वे में पार्लियामेंट (संसदीय प्रणाली) का आरंभ हुए सौ वर्ष से अधिक हो चुके हैं। नॉर्वेजीय पार्लियामेंट में 165 सांसद है जिन्हें अनेक राजनैतिक दलों का प्रतिनिधित्व प्राप्त है। 18 वर्ष के नागरिक को वोट देने का अधिकार है। महिलाओं को वोट देने का अधिकार 1913 में मिला। महिलाओं और पुरुषों को समान अधिकार प्राप्त हैं और नॉर्वेजीय पार्लियामेंट में चालीस प्रतिशत से अधिक महिलाओं को देखा जा सकता है।

राजा की कोई स्वतंत्र राजनैतिक भूमिका नहीं है परंतु देश के प्रतीक के रूप में उपस्थित है। पुलिस और सेना आदि के सभी मामले संसद और संबंधित मंत्रियों की सीमा में आते हैं।

अनेक शताब्दियों के विदेशी शासन के बाद 17 मई, 1814 को नॉर्वे ने अपना संविधान बनाया और लागू किया। 17 मई नॉर्वे का राष्ट्रीय दिवस बन गया। इसे बच्चों के साथ मनाया जाता है। राष्ट्रीय दिवस 17 मई स्कूल के बच्चों और युवाओं, स्कूल-बैंड, राष्ट्रध्वजों (झंडों) के साथ राजा के महल के सामने राजधानी ओस्लो में मनाया जाता है। नॉर्वे एक समाज-कल्याण वाला देश है। स्वास्थ्य और सामाजिक सेवाएँ निशुल्क हैं। बच्चों के परिवार आर्थिक सहायता प्राप्त करते हैं और हर व्यक्ति को निम्नतम पेंशन का प्रावधान है।

नॉर्वे में दो बच्चों के ठेठ (विशिष्ट) परिवार हैं। बहुत से माता-पिता की केवल एक ही संतान है। बहुत से लोग अकेले रहते हैं।

46 लाख की आबादी वाले नॉर्वे में 40 करोड़ पुस्तकें प्रति वर्ष बिकती हैं।

नॉर्वे में भाषा

नॉर्वे की भाषा नॉर्वेजीय है—नीनोश्र्क और बुकमोल। सामी लोगों की भाषा सामी है।

नीनोश्र्क और बुकमोल जर्मन परिवार की भाषाएँ हैं जो इंडो-यूरोपीय भाषा से जन्मी हैं ऐसा कहा जाता है।

नॉर्वे में कोई भी समाचार पत्र अंग्रेजी भाषा में नहीं छपता। सभी समाचार पत्र नॉर्वेजीय में छपते हैं।

नॉर्वे में हिंदी पत्रिकाएँ

पिछले नौ वर्षों से नॉर्वे में केवल दो हिंदी की पत्रिकाएँ छपती हैं—'स्पाइल-दर्पण' और 'वैश्विका'। 'स्पाइल-दर्पण' द्विमासिक है और वैश्विका अनियमित है और दोनों ही राजधानी ओस्लो से ही प्रकाशित होती हैं। 'स्पाइल-दर्पण' का प्रकाशन 1988 में आरंभ हुआ जो आज भी निरंतर छप रही है। 'स्पाइल-दर्पण' का संपादन मैंने पत्रिका के शुभारंभ 1988 से किया और आज भी कर रहा हूँ। 'स्पाइल-दर्पण' पर लखनऊ विश्वविद्यालय से प्रो. योगेंद्र प्रताप सिंह की शोध छात्रा गरिमा तिवारी द्वारा 2008-09 में संपादन किया जा चुका है। 'स्पाइल-दर्पण' बेशक नॉर्वे से निकलने वाली हिंदी की द्विमासिक द्विभाषिक पत्रिका है। साथ ही पत्रिका ने 2009 से भारत में रंगमंच के क्षेत्र में रंगकर्मियों को सम्मानित करना आरंभ किया है। 29 दिसंबर, 2009 को स्पाइल-दर्पण ने लखनऊ, उत्तर प्रदेश में आनंद शर्मा के निर्देशन में खेले जाने वाले सुप्रसिद्ध नाटक 'गुड़िया का घर' का सुरेशचंद्र शुक्ल 'शरद आलोक' द्वारा किये अनुवाद को खेलने वाले सभी रंगकर्मियों को उमानाथ रायबली हॉल में पुरस्कृत और सम्मानित किया गया। 'परिचय' नॉर्वे की ही नहीं बल्कि स्कैनडिनेवियाई देशों (नॉर्वे, स्वीडेन, डेनमार्क, फिनलैंड और आइसलैंड) की प्रथम हिंदी पत्रिका थी जिसका संपादन हिंदी में मैंने 1980 से 1985 तक किया। यह पत्रिका अब नहीं छपती।

'परिचय' हिंदी और पंजाबी भाषा में मूलत: छपती थी जिसमें अंग्रेज़ी के भी पृष्ठ होते थे, जिसका प्रकाशन 1978 में आरंभ हुआ था।

'प्रवासी' नाम से भी इंदरजीत पाल तक पत्रिका छापते हैं।

नॉर्वे में मेरे आने के पूर्व हिंदी की स्थिति

मैं 26 जनवरी, 1980 को नॉर्वे आया था। मैंने सुना था कि बहुत सालों पहले कलकत्ता से प्रो. बराल नॉर्वे आये थे जो योगी थे, बाद में उन्होंने एक नॉर्वेजीय युवती से शादी कर ली थी जिनसे एक लड़की ने जन्म लिया था। यह संभवत: 80 वर्ष पहले की बात होगी। भारतीय घुमक्कड़ स्वभाव के होते हैं। भारतीय किसी न किसी रूप में यहाँ आया करते हैं। महेश योगी भी नॉर्वेवासियों में परिचित नाम है। इन लोगों ने नॉर्वेवासियों को भजन और योग के सहारे हिंदी में भजन और संस्कृत में श्लोक सिखाये।

यहाँ भारतीयों का आना सन् 1975 के आसपास शुरू हुआ। इस समय नॉर्वे में 7600 भारतीय निवास करते हैं। यहाँ बसे भारतीय भारत के विभिन्न प्रांतों से हैं—पंजाब, उत्तर प्रदेश, बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, केरल, ओड़िशा, झारखंड, मध्य प्रदेश, दिल्ली, हरियाणा, राजस्थान आदि से हैं। जब ये भारतीय आपस में मिलते हैं तो हिंदी बोलना पंसद करते हैं। हिंदी प्रवासियों की संपर्क भाषा है। यहाँ हिंदी का वातावरण नहीं है। यहाँ कार्य करने के अच्छे पैसे मिलते हैं अत: लोग हिंदी के प्रचार-प्रसार, लेखन आदि की जगह पैसा कमाना पंसद करते हैं। जैसे-जैसे समय बीत रहा है लोगों को समझ में आना शुरू हो गया है कि यदि अपने बच्चों को हिंदी या भारतीय संस्कार न सिखाये तो ये बच्चे आज केवल अपनी संस्कृति से दूर होंगे वरन अपने परिवार और माता-पिता से भी दूर होंगे और अपने पूर्वजों के देश में संवाद नहीं कर सकेंगे। भाषा हमें अपनी जड़ों से जोड़ती है। हिंदी का पठन-पाठन अब बढ़ने लगा है।

नॉर्वे में हिंदी का पठन-पाठन

सन् 1980 में जब मैं नॉर्वे आया तो भारतीय दूतावास में दूतावास की मदद से हिंदी की कक्षाएँ लगाने लगा। फिर स्कूल में हिंदी मातृभाषा के रूप में पढ़ाई जाने लगी। सन् 1993 में बजट की कटौती में हिंदी और अन्य मातृभाषाओं की शिक्षा बंद हो गई। केवल सहयोग की भाषा बन गई, जैसे किसी को कोई विषय न समझ में आ रहा हो, दो अध्यापकों द्वारा जिसमें मातृभाषा का शिक्षक भी सम्मिलित होता था ताकि बच्चों को विषय समझने में आसानी हो।

ओस्लो विश्वविद्यालय में हिंदी

नॉर्वे की राजधानी ओस्लो में **ओस्लो विश्वविद्यालय में हिंदी** के पठन-पाठन की व्यवस्था है। जर्मन मूल के प्रोफ़ेसर क्लाउस जोलर विश्वविद्यालय में हिंदी पढ़ाते हैं। रुथ स्मिथ अवकाश प्राप्त हो चुकी हैं। फिन थीसेन डेनमार्क और नॉर्वे में हिंदी पढ़ा

चुके हैं और वह अब भी विश्वविद्यालय में कभी-कभी हिंदी और मूल रूप से फ़ारसी के अध्यापक हैं। स्वर्गीय क्नुत क्रिस्तियानसेन पहले बहुत वर्षों तक हिंदी और नेपाली पढ़ा चुके हैं जबकि वह हिंदी अच्छी तरह नहीं बोल पाते थे। इस लेख के लेखक भी कोपेनहेगन और ओस्लो विश्वविद्यालय में हिंदी पढ़ा चुके हैं।

ओस्लो में संगीता शुक्ला सीमोनसेन के नेतृत्व में हिंदी स्कूल चलता है जिसमें कक्षा एक से आठ तक की हिंदी में शिक्षा की व्यवस्था है। संगीता शुक्ला सीमोनसेन ने नौ वर्ष की आयु में दो कविताएँ हिंदी में लिखी थीं और उसे नॉर्वेजीय भाषा में भी लिखा था जो नॉर्वे की एक पुस्तक में संकलित है। अब वह स्पाइल के नॉर्वेजीय भाषा के बाल और युवा जगत की संपादक हैं।

जीतेंद्र पराशर भी हिंदी स्कूल में पढ़ाते हैं जो स्वयं एक कलाकार हैं और मंच संचालन भी कर लेते हैं। मीना ग्रोवर भी अपने घर पर बच्चों को निजी तौर पर हिंदी पढ़ाती हैं।

नॉर्वे के स्कूलों में यदि कोई छात्र या छात्रा अतिरिक्त विषय के रूप में मातृभाषा के अंतर्गत कक्षा नौ या दस में हिंदी की परीक्षा देना चाहे दे सकता है। हिंदी में अच्छे अंक आने पर उसके योग अंकों का प्रतिशत भी बेहतर होता है जो अच्छे स्कूल और विषयों में प्रवेश लेने में मदद करता है।

मैंने (सुरेशचंद्र शुक्ल 'शरद आलोक') सोशलिस्ट लेफ्ट पार्टी में हिंदी, पंजाबी और तमिल भाषा का जर्मन, फ्रेंच और स्पेनिश की भाँति स्कूलों में पढ़ाये जाने को लेकर एक प्रस्ताव पारित कराया। अब अन्य राजनैतिक पार्टियाँ भी ऐसा ही करें तो हिंदी भी अन्य अंतरराष्ट्रीय यूरोपीय भाषाओं की तरह पढ़ी जा सकेगी।

नॉर्वे के अनेक स्कूलों में मातृभाषा या सहयोगी अध्यापक के रूप में हिंदी के अध्यापक कार्य कर रहे हैं।

हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों की प्राप्ति

नॉर्वे में हिंदी की पत्र-पत्रिकाएँ यहाँ पुस्तकालय से और दूकानों में खरीदने को मिल जाती हैं। ओस्लो के दायकमान्स के पुस्तकालय में हिंदी की पुस्तकें आसानी से पढ़ने को मिल जाती हैं। यहाँ पर स्पाइल-दर्पण पत्रिका भी पढ़ने को मिल जाती है।

यहाँ श्रीलंका वासियों और एशियन दुकानों पर अक्सर हिंदी की पत्र-पत्रिकाएँ मिल जाती हैं।

नॉर्वे में हिंदी की गोष्ठियाँ

'भारतीय-नॉर्वेजीय सूचना और सांस्कृतिक फोरम' हर महीने एक गोष्ठी का आयोजन करता है जिसमें हिंदी में कविता, विचार और कहानियाँ सुनाई जाती हैं। भाग लेने वाले का लेखक होना अनिवार्य नहीं है। इन गोष्ठियों के माध्यम से लोगों में हिंदी के प्रति समझ बढ़ रही है। एक मंच है जहाँ अपनी भाषा में विचार प्रगट किए जा सकते

हैं। जब कोई लेखक, साहित्यकार या राजनैतिज्ञ भारत से आते हैं तब भी गोष्ठी में आमंत्रित किया जाता है। गोष्ठी को रोचक बनाने के लिए अक्सर संगीत को भी सम्मिलित किया जाता है। महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, हेनरिक इबसेन, मुंशी प्रेमचंद का जन्मदिन, अंतरराष्ट्रीय पुस्तक दिवस, मानवता दिवस और त्योहार मनाए जाते हैं।

भारत-नॉर्वे लेखक सेमिनार

भारत-नॉर्वे लेखक सेमिनार का आयोजन वर्ष में एक बार किया जाता है जिसमें भारत से चार-पाँच हिंदी के लेखक यहाँ आते हैं और अपने-अपने लेख पढ़ते हैं। इसमें नॉर्वेजीय लेखक भी भाग लेते हैं। ओस्लो विश्वविद्यालय और अन्य शैक्षिक सांस्कृतिक संस्थानों को भी आमंत्रित किया जाता है। कार्यक्रम का संचालन हिंदी और नॉर्वेजीय भाषा के माध्यम से होता है।

नॉर्वे में हिंदी रचनाकार

स्वयं लेखक (सुरेशचंद्र शुक्ल 'शरद आलोक')

आप महात्मा गांधी को अपना आदर्श मानते हैं। आपके सात काव्य संग्रह हिंदी में और दो नॉर्वेजीय में प्रकाशित हो चुके हैं। दो कहानी संग्रह हिंदी में और एक उर्दू में प्रकाशित हो चुका है। आपने दो नाटक लिखे हैं।

आपके चर्चित कविता संग्रहों में—'रजनी', 'नंगे पावों का सुख' और 'नीड़ में फंसे पंख' और कहानी संग्रह में 'अर्धरात्रि का सूरज' हैं। अनुवाद में चर्चित कृति 'गुड़िया का घर' है। आपने नॉर्वेजीय साहित्य का प्रचुर मात्रा में हिंदी में अनुवाद किया है। हेनरिक इबसेन के नाटकों 'गुड़िया का घर', 'मुर्गाबी' और क्नुत हामसुन के उपन्यास 'भूख' तथा नॉर्वे और डेनमार्क के एच. सी. अंदर्सन की लोककथाओं का अनुवाद किया है। अनेक संकलनों का संपादन और अनेक एंथोलॉजियों में आपकी रचनाएँ संगृहीत हैं। आपकी कृतियों पर शोध हो रहे हैं। आपकी कथाओं पर तीन टेलीफिल्में बन चुकी हैं। नॉर्वेजीय लेखक यूनियन, हिंदी अकादमी, दिल्ली और चौथे विश्व हिंदी सम्मेलन, मॉरीशस और छठे विश्व हिंदी सम्मेलन, लंदन, यू. के., अंतरराष्ट्रीय हिंदी समिति और विश्व हिंदी समिति, यू. एस. ए., अहिंसम भारतीय मैनचेस्टर और यू. के. हिंदी समिति, लंदन ने आपको पुरस्कृत किया है।

माया भारती

आपने कविताएँ लिखी हैं। आप नॉर्वे से साहित्यिक समाचार आदि लिखती रहती हैं। आप 'स्पाइल-दर्पण' के संपादकीय मंडल की सदस्य भी हैं। आपकी अनेक रचनाएँ 'परिचय', 'स्पाइल-दर्पण', 'अनुभूति नेट पत्रिका' और 'वैश्विका' में प्रकाशित हो चुकी हैं। आप 'वैश्विका' नाम से ब्लॉग में भी लिखती हैं। नॉर्वे में होने

वाले कार्यक्रमों की सूचनाएँ आप अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भेजती हैं। सोनांचल साहित्यकार संस्थान, सोनभद्र उत्तर प्रदेश, भारत ने आपको सम्मानित भी किया है।

पूर्णिमा चावला

स्वर्गीय पूर्णिमा चावला हिंदी अध्यापिका थीं और कविताएँ लिखती थीं। आपका एक कविता संग्रह—'कभी-कभी लगता है' उनके मरणोपरांत प्रकाशित हुआ था। आप एक अनुवादक भी थीं। आपने नॉर्वेजीय कहानियों का अनुवाद किया था जो पुस्तक के रूप में एक स्तरीय पब्लिकेशन्स से छपा भी था।

हरचरण चावला

स्वर्गीय **हरचरण चावला** मूलत: उर्दू में लिखते थे परंतु इनकी दो पुस्तकें मैंने पढ़ी हैं। कहानी संग्रह 'आखिरी कदम के पहले' और 'एलबम यादों की' हिंदी में प्रकाशित हुई थीं। आप उर्दू की पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहते थे। आपको भी हिंदी का अच्छा ज्ञान नहीं था।

आपको नॉर्वेजीय भी अच्छी नहीं आती थी। आपने नॉर्वेजीय अनुवादकों की मदद से 'नॉर्वेजीय पुस्तक क्लब' से प्रकाशित एक संकलन 'इंडिया फोर्तेल्लर' का संपादन किया जो आपका बड़ा योगदान है। हरचरण चावला जी ने भारतीय अनुवादकों जैसे—सुरजीत, कुर्शीद आलम और अन्य की मदद से अनुवाद किए और अपने नाम से व धर्मपत्नी पूर्णिमा चावला जी के नाम अनुवाद छापे हैं।

इंदर खोसला

आप शौकिया कविताएँ लिखते हैं। आपकी कविता में उर्दू का बाहुल्य है। आपने हिंदी में आप बीती पुस्तकें और गद्य में दो पुस्तकें 'क्या खोया क्या पाया' और 'मैं चला विदेश' लिखी हैं और एक कविता संग्रह इसी वर्ष प्रकाशित हुआ है अब लेखक होने के लिए हिंदी लेखन का अच्छा जानकार होना ज़रूरी नहीं वरन लगन होना ज़रूरी है। यह बात इंदर खोसला पर सही बैठती है। खोसला जी अपने घर में दीवाली पूजा और पार्टी आयोजित करते हैं। आपको भारतीय नॉर्वेजीय सूचना और सांस्कृतिक फोरम, नॉर्वे द्वारा सम्मानित किया गया है।

राजेंद्र प्रसाद शुक्ल

आपने अपनी साइकिल यात्रा पर दो पुस्तकें लिखी थीं। कुछ कविताएँ भी बाल्यकाल में लिखीं। आपकी कविताएँ उपलब्ध नहीं हैं। आप विश्व हिंदू परिषद् के कार्यकर्ता हैं। आपने धार्मिक पत्रिका 'सनातन मंच' पत्रिका का प्रकाशन किया था जो 'सनातन मंदिर सभा' के अंतर्गत छपती थी परंतु लगतार चल न सकी। आप 'परिचय' पत्रिका से भी जुड़े रहे।

मीना ग्रोवर

मीना ग्रोवर ने हिंदी में कविताएँ लिखी हैं। आप संगीत और योग-साधना भी जानती हैं और हिंदी का अध्यापन भी करती हैं। आप हिंदी की अच्छी जानकार हैं और विश्वविद्यालय में भी हिंदी पढ़ा चुकी हैं। आपकी कविताएँ 'स्पाइल-दर्पण' में छपती रहती हैं।

राय भट्टी

राय भट्टी पंजाबी के एक अच्छे कवि हैं। आपकी कई कविताएँ अनेक एंथोलॉजी में आई हैं। आप हिंदी में कभी-कभी लिखते हैं। आपकी कविता में गंभीरता है। आपको पंजाबी भाषा और साहित्य की अच्छी समझ है। 'स्पाइल-दर्पण' में आपकी कविताएँ प्रकाशित हुई हैं। आप पंजाबी में एक अच्छे मंच संचालक भी हैं। आपको 'भारतीय-नॉर्वेजीय सूचना और सांस्कृतिक फोरम', नॉर्वे ने सम्मानित किया है।

इंदरजीत पाल

इंदरजीत पाल मूलत: पंजाबी में लिखते हैं परंतु आपने हिंदी में भी कविताएँ लिखी हैं। बहुत सरल भाषा में, उर्दू और पंजाबी भाषा के शब्दों का बाहुल्य आपकी कविता में मिलता है। आपकी कविता में गंभीरता ढूँढ़ना तीतर के हाथ बटेर लगने जैसा है। 'स्पाइल-दर्पण' में आपकी कविताएँ प्रकाशित हुई हैं। आपको भारतीय-नॉर्वेजीय सूचना और सांस्कृतिक फोरम, नॉर्वे ने सम्मानित भी किया है।

मीनाक्षी जौहर

आपने बचपन और स्कूल में कविताएँ लिखी हैं। आपकी कविताएँ बिखरी पड़ी हैं परंतु पढ़ने को कम मिलती हैं।

कैलाश राय

कैलाश राय ने भी बचपन और स्कूल में कविताएँ लिखी हैं। दो कविताएँ 'स्पाइल-दर्पण' में छपी हैं। आपने ओस्लो से 'त्रिवेणी' नामक पत्रिका का संपादन और प्रकाशन शुरू किया था परंतु बाद में किन्हीं कारणों से पत्रिका बंद हो गयी। आप नॉर्वे की प्रथम पत्रिका 'परिचय' (1979) के प्रारंभ में संपादक रहे हैं।

अलका भटनागर

अलका भटनागर ने शौकिया दो-तीन कहानियाँ लिखी हैं। वे अब नहीं लिखतीं। आपकी रचनाएँ 'त्रिवेणी' और 'स्पाइल-दर्पण' में छपी हैं।

नॉर्वे से हिंदी ब्लॉगर

नॉर्वे से हिंदी में लिखने वाले 'ब्लॉगर' में माया भारती, अनुराग विद्यार्थी और लेखक स्वयं है। लेखक के हिंदी, नॉर्वेजीय और अंग्रेजी में अलग-अलग ब्लॉग हैं।

❑❑

त्रिनिडाड एवं टुबैगो में हिंदी

सुनीता पाहूजा

भारत से अंदाज़न पंद्रह हज़ार किलोमीटर दूर लगभग पाँच हज़ार वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल वाला यह देश त्रिनिडाड एवं टुबैगो दो द्वीप-समूहों का एक देश है जो कैरेबियाई सागर के दक्षिण में स्थित है। वर्ष 1835 से 1917 के बीच अंग्रेज़ों द्वारा भारत से त्रिनिडाड भेजे गए गिरमिटिया मज़दूर अपने साथ अनेक भाषाएँ लाए जैसे अवधी, मगधी और मैथिली के साथ-साथ बंगाली, नेपाली और तेलुगु भी। मद्रास से आए कुछ गिरमिटियों के साथ तमिल भाषा भी आई। पर चूँकि अधिकांशत: गिरमिटिया मज़दूर उत्तर प्रदेश के पूर्वी ज़िलों और पश्चिमी बिहार से भेजे गए थे अत: सर्वाधिक वर्चस्व भोजपुरी का ही रहा। आज त्रिनिडाड एवं टुबैगो में रहने वाले भारतवंशी देश के साधन-संपन्न लोग हैं और उस देश की जनसंख्या का 40% हिस्सा हैं। आज वहाँ इन भारतवंशियों की चौथी-पाँचवीं पीढ़ियाँ हैं। इन्होंने वहाँ भारतीय खान-पान, संगीत, नृत्य, धर्म, पूजा-पाठ, रीति-रिवाज़ इत्यादि के ज़रिए भारत की संस्कृति को कुछ इस प्रकार जीवित रखा हुआ है कि उसे भारत से दूर एक छोटा भारत कहना कतई अनुचित न होगा। बस एक अभाव है जो अत्यंत स्पष्ट तौर पर हृदय को कचीटता है और वह है भाषा का लोप। देश की राजभाषा अंग्रेज़ी है और विभिन्न राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक कारणों से और अन्य जन-समूहों के प्रभाव के चलते अधिकतर बोलने-सुनने को अंग्रेज़ी क्रियोल ही मिलती है जिसमें हिंदी भाषा के शब्दों की भरमार है फिर भी हिंदी वहाँ बोलचाल की भाषा नहीं है। स्पैनिश और फ्रैंच द्वितीय भाषाओं के रूप में स्कूलों में पढ़ाई जाती हैं लेकिन हिंदी को वहाँ की सरकार की ओर से यह दर्जा नहीं दिया गया है। देश के सामाजिक-धार्मिक संगठनों के प्रयासों के परिणामस्वरूप कुछ स्कूलों में हिंदी सिखाई तो जाती है लेकिन यह केवल धार्मिक शिक्षा के लिए निर्धारित पीरियड तक ही सीमित रहती है।

हिंदी का प्रचार-प्रसार करने वाली अनेक संस्थाएँ त्रिनिडाड एवं टुबैगो में हैं जैसे हिंदी निधि, वेस्ट इंडीज़ विश्वविद्यालय, भारतीय विद्या संस्थान, पंडित परसराम

स्कूल ऑफ हिंदुइज़्म, सनातन धर्म महासभा इत्यादि। लगभग सभी मंदिरों में हिंदी की कक्षाएँ चलाई जाती हैं जिनमें 'स्वाहा' मंदिरों और स्कूलों की भूमिका उल्लेखनीय है। भजनों, गीतों और मंत्रों आदि के ज़रिए हिंदी का ज्ञान बढ़ाने के प्रयास किए जाते हैं। होली (जिसे वे फगवा कहते हैं) व दीवाली जैसे त्योहारों और अन्य वार्षिक समारोहों के दौरान विभिन्न प्रतियोगिताएँ आयोजित की जाती हैं जिनके माध्यम से हिंदी को जीवित रखने के प्रयास किए जाते हैं। अनेक धार्मिक संगठन जैसे हिंदू प्रचार केंद्र, कबीर पंथी, चिन्मय मिशन, एन सी आई सी (नेशनल काउंसिल ऑफ इंडियन कल्चर), आर्य प्रतिनिधि सभा में नियमित तौर पर आयोजित की जाने वाली धार्मिक गतिविधियाँ प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से हिंदी के शब्द-भंडार को समृद्ध बनाती रहती हैं। यह और बात है कि ये शब्द वाक्यों में परिवर्तित होकर बातचीत का रूप कम ही ले पाते हैं।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् (आई. सी. सी. आर.), भारत सरकार द्वारा वेस्ट इंडीज़ विश्वविद्यालय के 'सेंटर फॉर लेंग्वेज़ लर्निंग' में हिंदी शिक्षण के लिए एक हिंदी पीठ की व्यवस्था है। यहाँ हिंदी की कक्षाएँ नियमित रूप से चलाई जाती हैं। हिंदी सिखाने के लिए दृश्य-श्रव्य उपकरणों का सहारा लिया जाता है और हिंदी गीतों और टी वी धारावाहिकों के ज़रिए हिंदी सिखाई जाती है। इनमें हिंदी सीखने वालों को उनके स्नातक पाठ्यक्रम के लिए क्रेडिट दिए जाते हैं।

देश की राजधानी पोर्ट ऑफ स्पेन में स्थित भारतीय उच्चायोग भी हिंदी के प्रचार-प्रसार में अहम भूमिका निभाता है। देश के विभिन्न भागों में स्थित केंद्रों में हिंदी की कक्षाएँ चलाई जाती हैं और वर्ष के अंत में परीक्षा आयोजित करके प्रमाण-पत्र भी दिए जाते हैं। इन कक्षाओं में सभी आयु-वर्ग के लोग आते हैं। अधेड़ उम्र के अनेक लोग भी रामायण आदि पढ़ने के लिए हिंदी सीखने में रुचि रखते हैं। इन कक्षाओं में केवल भारतीय मूल के ही नहीं अपितु अफ्रीकी और यूरोपीय मूल के लोग भी हिंदी सीखने आते हैं। हिंदी दिवस और विश्व हिंदी दिवस समारोह में सभी हिंदी सीखने वालों को हिंदी में कविताएँ, गीत या अपने अनुभव सुनाने का मौका दिया जाता है। भारतीय उच्चायोग द्वारा इन छात्र-छात्राओं को छात्रवृत्ति पर केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा में हिंदी में सर्टिफिकेट/डिप्लोमा/उच्च डिप्लोमा पाठ्यक्रम के लिए भेजने की व्यवस्था भी की जाती है। केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा पत्राचार-पाठ्यक्रम के माध्यम से हिंदी की उच्चतर शिक्षा और इसके लिए परीक्षा की व्यवस्था भी भारतीय उच्चायोग द्वारा की जाती है। इनके अलावा भारतीय उच्चायोग द्वारा समय-समय पर 'फिल्म फेस्टिवल' भी आयोजित किए जाते हैं जिनमें हिंदी के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं की फिल्में भी दिखाई जाती हैं।

वर्ष 1966 में भारतीय उच्चायोग में सांस्कृतिक अताशे के पद पर श्री हरिशंकर आदेश त्रिनिडाड आए थे। आपने गिने-चुने हिंदी छात्रों को लेकर एक कमरे में मूलभूत सुविधाओं का अभाव होते हुए भी हिंदी पढ़ाना प्रारंभ कर दिया था और यही

उत्तर त्रिनिडाड के एल सोकोरो (साँ वाँ) में स्थित भारतीय विद्या संस्थान की नींव बनी जो 'आदेशाश्रम' के नाम से प्रसिद्ध है। वर्ष 1969 में हिंदी, उर्दू, संस्कृत, भारतीय संगीत, नाटक और दर्शन के अध्ययन के लिए एक संपूर्ण संस्थान के रूप में औपचारिक रूप से इसकी स्थापना की गई। देश में संस्थान के अनेक केंद्र हैं जिनमें हज़ारों की संख्या में छात्र पंजीकृत हैं। संस्थान द्वारा हिंदी परीक्षाएँ भी आयोजित की जाती हैं जिनमें सूरीनाम, जमैका आदि जैसे पड़ोसी द्वीपों के छात्र भी बैठते हैं। हर वर्ष जुलाई-अगस्त में संस्थान द्वारा एक माह का शिविर आयोजित किया जाता है और संगीत, निबंध, वाद-विवाद जैसी विभिन्न प्रतियोगिताएँ और भारतीय संगीत के कार्यक्रम इसके आकर्षण-बिंदु होते हैं। संस्थान वर्ष 1974 से 'जीवन ज्योति' नामक पत्रिका प्रकाशित करता है जिसमें हिंदी के लेख, गीत और कविताएँ इत्यादि होते हैं। आदेशाश्रम से हिंदी सीखने वाले छात्र पर्याप्त रूप से धारा-प्रवाह हिंदी बोल लेते हैं। अधिकांश छात्र हिंदी सीखने के बाद हिंदी सिखाना शुरू कर देते हैं। आदेशाश्रम को भारतीय संस्कृति और भाषा का मंदिर कहना अतिशयोक्ति न होगी।

आदेशाश्रम की ही एक छात्रा है सुश्री कमला रामलखन—हिंदी का प्रचार-प्रसार करना ही इनके जीवन का ध्येय है। 8 वर्ष की उम्र से ही आपके पिता जी ने आपको गाँव के एक हिंदी स्कूल में भेजना शुरू कर दिया था जहाँ आप हिंदी के कुछ शब्द और भजन गाना सीखती थीं। परंतु 1978 में औपचारिक तौर पर हिंदी और संगीत की शिक्षा के लिए भारतीय विद्या संस्थान की छात्रा बनीं। हिंदी और भारतीय संगीत से अथाह प्रेम के कारण आप हमेशा अव्वल आती थीं। 1981 में आपने 'लंदन जी.सी.ई. 'ए' लेवल' की परीक्षा दी। आपने यह परीक्षा 'ए' ग्रेड में उत्तीर्ण की। इसके बाद आपने हिंदी सीखने के साथ-साथ भारतीय विद्या संस्थान में हिंदी पढ़ानी भी शुरू कर दी। आपने 'उच्च स्तरीय हिंदी' पढ़ानी शुरू कर दी और लगभग 21 विद्यार्थियों ने यह परीक्षा पास की। आप हिंदी अच्छे से पढ़ा लेती थीं पर हिंदी बोलने में अपनी कमज़ोरी को भली-भाँति पहचानती थीं और इसी को दूर करने के लिए आपने भारत आकर उच्च स्तर की शिक्षा ग्रहण करने का निर्णय लिया। इसके लिए आप अवैतनिक छुट्टी लेकर भारत आईं। त्रिनिडाड में आपने कई स्कूलों और संस्थाओं में हिंदी अध्यापन का कार्य किया और हिंदी शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए भी कार्यशालाएँ आयोजित कीं। हिंदी की सेवा के लिए आपको अनेक पुरस्कारों और सम्मानों से भी सम्मानित किया जा चुका है। आपने प्रो. हरिशंकर द्वारा रचित लघु-नाटिकाओं और कहानियों के अंग्रेज़ी से हिंदी अनुवाद भी किए हैं। आपके द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की सूची में निम्नलिखित शामिल हैं—स्मरण (हिंदी भजनों का एक संकलन जिसमें इनका रोमन लिप्यांतरण और अंग्रेज़ी में अर्थ भी दिए गए हैं), हिंदी प्रभात भाग I, II और III आपका कहना है हिंदी मेरे विचारों में है, मेरे सपनों में और मेरी साँसों में है। आपके विचार से हिंदी सीखना और सिखाना पूजा के समान है।

हिंदी सेवियों की बात करें तो और भी अनेक नाम एक के बाद एक ज़हन में आने लगते हैं। परंतु इनमें से हिंदी धारा-प्रवाह बोल पाने या यूँ कहें कि हिंदी बोल भी

पाने वालों की संख्या उगलियों पर गिनी जा सकती है। पंडित डॉ. रामप्रसाद परसराम संभवत: पूरे देश में अकेले ऐसे व्यक्ति हैं जो न केवल शुद्ध और प्रवाहपूर्ण हिंदी बोलते हैं बल्कि आपका संस्कृत का उच्चारण भी अत्यंत स्पष्ट है और आपको गीता के लगभग सभी श्लोक अर्थ-सहित कंठस्थ हैं। आपने 2004 में पंडित परसराम स्कूल ऑफ हिंदुइज़्म की स्थापना की थी। यहाँ विभिन्न आयु-वर्ग के व्यक्तियों को हिंदी, भारतीय संस्कृति और हिंदुत्व की शिक्षा दी जाती है। पं. डॉ. परसराम स्वयं यहाँ पढ़ाते हैं और नियमित रूप से रामायण का पाठ भी करते हैं। कुछ ऐसे अन्य व्यक्ति हैं जो अध्ययन, शोध आदि के लिए भारत आते रहते हैं या भारत में हिंदी अध्ययन के बाद त्रिनिडाड लौटकर हिंदी पढ़ाते हैं और अच्छी हिंदी बोल लेते हैं जिनमें प्रमुख नाम हैं पंडिता इंद्राणी रामप्रसाद, श्रीमती कलावती रामदास, श्रीमती जिंसी संपथ, श्रीमती सुमति करीम, श्रीमती जानकी बलदेव सिंह, श्रीमती लछमी जैरीबंदन, कु अलीशा खान इत्यादि। हालाँकि अधिकांश हिंदी शिक्षक अच्छी हिंदी पढ़ा लेते हैं, परंतु प्रवाहपूर्ण हिंदी नहीं बोल सकते। हाँ इतना ज़रूर है कि वे सप्रयास हिंदी बोल लेते हैं और जब चाहते हैं अपनी बात को हिंदी में व्यक्त कर लेते हैं। इस श्रेणी में आने वाले शिक्षक हैं—श्री रफी हुसैन, पामेला कन्हाई, सुश्री यशोधरा, सुश्री जसोधरा रामप्रसाद, सुश्री नीलम राजकुमार आदि।

नेशनल काउंसिल ऑफ इंडियन कल्चर (एन.सी.आई.सी.) की स्थापना वर्ष 1964 में भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए की गई थी। यह भारतीय उच्चायोग की हिंदी कक्षाओं का एक केंद्र भी है। एन.सी.आई.सी. के युवा विंग के अध्यक्ष डॉ. विशम भीमुल जो भोजपुरी का सहारा लेते हुए हिंदी में अपनी बात कह लेते हैं, हर शुक्रवार एक बातचीत क्लब आयोजित करते हैं जिसमें हिंदी प्रेमी आते हैं और हिंदी में बातचीत करते हैं, गीतों, फिल्मों आदि पर हिंदी में चर्चा करते हैं।

पंडिता इंद्राणी रामप्रसाद ने त्रिनिडाड, सूरीनाम, गयाना, मॉरिशस और उत्तर भारत में पारंपरिक मैदानी रामलीला अभिनय में सात वर्षों से भी अधिक समय तक शोध कार्य किया है। अपने भारत प्रवास के दौरान उन्होंने काफी अच्छी हिंदी बोलनी सीख ली। आपने रामलीला के संवादों के ज़रिए हिंदी पढ़ाने का प्रस्ताव रखा था और इस दिशा में कुछ प्रयास भी किए थे। हिंदुत्व के विश्वकोश खंड 8 में पूरे त्रिनिडाड में अकेले आपके द्वारा एक प्रविष्टि है—रामलीला इन त्रिनिडाड, सूरीनाम एंड गयाना।

श्री बॉब गोपी हिंदी निधि के शैक्षणिक कार्य के अध्यक्ष हैं। हिंदी से आपका संपर्क 8 वर्ष की उम्र से रहा है जब आपने स्वरों और व्यंजनों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था और कुछ पंसदीदा शब्द और वाक्य भी सीख लिए थे। बीच में कुछ सालों के लिए हिंदी अध्ययन छूट गया लेकिन आपके घर का मंदिर के निकट स्थित होना हिंदी में दोबारा रुचि पैदा होने का कारण बना और सोने पर सुहागा यह हुआ कि मंदिर के कुछ प्रशासनिक कार्य आपके परिवार को सौंपे गए। इसी कारण से आपकी हिंदी सामान्य बोलचाल की ओर उन्मुख कम थी और धर्म आधारित अधिक। स्कूल में अंग्रेज़ी के विषयों में अच्छे अंक लाने का दबाव रहता था जिसका हिंदी सीखने की गति पर

प्रतिकूल प्रभाव पड़ता था और हिंदी की पढ़ाई सभी बच्चों के लिए अनियमित रहती थी। पर यह भी सच था कि हिंदी छूटती नहीं थी। श्री बॉब गोपी भले ही बहुत अधिक सहजता से हिंदी में बातचीत नहीं कर सकते बावजूद इसके अपने हिंदी प्रेम के चलते उन्होंने हिंदी में तीन पुस्तकें लिखी हैं। आपकी पहली पुस्तक 'गीत अर्पणम' आपकी कई वर्षों तक की गई मेहनत का परिणाम है। आपको यह सोच-सोच कर बहुत तकलीफ़ होती थी कि आपके देश के युवा ही नहीं अपितु कुछ बड़ी उम्र के लोग भी बहुत ही प्रेम-प्यार से हिंदी भजन सुनते और गाते हैं किंतु उनके अर्थ न समझ पाने के कारण उनका पूरा-पूरा आनंद नहीं उठा पाते। श्री बॉब गोपी ने यह बात कुछ इन शब्दों में कही, काश ये लोग जो सुनते और गाते हैं उसे समझ भी पाएँ तो उसका भरपूर आनंद ले पाएँगे। अपनी इसी सोच के चलते मैं लगभग 5 वर्षों तक अपनी पंसद के हिंदी भजनों और फिल्मी गीतों को देवनागरी में लिखता रहा ताकि मैं रोमन लिप्यांतरण से बचूँ और जो भी थोड़ी-बहुत हिंदी मुझे आती है उसका अभ्यास बनाए रखूँ और कुछ हद तक अपना हिंदी उच्चारण भी सुधार सकूँ। इसी विनीत प्रेम के साथ मेरे साथियों को यह मेरी प्यार भरी तुच्छ भेंट है। वर्ष 2008 में प्रकाशित 70 लोकप्रिय गीतों, भजनों, कीर्तनों, मंत्रों इत्यादि के इस संग्रह में श्री बॉब गोपी ने प्रत्येक गीत, भजन इत्यादि को देवनागरी लिपि में दर्शाया है और उसके सामने उसका रोमन में लिप्यंतरण है ताकि देवनागरी लिपि का ज्ञान न रखने वाले पाठक भी उन्हें पढ़ सकें और सही-सही उच्चारण कर सकें। उसके साथ-साथ अंग्रेज़ी में उनके अर्थ भी दिए गए हैं। इसका संपादन प्रो. सुरेश ऋतुपर्ण द्वारा किया गया था। निस्संदेह यह गीत-संग्रह न केवल त्रिनिडाड बल्कि विश्वभर के पाठकों के हिंदी ज्ञानवर्धन के लिए महत्वपूर्ण है अपितु इससे उनके भारतीय संस्कृति के ज्ञान में भी वृद्धि होनी निश्चित है।

आपकी दूसरी पुस्तक 'अब हिंदी बोलो' वर्ष 2009 में प्रकाशित हुई। मात्र 10 टी.टी. डॉलर की 33 पृष्ठों वाली इस पुस्तिका में अभिनंदन, घर-परिवार, भोजन, खरीदारी, बीमारी, समय इत्यादि से संबंधित शब्दावली दी गई है। छोटे-छोटे वाक्य और प्रश्नोत्तर भी हैं। ये रोमन में लिप्यंतरित हैं और अंग्रेज़ी में इनके अर्थ दिए गए हैं ताकि पाठक कम समय में ही कुछ मूल बातें हिंदी में बोलना सीख लें और उनके अर्थ भी जान लें।

वर्ष 2010 में आपका एक और प्रकाशन निकला 'हिंदू नेम्स एंड देयर मीनिंग्स'। इसमें लड़कों और लड़कियों के 2000 से अधिक हिंदू नाम (देवनागरी और रोमन लिपि में) और उनके अर्थ दिए गए हैं। आपका उद्देश्य यह था कि बच्चों और उनके माता-पिता को उनके नामों के अर्थ मालूम हों और वे इस बात का गर्व महसूस कर सकें। इस पुस्तक का एक खंड राशि नामों को समर्पित है।

कु. अलीशा खान हिंदी और भारत से बेहद प्यार करने वाली एक होनहार छात्रा हैं। आपने 2010-2011 में केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से हिंदी सीखने के एक वर्ष के भीतर विदेश में हिंदी सीखने वालों के लिए हिंदी व्याकरण पर 'हमारी प्यारी हिंदी' नाम से एक किताब लिखी। इसके लिए आपको सभी ने सराहा और फिर उच्चायुक्त

महोदय श्री मलय मिश्र द्वारा आपको पोर्ट ऑफ स्पेन में आयोजित हिंदी दिवस समारोह में सम्मानित भी किया गया। इसके बाद आपने लखनऊ विश्वविद्यालय से हिंदी साहित्य में बी.ए. किया और वर्तमान समय में लखनऊ विश्वविद्यालय से ही पर्यटन में एम.ए. कर रही हैं। त्रिनिडाड की लोक-कथाओं का हिंदी अनुवाद कर रही हैं और भविष्य में हिंदी के प्रचार-प्रसार के प्रति समर्पित रहना चाहती हैं। आप भी हिंदी में अच्छी बातचीत कर लेती हैं।

अनेक ऐसे विद्वान हैं जो भारत से अनंत प्रेम करने के नाते भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार के प्रति पूर्णत: समर्पित हैं परंतु हिंदी बोलने में असमर्थ हैं। इनमें से कुछ व्यक्ति हिंदी में हो रही बातचीत को कुछ-कुछ समझ लेते हैं और कुछ व्यक्ति बिल्कुल नहीं समझ पाते हैं। तथापि, हिंदी का शब्द-भंडार इनका भी अपर्याप्त नहीं है। बावज़ूद इसके वे अपने-अपने कार्य के प्रति इतने दृढ़ संकल्प हैं कि उन्हें भी हिंदी-सेवियों की सूची में शामिल करना कतई अनुचित न होगा। इस श्रेणी में शामिल किए जा सकने वाले नाम और काम इस प्रकार वर्णित किए जा सकते हैं—श्री चंका सीताराम—आप 'हिंदी निधि' के अध्यक्ष हैं। हिंदी निधि अपने देश का एकमात्र ऐसा स्वयं-सेवी संगठन है जिसका प्रमुख कार्य हिंदी का प्रचार-प्रसार है। हिंदी भाषा का अध्ययन, अध्यापन और विकास ही इसके उद्देश्य हैं। यह संगठन सरकार द्वारा अनुमोदित और सहायता-प्राप्त कार्यक्रम के अंतर्गत देश भर में 25 से भी अधिक प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों में यायावर हिंदी शिक्षक मुहैया कराता है। हिंदी निधि द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर समय-समय पर सम्मेलन, संगोष्ठियाँ, लेक्चर, रेडियो कार्यक्रम इत्यादि आयोजित किए जाते हैं। अन्य देशों में आयोजित किए जाने वाले अंतरराष्ट्रीय हिंदी सम्मेलनों में भी हिंदी निधि का प्रतिनिधित्व रहता है। भारत से त्रिनिडाड जाने वाले हिंदी विद्वानों, राजनयिकों, व्यावसायियों के अनेक कार्यक्रम भी हिंदी निधि द्वारा बढ़-चढ़ कर प्रायोजित किए जाते हैं। हिंदी न जानते हुए भी श्री चंका सीताराम हिंदी निधि के माध्यम से त्रिनिडाड में हिंदी को जीवित रखने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

डॉ. कुमार महाबीर त्रिनिडाड एवं टुबैगो विश्वविद्यालय (यू.टी.टी.) के संकाय सदस्य हैं। कैरिबियाई क्षेत्र में भारतीय और दक्षिण एशियाई मूल के लोग आपके शोध का विषय रहते हैं। आपका हिंदी ज्ञान कुछ शब्दों तक सीमित है तथापि आपने अपने अनुभव के आधार पर रोज़मर्रा ज़िंदगी में अंग्रेज़ी क्रियोल का हिस्सा बन चुके हिंदी शब्दों को सुनते-सुनते और अनायास अपने प्रयोग में आए शब्दों का एक संग्रह तैयार करके उसे 'ए डिक्शनरी ऑफ कॉमन त्रिनिडाड हिंदी' पुस्तक का रूप दिया है। इसकी भूमिका में आपने त्रिनिडाड में हिंदी के वृक्षारोपण, अन्य भाषा-भाषियों की हिंदी सीखने में रुचि, समाज पर हिंदी के प्रभाव और हिंदी की स्थिति पर सविस्तार

चर्चा की है। तत्पश्चात् आपने सुश्री पेग्गी रामेसर मोहन की 'त्रिनिडाड भोजपुरी : ए मॉर्फोलॉजिकल स्टडी' के उद्धृत करते हुए उच्चारण संबंधी दिशा निर्देश दिए हैं। इसके उपरांत लगभग 1212 से अधिक त्रिनिडाड हिंदी (भोजपुरी) शब्द रोमन लिपि में दिए गए हैं और उनके सामने अंग्रेज़ी में उनके अर्थ दिए गए हैं। कहीं-कहीं यथोचित चित्र भी दिए गए हैं। डॉ. महाबीर के ख़ुद शब्दों में, "मुझे आशा है कि यह शब्दकोश न केवल हमारी भाषिक विरासत को संरक्षित करेगा अपितु त्रिनिडाड एवं टुबैगो के विभिन्न लोगों के बीच हिंदी शब्दों की समझ को भी बढ़ाएगा।"

ऐसा ही एक और नाम जो चुपचाप अपना काम करने में मग्न है—श्री आश्रमजी महाराज। आपके भक्ति भजन माला खंड 1, 2 और 3 प्रकाशित किए गए हैं। ये ऐसे विरले रत्नों का खज़ाना हैं जिन्हें आपने भारतीय रिकॉर्डों की लाइब्रेरी से लिया। ये सब लता मंगेशकर, आशा भोंसले, मन्ना डे, मोहम्मद रफ़ी, मुकेश, अनूप जलोटा, जगजीत सिंह, महेंद्र कपूर, हरि ओम शरण, प्रदीप, पंकज मलिक, प्रीति सागर और इन्हीं के समकालीन अन्य कई गीतकारों द्वारा गाए गए मूल भजन हैं। भक्ति भजन माला में ये भजन अंग्रेज़ी और हिंदी दोनों में दिए गए हैं। खंड 1 में 133 भजनों का और खंड 2 में 136 भजनों का संग्रह है। मार्च 2013 में प्रकाशित खंड 3 में 137 भजन हैं और इसमें हनुमान चालीसा और आरतियाँ भी हैं।

श्री हंस हनुमान सिंह का जीवन पत्रकारिता (प्रिंट और इलैक्ट्रॉनिक मीडिया), जन-कार्यों और अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के प्रचार के प्रति समर्पित रहा है। आप 1970 से 1997 तक (27 वर्षों तक) एन. सी. आई. सी. के अध्यक्ष रहे और इस दौरान आपने भारतीय संस्कृति के प्रसार के लिए अनेक कार्यक्रम आयोजित किए। दीवाली नगर की संकल्पना करने और उसे मूर्त रूप देने का श्रेय आप ही को जाता है। इस दौरान आप अनेक समूहों को नेतृत्व करते हुए उन्हें भारत भी लाए। इस समय आप त्रिनिडाड के एक जाने-माने स्टेशन 'हेरिटेज रेडियो' के अध्यक्ष/सी. ई. ओ. हैं। आप भारत से आने वाले सभी विद्वानों और विशिष्ट अतिथियों के साक्षात्कार/कार्यक्रम अपने रेडियो स्टेशन पर अवश्य प्रसारित करते हैं। भारतीय उच्चायोग में आयोजित किए जाने वाले गणतंत्र दिवस और स्वतंत्रता दिवस समारोहों का सीधा प्रसारण आपके रेडियो स्टेशन द्वारा किया जाता है।

श्री पारस रामौतार भी एक जाने-माने पत्रकार हैं और भारत से जुड़े और भारतीय उच्चायोग द्वारा आयोजित किए जाने वाले सभी कार्यक्रमों में व्यक्तिगत रूप से हिस्सा लेते हैं और उनके बारे में अपने समाचार-पत्र में लेख भी लिखते हैं। आप आई. ए. एन. एस. के लिए भी लिखते हैं।

स्वर्गीय रामजस रामलखन 'गांधी सेवा संघ' के अध्यक्ष थे और अपने संगठन में अपनी क्षमतानुसार हिंदी कक्षाएँ भी चलाया करते थे।

श्री रवि जी 'हिंदू प्रचार केंद्र' के संस्थापक हैं और सुश्री गीता वाहिनि जी इस समय केंद्र की अध्यक्षा हैं। आप हिंदुत्व और हिंदू दर्शन के प्रसार करते हैं। हर आय वर्ग के बच्चों को रामलीला का प्रशिक्षण देते हैं। सबसे उल्लेखनीय है 'पिचकारी'। यह एक भारतीय-त्रिनिडाडीय संगीत कला है जिसका जन्म त्रिनिडाड में ही हुआ। केंद्र द्वारा फगवा समारोहों के दौरान पिचकारी गीत गाए जाते हैं जिनमें सामान्यत: वर्तमान समाज का चित्रण मिलता है। इनमें हिंदी, भोजपुरी और अंग्रेज़ी के शब्दों का मिला-जुला प्रयोग किया जाता है। इस विधा की खोज रवि जी द्वारा की गई थी। 'पिचकारी' प्रतियोगिताएँ हर वर्ष फगवा के अवसर पर हिंदू प्रचार केंद्र द्वारा आयोजित की जाती हैं और इस अनोखे तरीके से बच्चों के हिंदी शब्द-भंडार को समृद्ध बनाया जाता है।

भारत से बाहर 'कबीर पंथी' समूहों में त्रिनिडाड का 'कबीर पंथी' समूह संभवत: सबसे बड़ा है और 'कबीर पंथ एसोसिएशन ऑफ त्रिनिडाड एंड टुबैगो' के नाम से जाना जाता है। यह करपिचायमा में स्थित है। इस संगठन द्वारा आयोजित किए जाने वाले सत्संगों में संत कबीर जी की वाणी गाई जाती है और उस पर चर्चा की जाती है। इसके सदस्य हिंदी सीखने में पर्याप्त रुचि रखते हैं।

इसी प्रकार 'गुरुद्वारा साहिब त्रिनिडाड एंड टुबैगो' कैरिबियाई (वेस्ट इंडीज़) में स्थित एकमात्र गुरुद्वारा है। यहाँ पर हर माह के पहले और तीसरे रविवार को कीर्तन होता है और बैसाखी का त्यौहार भी हर्षोल्लास से मनाया जाता है जिसमें देश के अनेक लोग शामिल होते हैं और भारतीय उच्चायोग और महात्मा गांधी सांस्कृतिक केंद्र की भी सहभागिता अनिवार्य रूप से रहती है। सिक्ख धर्म संबंधी जानकारी तो मिलती ही है, पंजाबी और हिंदी के शब्द इन कीर्तनों के माध्यम से अनायास ही हवा में गूँजते रहते हैं।

सुश्री शारदा महाराज जो पंडित परिवार से हैं हिंदी में बात तो नहीं करतीं मगर सामने वाला अगर हिंदी बोल रहा हो तो समझती बखूबी हैं और उसका पूरा-पूरा आनंद भी उठाती हैं।

कुछ भारतीय मूल की महिलाएँ हैं जो स्वेच्छा से विभिन्न संस्थाओं से जुड़कर हिंदी शिक्षण का कार्य करती हैं। इनमें आमतौर पर भारतीय उच्चायोग द्वारा चलाई जा रही कक्षाओं में पढ़ाती हैं या फिर स्थानीय शिक्षकों और विद्यार्थियों को उच्चारण आदि में सहायता के लिए कक्षाओं में उपस्थित रहकर अपना अमूल्य योगदान देती हैं, जैसे श्रीमती स्नेह लता प्रभा, श्रीमती लता रवि शंकर आदि। श्रीमती आशा मोर कई दशकों से त्रिनिडाड में हैं और 'जय लक्ष्मी होम' में अनाथ बच्चों को नियमित रूप से हिंदी सिखाती हैं।

त्रिनिडाड-निवासी जिस शिद्दत के साथ हिंदी सीखते हैं, वो जज़्बा बोलचाल में कहीं दिखाई नहीं देता। पर एक सच यह भी है कि त्रिनिडाड पहुँचकर भले ही आपको लोगों की ज़ुबान से धारा प्रवाह हिंदी सुनने को न मिले फिर भी आपके कान

कभी हिंदी सुनने के लिए तरसेंगे नहीं और न ही कभी आपको यह महसूस होगा कि आप भारत से कोसों दूर हैं। कण-कण में व्याप्त भारतीय संस्कृति आपको यह अहसास कभी होने ही नहीं देगी। देश के 5 रेडियो स्टेशनों पर हिंदी गाने, भजन और कार्यक्रम प्रसारित किए जाते हैं। तीन सिनेमा-घरों में हिंदी फिल्में भी दिखाई जाती हैं। विवाह-समारोहों तथा अन्य सामाजिक पर्वों पर हिंदी/भोजपुरी लोक-गीत अवश्य गाए या बजाए जाते हैं। टेलीविज़न पर हिंदी चैनल बकायदा चलते हैं और हिंदी फिल्मों, गीतों के कार्यक्रमों और धारावाहिकों के तो अधिकतर लोग दीवाने हैं। समय-समय पर रेडियो और टेलीविज़न पर हिंदी सिखाने के कार्यक्रम भी शुरू किए जाते हैं जो दुर्भाग्यवश बहुत लंबे समय तक जारी नहीं रह पाते।

त्रिनिडाड में भारतीय रेडियो के प्रवर्तक श्री कमालुद्दीन मुहम्मद थे और टेलीविज़न के प्रवर्तक उनके छोटे भाई श्रीशाम मुहम्मद थे। शाम मुहम्मद ने 1970 में भारतीय संस्कृति को बढ़ावा देने के लिए 'मस्ताना बहार' नाम से गीत, संगीत और नृत्य प्रतियोगिताएँ शुरू कीं ताकि उत्कृष्ट प्रतिभाएँ सामने आ सकें। इनका सीधा प्रसारण टेलीविज़न पर किया जाता है और यह किसी भी स्थानीय कार्यक्रम की अब तक की सबसे लंबी टी.वी. सीरीज़ है। 'मस्ताना बहार' के वर्तमान प्रोड्यूसर शाम मुहम्मद के बेटे श्री ख़याल मुहम्मद हैं। अन्य प्रसारित होने वाले टी.वी. कार्यक्रम हैं सितारे, इंडियन वैरायटी, इंडियन कल्चरल मैग़ज़ीन आदि।

हिंदी के प्रति इस अथाह प्रेम और हिंदी शिक्षण के प्रचार के लिए किए जा रहे अथक प्रयासों के बावजूद इस बात से कष्ट होता है कि 'हिंदी' मात्र एक शब्द के रूप में जानी जाती है वहाँ, भाषा के रूप में नहीं। हिंदी भाषा के शब्द तो उनकी भाषा (अंग्रेज़ी क्रियोल) में काफी हद तक शामिल हैं पर हिंदी उनकी बोलचाल की भाषा नहीं है। इसका इस्तेमाल तो वे लस्सी में नमक या चीनी की मात्रा के समान 'स्वादानुसार' करते हैं। यूँ तो दुकानों के नामों में भी हिंदी मिलेगी—रफी रोटी शॉप। सड़कों और जगहों के नाम जैसे फैज़ाबाद, कलकत्ता स्ट्रीट, पटना स्ट्रीट भी हैं। मिलेगा सब रोमन में लिखा हुआ, फिर भी हिंदी तो है ही। इतना ही नहीं अधिकतर लोगों के नामों में भी भारतीय नाम मिलेंगे—सरस्वती, रामचरण, रेणुका, राधिका, जानकी, लछमी इत्यादि। खाना, पानी, भाई, लोटा, यज्ञ, दुल्हन, गाना जैसे रोज़मर्रा के इस्तेमाल के शब्द, रसोईघर में इस्तेमाल किए जाने वाले कुछ शब्द जैसे चूल्हा, चटनी, कुचला (अचार), दाल, भात आदि और पोशाकों एवं आभूषणों के हिंदी नाम युवाओं की ज़बान पर सहज ही रहते हैं।

काश! जितनी यह उनके हृदय की भाषा है उतनी ही उनकी ज़ुबान की भाषा भी बन जाती। कभी-कभी यह तय करना कठिन हो जाता है कि इस बात की आलोचना की जाए कि वहाँ हिंदी ठोस रूप में कहीं नहीं है या फिर इस बात पर हर्षित हुआ जाए कि हवा की मानींद यह देश में सर्वत्र व्याप्त है। कुछ धार्मिक क्रियाकलापों और

सांस्कृतिक कार्यक्रमों में, ख़ासतौर पर संगीत के कार्यक्रमों में तो पूरी की पूरी कार्रवाई हिंदी में की जाती है और दर्शकगण, बहुत कुछ न समझने के बावजूद, मंत्रमुग्ध होकर उसका आनंद लेते रहते हैं—यह उनका हिंदी प्रेम ही तो है!

पंडितों द्वारा संस्कृत और हिंदी का व्यापक प्रयोग किए जाने के कारण समाज में उनका बहुत आदर-सत्कार किया जाता है। और जो भी कोई हिंदी में बात करता है सबके सम्मान का पात्र बन जाता है। भारत से आए लोगों के लिए तो उनका हृदय प्रेम और श्रद्धा से भरा रहता है, उन्हें लगता है कि जो भारत से आया है वह उनके पूर्वजों की पावन भूमि की मिट्टी और गंध भी साथ लाया है। उनके लिए हिंदी केवल एक भाषा नहीं है, अपितु यह भारत से उनके पवित्र बंधन का ऐसा प्रतीक है जो उनके और भारत के बीच की भौगोलिक दूरी को पाट देता है, उनके सांस्कृतिक अस्तित्व को एक नई पहचान देता है व उसकी जड़ों को सींचता है और उसे मज़बूत बनाता है।

शायद ज़रूरत इस बात की है कि देश की विभिन्न संस्थाओं द्वारा अलग-अलग किए जा रहे प्रयासों को एकीकृत किया जाए और साथ ही हिंदी सीखने वालों के लिए उसके सांस्कृतिक महत्व के साथ-साथ उसके व्यावसायिक पहलू पर भी ध्यान दिया जाए और हिंदी सीखने के आर्थिक लाभों की संभावना को बढ़ाया जाए। वहाँ की सरकार द्वारा भी इस दिशा में सकारात्मक कदम उठाए जाने की आवश्यकता है कि कम से कम स्पैनिश और फ्रैंच की तरह हिंदी को भी द्वितीय भाषा का दर्जा दिया जाए। और युवावर्ग को यह अहसास दिलाया जाए कि विश्व में भारत की उत्तरोत्तर सुदृढ़ होती स्थिति को देखते हुए यह अत्यंत आवश्यक हो जाता है कि उनका हिंदी सीखने का उद्देश्य रामायण और अन्य धार्मिक ग्रंथों को पढ़ने की सीमाओं से आगे बढ़े और वे यात्रा, सांस्कृतिक आदान-प्रदान, व्यापार, हिंदी में उच्चतर शिक्षा आदि को भी अपना लक्ष्य बनाएँ। लुप्त होती भाषा के जीर्णोद्धार के लिए गंभीरता से सोच-विचार करने और ठोस एवं सकारात्मक कदम उठाए जाने की आवश्यकता है।

❑❑

जापान में हिंदी : एक आकलन

हरजेंद्र चौधरी

पिछले कुछ वर्षों से समुद्री पर्यावरण में घटित होने वाली गंभीर उथल-पुथल से जुड़ा एक जापानी शब्द विश्व-भर की सब भाषाओं में अपना स्थान बना चुका है। जापानी शब्द 'त्सुनामी' (हिंदी उच्चारण 'सुनामी') से आज हम सब परिचित हैं। इसके अलावा जापान का जिक्र आते ही हम भारतीयों के मन में 'हिरोशिमा-नागासाकी परमाणु त्रासदी भुगतने वाला देश', 'तकनीकी-आर्थिक विकास की उत्कृष्टता तक पहुँच चुका देश', 'साकुरा' (चेरी) के लुभावने सौंदर्य वाला देश', 'सूर्योदय का देश' आदि अनेक शब्द-गुच्छ उभरते हैं। 'हाइकु' (विशिष्ट काव्य-रूप) 'काबुकी' (नाट्य-रूप), 'गीशा' (अभिजात नगरवधू), 'बोन्साइ' (वनस्पति-संक्षेपण कला), 'जेन' (बौद्ध ध्यान की जापानी परंपरा) आदि विविध सांस्कृतिक-सामाजिक परंपराओं से संबद्ध अभिव्यक्तियों पर भी हमारा ध्यान जाता है। परंतु भारत के बहुत कम लोग इस तथ्य से परिचित हैं कि जापान में हिंदी-हिंदुस्तानी की पढ़ाई आज से एक सौ सात साल पहले, 1908 में शुरू हुई थी। भूकंप और 'त्सुनामी' जैसी प्राकृतिक आपदाओं तथा इन्सानी लिप्सा और अहम् से उपजे 'महायुद्ध' जैसे संकटों के बावजूद जापानियों ने शिक्षण-प्रक्रियाओं को जारी रखने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। यूरोपीय देशों में इस सफलता के प्रमाण नहीं मिलते। मसलन, पोलैंड में 'भारतविद्या' का शिक्षण द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान बाधित हो गया था और अनेक वर्षों के व्यवधान के पश्चात् 1953-54 में पुनः आरंभ हो पाया था। पोलैंड (2001 से 2005) तथा जापान (1994 से 1996 तथा 2010 से 2012) दोनों देश इन पंक्तियों के लेखक की कर्मभूमि रह चुके हैं। हम सब जानते हैं कि इन दोनों देशों ने क्रमशः महायुद्ध के प्रारंभिक तथा अंतिम दौर की भयानक विभीषिका भुगती थी। पर जापान में पिछले एक सौ सात साल से हिंदी-हिंदुस्तानी-शिक्षण की निरंतरता का बने रहना वाकई एक प्रशंसनीय उपलब्धि है।

यहाँ हिंदी-शिक्षण का श्रीगणेश किए जाने की दीर्घ पृष्ठभूमि और भारत-जापान संबंधों की लंबी परंपरा की संक्षिप्त चर्चा करना आवश्यक लग रहा है। हमारे ज्ञात संबंधों के इतिहास में बौद्ध धर्म की सक्रियता और उपस्थिति ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जापान में छठी शताब्दी के मध्य से ही बौद्ध धर्म की उपस्थिति के प्रमाण मिलते हैं। कहा जाता है कि गंधार (वर्तमान 'कंधार', अफगानिस्तान) से पाँच बौद्ध भिक्षु पाँचवीं सदी में 'सुदूर पूर्व के देश' जापान पहुँचे थे, परंतु आधिकारिक रूप से जापान में बौद्ध धर्म की स्थापना सन् 552 ईसवी में हुई। बोधिसेन नामक बौद्ध भिक्षु की जापान-यात्रा के पश्चात् बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में गतिशीलता आने पर आठवीं सदी के बाद से जापानी जीवन और संस्कृति पर इसका प्रभाव गहन से गहनतर होता चला गया। बोधिसेन की मृत्यु सन् 760 ईस्वी में जापान में ही हुई।

बौद्ध धर्म के प्रचार और प्रभाव के भाषायी पहलू पर ध्यान दें तो हम पाएँगे कि संस्कृत-पालि के अनेक शब्द आज भी मौलिक अथवा रूपांतरित रूप में जापानी भाषा में प्रयुक्त होते हैं। 'जेन' के बारे में हम सब जानते हैं कि यह संस्कृत शब्द 'ध्यान' का जापानी रूप है जो चीनी उच्चारण से होता हुआ जापानी भाषा में पहुँचा। संस्कृत शब्द 'सेवा' इसी मूल रूप में जापानी में आज भी प्रयोग में लाया जाता है। बुद्दा (बुद्ध), बुतात्सु (बोधिसत्व), अमिदा (अमिताभ) जैसे शब्दों की ध्वनियाँ एक चौकन्ने भारतीय श्रोता को उनके मूल उच्चारण और स्वरूप तक सहज ही पहुँचा देती हैं। कुछ पुरानी जापानी कहानियों में 'पंचतंत्रा' के कथालोक का आलोक झलकता अनुभव होता है। इस आदान-प्रदान के दूसरे पक्ष पर ध्यान दें तो हम पाएँगे कि जापानी 'रिक्शॉ' (मानवीय शक्ति द्वारा चलाया जाने वाला वाहन) शब्द आज विश्व की अधिकतर भाषाओं में प्रयुक्त होता है। जापानी शब्द 'त्सुनामी' (जिसे हम प्रायः 'सुनामी' कहते-लिखते हैं) आज पूरे विश्व में प्रयुक्त होता है जो दो शब्दों 'त्सु' (बंदरगाह) और 'नामी' (लहर) के संयोग से बना है। वास्तव में लोगों के आने-जाने, संस्कृति-धर्म आदि के आदान-प्रदान की प्रक्रिया में भाषाएँ भी यात्रा करती हैं और अपने कुछ शब्दों और भाषा-प्रयोगों का विनिमय कर लेती हैं। भाषायी विनिमय प्रकारांतर से सांस्कृतिक विनिमय का ही एक रूप है।

भारत और जापान के बीच बौद्ध धर्म के माध्यम से छठी शती से प्रारंभ हुई पारस्परिकता आने वाली अनेक सदियों के दौरान बनी रही। सत्रहवीं-अठारहवीं सदियों के दौरान जापान का बाहरी विश्व से संपर्क लगभग पूरी तरह कटा रहा। मेइजि-काल (1868-1912) की शुरूआत के साथ संपर्क की पुनर्स्थापना हुई। 1868 के बाद ही जापान ने 'आधुनिक युग' में प्रवेश किया। 'समानता' जैसे जनतांत्रिक मूल्यों तथा धार्मिक स्वतंत्रता जैसे मानवाधिकारों की स्थापना होने से पारंपरिक सत्ताधारी वर्गों ('समुराइ'-योद्धा-जमींदार) का वर्चस्व खंडित होने लगा। जापान ने फ्रांसीसी और जर्मन शिक्षा-व्यवस्था के आधार पर नई शिक्षा-पद्धति विकसित व लागू की। शिक्षा सबके लिए अनिवार्य कर दी गई।

इसी परिवर्तनकारी परिवेश में जापान में विदेशी भाषाओं-संस्कृतियों का अध्ययन-अध्यापन प्रारंभ किया गया। हिंदी भाषा की पढ़ाई हिंदुस्तानी-उर्दू के रूप में 1908 में तोक्यो के उस विदेशी भाषा विद्यालय में शुरू हुई, जो आज 'तोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ फ़ॉरेन स्टडीज' के नाम से विख्यात है। 1921 में ओसाका में भी हिंदी का शिक्षण प्रारंभ हुआ जो आज तक जारी है। ओसाका में हिंदी-शिक्षण मूलत: 'ओसाका यूनिवर्सिटी ऑफ फ़ॉरेन स्टडीज' में होता रहा, जो सन् 2007 में ओसाका विश्वविद्यालय के भाषा संकाय के रूप में परिवर्तित हो गई। आज 'भाषाओं व संस्कृति का स्नातक विद्यालय' नाम से चलने वाला यह संकाय विश्व-भर की अनेक भाषाओं के शिक्षण-अध्ययन में संलग्न है। इसी प्रकार 'तोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ फ़ॉरेन स्टडीज' में पढ़ाई जाने वाली पच्चीस भाषाओं में हिंदी भी शामिल है। इन दोनों विश्वविद्यालयों में हिंदी भाषा व साहित्य में पी-एच्. डी. उपाधि के स्तर तक की पढ़ाई की व्यवस्था उपलब्ध है। इन दो विश्वविद्यालयों के अलावा हिंदी-शिक्षण करने वाले अनेक अन्य विश्वविद्यालय व संस्थान जापान में मौजूद हैं। ताकुशोकु विश्वविद्यालय, दाइतो बुंका विश्वविद्यालय, तोक्यो स्थित वासेदा होशिएन, क्योतो विश्वविद्यालय के उदाहरण हमारे सामने मौजूद हैं, जहाँ पर प्रारंभिक स्तरों पर हिंदी का अध्ययन-अध्यापन किया जा रहा है।

1908 में जब जापान में हिंदुस्तानी भाषा की पढ़ाई का श्रीगणेश किया गया, तब भारत में बंग-भंग विरोधी आंदोलन की धूम थी और हमारा स्वतंत्रता-आंदोलन अपेक्षाकृत आक्रामक रूप लेने लगा था। जाहिर है कि ऐसे में ब्रिटिश सत्ता ने जापान में दक्षिण-एशियाई भाषा-संस्कृति के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था करने में किसी भी प्रकार का सहयोग नहीं दिया होगा। जापान ने इस व्यवस्था का दायित्व स्वत: और अकेले ही लिया होगा। भारतीय भाषाओं व संस्कृति को महत्व देने का अर्थ था- भारत राष्ट्र को महत्व देना। द्वितीय विश्वयुद्ध के संकट भरे समय में गांधी जी जैसे नेताओं द्वारा जापान की युद्ध-नीतियों का घोर विरोध किए जाने के बावजूद जापानियों के मन में भारत के प्रति और गांधीजी के सिद्धांतों के प्रति आकर्षण और सम्मान का भाव बना रहा। भारत से ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकने के भारतीय प्रयासों को जापान का पूरा सहयोग मिला। रास बिहारी बोस तथा सुभाषचंद्र बोस की आज़ाद हिंद सेना को जापान से नैतिक व भौतिक संबल मिलता रहा था।

अगस्त 1945 में जापान के दो नगरों- हिरोशिमा व नागासाकी- पर एटम बम डाले जाने के बाद द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हो गया तथा इसके दो वर्ष बाद भारत ब्रिटिश सत्ता की गुलामी से मुक्त हो गया। स्वतंत्रता के पाँच वर्षों के बाद सन् 1952 में भारत और जापान के बीच राजनयिक संबंधों की स्थापना ने हमारे पारंपरिक सांस्कृतिक संबंधों को एक नई दिशा दी। 1965 तक जापान विश्व की तीसरी आर्थिक महाशक्ति बन गया और आने वाले दशकों के दौरान भारत-जापान संबंध

सांस्कृतिक-शैक्षिक आदान-प्रदान, आर्थिक-व्यापारिक सहयोग, राजनैतिक समर्थन आदि के बल पर निरंतर अधिक मजबूत होते चले गए। विविध-रूपेण आदान-प्रदान, सहयोग और समर्थन को मजबूती व बढ़ावा देने वाले अनेक संधि-समझौते दोनों देशों की सरकारों द्वारा किए गए।

यहाँ यह बताना प्रासंगिक होगा कि भारत-स्थित जापानी दूतावास और कौंसुलावासों में नियुक्त होने वाले अनेक कर्मचारी, अधिकारी व राजनयिक हिंदी के विद्यार्थी रह चुके होते हैं। उनमें से कुछ लोग तो हिंदी की उच्चस्तरीय पढ़ाई कर चुके होते हैं। जापानी लोग हम भारतीयों से अंग्रेजी के माध्यम से नहीं, हमारी अपनी भाषा/भाषाओं के माध्यम से संपर्क करना जरूरी और बेहतर समझते हैं। वे इस बात को बहुत अच्छी तरह जानते और मानते हैं कि भारत के अंतर्मन को गहराई से समझने के लिए भारतीय भाषाओं का ज्ञान होना जरूरी है। यही कारण है कि जापान में हिंदी-विद्वानों और हिंदी-प्रेमियों की अच्छी-खासी संख्या है। उन्होंने शिक्षण, नाट्य-मंचन, लेखन, अनुवाद, संपादन आदि विविध हिंदी-गतिविधियों में स्वयं को संलग्न रखा है।

जापान की 107 वर्ष लंबी हिंदी-शिक्षण-परंपरा के दौरान किए गए सभी कामों का ब्यौरा तो इस संक्षिप्त लेख में नहीं दिया जा सकता, पर मोटे तौर पर उनका परिचय देना आवश्यक है। भाषा-शिक्षण में शब्दकोश की विशेष एवं प्रभावी भूमिका रहती है। अनेक जापानी विद्वानों ने इस क्षेत्र में अपनी सक्रियता दिखाई है, पर कोश-निर्माण की प्रक्रिया में तीन दशक से अधिक समय तक संलग्न रहने वाले ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय के 'एमिरेटस प्रोफेसर' कात्सुरो कोगाजी द्वारा संपादित 1472 पृष्ठों और अस्सी हजार से अधिक शब्दों वाला हिंदी-जापानी शब्दकोश (2006, तोक्यो) जापान के हिंदी-सेवियों के लिए अपनी अपरिहार्यता सिद्ध कर चुका है। इस शब्दकोश के संपादन में ओसाका विश्वविद्यालय के प्रोफेसर आकिरा ताकाहाशि उनके सहयोगी रहे हैं। आकिरा ताकाहाशि जी आजकल इस शब्दकोश का 'इलेक्ट्रॉनिक रूप' तैयार करने में लगे हैं। वे बहुत पहले 'दक्खिनी हिंदी' पर कार्य कर चुके हैं तथा सन् 1988 में संभावना प्रकाशन, हापुड़ से प्रकाशित उनकी पुस्तक ''मुल्ला वजही कृत 'सबरस' की दक्खिनी हिंदी का भाषावैज्ञानिक विश्लेषण'' ने भाषावैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित किया था।

'ओसाका यूनिवर्सिटी ऑफ फ़ॉरेन स्टडीज' के 'प्रोफेसर एमिरेटस' डॉ. तोमियो मिजोकामि का कार्य 'नाटक एवं फिल्म' के क्षेत्र में जाना जाता है। इन पंक्तियों के लेखक द्वारा उस विश्वविद्यालय में 1994-1996 के दौरान हिंदी नाट्य-मंचन की जिस ठोस परंपरा की शुरूआत की गई, उस परंपरा को प्रोफेसर मिजोकामि ने ही आगे जारी रखते हुए उसे वैश्विक रूप दिया। जापानियों द्वारा मंचित किए जाने वाले

हिंदी नाटकों ने जापान की ही नहीं, भारत और एशिया की सीमाएँ भी पार की। उन्होंने भारत के अनेक नगरों के अलावा यू.के., मॉरीशस, नेपाल, सिंगापुर, थाइलैंड आदि देशों में हिंदी नाटक मंचित किए। मिजोकामि जी ने 'रामायण' धारावाहिक को पुस्तक-रूप में (दो जिल्दों में) प्रकाशित करके उसे अनेक वर्षों तक पाठ्य-सामग्री के रूप में प्रयोग किया। सन् 2006 में उन्होंने 1951 से 1980 तक के ''हिंदी फिल्मों के लोकप्रिय गीत'' सी.डी. सहित प्रकाशित की।

ओसाका विश्वविद्यालय की एसोशिएट प्रोफेसर हिरोको नागासाकी का मुख्य कार्य मध्यकालीन हिंदी साहित्य से संबद्ध है, जबकि उनकी सहकर्मी एसोशिएट प्रोफेसर मिकि निशिओका का कार्यक्षेत्र 'हिंदी-भाषाविज्ञान' है। ये दोनों अपने-अपने ढंग से शैक्षिक रूप से सक्रिय हैं।

'तोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ फ़ॉरेन स्टडीज' से जुड़े अनेक शिक्षकों ने भारतविद्या व हिंदी संबंधी अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। प्रोफेसर एमिरेटस तोशियो तनाका जी ने मूल गुजराती से गांधीजी की आत्मकथा को जापानी भाषा में अनूदित तो किया ही, साथ ही आधुनिक हिंदी साहित्य से अनेक रचनाओं का जापानी अनुवाद भी जापानी पाठकों को उपलब्ध कराया। 2003 में उन्होंने 'हिंदी व्याकरण' पुस्तक सी.डी. सहित प्रकाशित व उपलब्ध कराई। यहाँ के वर्तमान अध्ययन प्रोफेसर ताकेशि फूजी की रुचि का क्षेत्र हिंदी भाषा-साहित्य के साथ-साथ दक्षिण-एशियाई इतिहास व भारतीय समाज की समकालीन संरचना है। प्रोफेसर योशिफूमि मिजुनो का कार्यक्षेत्र मध्यकालीन हिंदी साहित्य से लेकर संस्कृत साहित्य तक व्याप्त है। प्रोफेसर माचिदा ने शब्दकोश-निर्माण व 'इलेक्ट्रॉनिक शब्दकोश' उपलब्ध कराने के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है।

तोक्यो में स्थिति ताकुशोकु विश्वविद्यालय भी हिंदी अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में नाम कमा चुका है। यह तोक्यो का एक पुराना विश्वविद्यालय है, जिसकी स्थापना सन् 1900 में हुई थी। इस विश्वविद्यालय के सेवानिवृत्त प्रोफेसर तेइजि सकाता ने मध्यकालीन हिंदी साहित्य व भारत की लोककथाओं को जापानी पाठकों के लिए उपलब्ध कराने के साथ जापानी साहित्य की अनेक दिलचस्प रचनाओं को हिंदी में अनूदित किया है। दिल्ली विश्वविद्यालय की जापानी भाषा की प्रोफेसर उनीता सच्चिदानंद के साथ मिलकर उन्होंने काफी अनुवाद-कार्य किया है।

साइतामा-तोक्यो स्थित दाइतो बुंका विश्वविद्यालय के वर्तमान प्रोफेसर हिदेआकि इशिदा ने एक ओर तो जापानी अध्येताओं के लिए 'हिंदी वार्तालाप' पुस्तक (1993) प्रकाशित कराई तो दूसरी ओर समय-समय पर विभिन्न विषयों पर लेख लिखते रहे। उदय प्रकाश की चुनी हुई कहानियों का जापानी अनुवाद 2011 में प्रकाशित हुआ। हिंदी के वर्तमान परिदृश्य पर उन्होंने अनेक लेख लिखे हैं। उन्होंने संपादक के रूप में भी पर्याप्त ख्याति अर्जित की है। 'हिंदी साहित्य' पत्रिका से जापान के सब हिंदी-प्रेमी परिचित हैं।

जापान में विश्वविद्यालयों तथा अन्य शिक्षा-संस्थानों के अलावा 'रेडियो जापान' (एन.एच.के.) भी हिंदी संबंधी गतिविधियों में संलग्न व सहयोगी बना रहता है। नवंबर 1944 से प्रारंभ हुई 'हिंदी सेवा' आज तक अपनी निरंतरता बनाए हुए है। हिंदी भाषियों को जापानी तथा जापानी भाषियों को हिंदी सिखाने वाले कार्यक्रमों का प्रसारण करके 'रेडियो जापान' भाषायी आदान-प्रदान व आपसी समझ के लिए आधार प्रदान करता रहा है। जापान में होने वाले हिंदी कार्यक्रमों की सूचना देकर या उनकी आंशिक रिकॉर्डिंग का प्रसारण करके या हिंदी विद्वानों के साक्षात्कार प्रसारित करके 'रेडियो जापान' अपनी 'हिंदी-सेवा' को सार्थकता प्रदान करता रहता है। मुझे ठीक से स्मरण है कि 1955 में 'ओसाका यूनिवर्सिटी ऑफ फ़ॉरेन स्टडीज' के नाट्य-दल ने पहली बार विश्वविद्यालय तथा ओसाका शहर की सीमाओं के पार जाकर कोबे नामक नगर में 'साचिको की शादी' नाटक का मंचन किया तो इस नाटक के अंशों तथा अभिनेता-अभिनेत्रियों व लेखक-निर्देशक के साक्षात्कारों का प्रसारण किया गया था।

जापान में कुछ ऐसे हिंदी-सेवी, हिंदी-प्रेमी भी हैं जिनके लिए हिंदी जीवन-निर्वाह या नौकरी का आधार नहीं है, पर फिर भी जो अपने आप को हिंदी गतिविधियों में संलग्न रखते रहे हैं। बहुत लोगों को जापानियों द्वारा लिखित लेखों को छापने वाली हिंदी पत्रिका 'ज्वालामुखी' की आज भी याद आती है और कमी भी महसूस होती है। उसके संपादक अपने निजी संसाधनों के सहारे वह पत्रिका निकालते थे। सुजुकि जी किसी जापानी कंपनी में नियुक्त थे और हिंदी उनकी जीविका का आधार नहीं था। इसी तरह ओसाका के स्कूल-अध्यापक श्री यूइचिरो मिकि जापानी भाषा पढ़ाते हैं, परंतु जापानी-हिंदी या हिंदी-जापानी अनुवाद करते रहते हैं। फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास 'मैला आँचल' व उपेंद्रनाथ अश्क की कुछ रचनाओं का जापानी में अनुवाद करने का श्रमसाध्य काम करने वाले यूइचिरो मिकि जी बहुत गंभीर और उत्कृष्ट अनुवादक हैं। 'जापान फाउंडेशन' में कार्यरत श्री केई शिराई तथा उनकी पत्नी (तोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ फ़ॉरेन स्टडीज की अंशकालिक प्राध्यापक) ने भी अनुवाद-कार्य में अपनी विशिष्ट जगह बनाई है। मोहन राकेश की कुछ कहानियों को जापानी पाठकों के लिए उपलब्ध कराने वाले इस दंपत्ति ने निरंतर हिंदी गतिविधियों में अपने-आप को संलग्न रखा है। कुछ भारतीयों ने भी जापान में रहकर हिंदी-सेवा की है, बावजूद इसके कि ऐसा करने से उनको किसी प्रकार का लाभ नहीं होना था। 'रेडियो जापान' की 'हिंदी सेवा' में (आकाशवाणी दिल्ली से) प्रतिनियुक्ति पर जाने वाले समाचार-वाचक श्री अखिल मित्तल ने तोक्यो के कुछ भारतीय मित्रों के साथ मिलकर 1994-1996 के दौरान 'जापान भारती' नामक हिंदी पत्रिका संपादित की थी।

जापान में हिंदी गतिविधियों को जारी रखने और उनको नए-नए रूप और आयाम देने में भारतीयों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण रही है। 'ओसाका यूनिवर्सिटी ऑफ फ़ॉरेन स्टडीज' (जो अब ओसाका विश्वविद्यालय का भाषा-संस्कृति-स्नातक

विद्यालय नामक संकाय है) तथा 'तोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ फ़ॉरेन स्टडीज' में अनेक दशकों से जो भारतीय प्राध्यापक 'विजिटिंग प्रोफ़ेसरों' के रूप में जाते रहे हैं, उनकी सक्रियता ने जापान की हिंदी गतिविधियों को निरंतर नई दिशा-गति दी है। इन दोनों विश्वविद्यालयों में हिंदी का एक-एक विजिटिंग प्रोफ़ेसर निरंतर अपनी सेवाएँ देने के लिए नियुक्त रहता है। अधिकतर नियुक्तियाँ बहुधा दो-दो, तीन-तीन वर्षों के लिए होती रही हैं।

पिछले नौ-दस वर्षों के दौरान जापान में होने वाली हिंदी गतिविधियों में नई गतिशीलता आई है। संभवत: इसका एक बड़ा कारण भारत की आर्थिक प्रगति है। भारतीय दूतावास और ओसाका-कोबे के भारतीय कौंसुलावास ने जापान की हिंदी गतिविधियों के लिए बहुविध सहयोग देकर पिछले कुछ वर्षों में विशेष रुचि व सक्रियता का परिचय दिया है। जुलाई 2006, दिसंबर 2008 में तोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ फ़ॉरेन स्टडीज में तथा नवंबर 2010 में ओसाका विश्वविद्यालय में होने वाले अंतरराष्ट्रीय स्तर के हिंदी सम्मेलनों तथा तोक्यो में जनवरी 2012 में आयोजित हिंदी सम्मेलन को ज्वलंत उदाहरणों के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया जा सकता है। जनवरी 2012 वाला सम्मेलन तो भारत-जापान राजनयिक संबंधों की षष्ठीपूर्ति के कार्यक्रमों की ही एक कड़ी के रूप में आयोजित किया गया था। इसके अतिरिक्त जापान में जनवरी में विश्व हिंदी दिवस मनाने की परंपरा भी पिछले कुछ वर्षों से चल पड़ी है। सुप्रसिद्ध अंग्रेजी-लेखक श्री विकास स्वरूप (जिनके उपन्यास पर 'स्लम डॉग मिलियनेयर' फिल्म बनी थी) ने ओसाका-कोबे के भारतीय कौंसुल-जनरल होने के नाते हिंदी गतिविधियों में काफी रुचि दिखाई। ओसाका विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों और प्राध्यापकों के साथ अब भारतीय कौंसुलावास का संपर्क किसी न किसी रूप में प्राय: बना रहता है। 2012 के जनवरी माह में मनाए जाने वाले विश्व हिंदी दिवस के आयोजन के समय तो ओसाका विश्वविद्यालय के हिंदी नाट्य-दल ने 'भारतीय सपनों का रियलिटी-शो' नाटक प्रस्तुत किया था। इस आयोजन में भारतीय कौंसुलावास का भरपूर सहयोग मिला था। पिछले कुछ वर्षों से कोबे बंदरगाह के किनारे स्थित 'मेरिकान कोएन' (अमेरिकन पार्क) में भारतीय कौंसुलावास-कोबे-प्रशासन के सहयोग से भारत-उत्सव (इंडिया मेला) का आयोजन करता आ रहा है। इस आयोजन में भी ओसाका विश्वविद्यालय के हिंदी विद्यार्थी व प्राध्यापक किसी न किसी रूप में शामिल होते हैं।

भारतीय कौंसुलावास के तत्परतापूर्ण सहयोग से ओसाका में हर वर्ष जनवरी में विश्व हिंदी दिवस मनाया जाता है। इस नगर में स्थित ओसाका विश्वविद्यालय के छात्र हर साल हिंदी नाटक मंचित करते हैं। हिंदी गतिविधियों की यह निरंतरता हम भारतीयों के लिए गर्व का विषय होने के साथ-साथ प्रेरणा का स्रोत भी है। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की जापान-यात्रा के समय उनके द्वारा हिंदी भाषा का प्रयोग किए जाने के पीछे जापानी आग्रह भी था। बौद्धिक-शैक्षिक क्षेत्र के साथ-साथ अब राजनैतिक-राजनयिक क्षेत्र में भी भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी का महत्व बढ़ रहा है।

जापान और हिंदी का संबंध जितना पुराना है, उतना ही सक्रियतापूर्ण भी। जापानी लोग तो भारत की यात्रा करते ही रहते हैं, हिंदी भाषी लोगों का भी जापान से संपर्क प्रगाढ़तर होता जा रहा है। बीसवीं सदी के दौरान हिंदी के तीन सुप्रसिद्ध साहित्यकारों का जापान-प्रवास या उनकी जापान-यात्रा इस आवाजाही का उज्ज्वल दृष्टांत है। हिंदी के प्रतिष्ठित निबंधकार सरदार पूर्णसिंह (1881-1931) ने अपनी 'विज्ञान की पढ़ाई' जापान में पूरी की थी। सितंबर 1900 से लेकर सितंबर 1903 तक उन्होंने तोक्यो विश्वविद्यालय में 'औद्योगिक रसायनशास्त्र' का अध्ययन किया था। महापंडित राहुल सांकृत्यायन (1893-1963) तथा हीरानंद सच्चिदानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' (1911-1987) ने भी जापान की यात्रा की थी। अज्ञेय की तो अनेक कविताओं का 'लोकेल' और कथ्य जापान से संबंधित है। अनेक वर्षों से भारतीय प्राध्यापक ओसाका तथा तोक्यो विश्वविद्यालय में हिंदी-शिक्षण के लिए नियुक्त किए जाते रहे हैं। दूसरी ओर जापान के हिंदी-प्रेमी व हिंदी-सेवी यात्रा, अध्ययन व शोध के सिलसिले में भारत आते ही रहते हैं। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि हिंदी भाषा अब भारत-जापान संबंधों को नई-नई ऊँचाइयों तक ले जाने में केंद्रीय भाषायी भूमिका निभा रही है।

विश्व-भर में हो रहे तेज़ परिवर्तनों के इस दौर में भारत-जापान संबंधों का सौहार्दपूर्ण और मज़बूत होना एशिया महाद्वीप में विकास तथा सत्ता-संतुलन के लिए और अधिक प्रासंगिक और जरूरी हो गया है। जापान में हिंदी के गौरवपूर्ण अतीत और आश्वस्तिदायक वर्तमान को देखते हुए कहा जा सकता है कि जापान में हिंदी का भविष्य भी उज्ज्वल होगा। आने वाले समय में दोनों देशों के बीच पारस्परिक समझ और सौहार्द के आधार-रूप में हिंदी भाषा बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगी।

❑❑

[साभार : गवेषणा, अंक-105, जुलाई-दिसंबर 2015, **पृष्ठ :** 165-171]

प्रवासियों का दर्द और हिंदी

डॉ. करुणा पांडेय

आज भारत ही नहीं विश्व में परिवर्तन की लहर चल रही है और हर देश किसी अन्य देश के मुक़ाबले पथ पर आगे निकलने को मचल रहा है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया में विभिन्न देश एक दूसरे के निकट आए हैं और उनके मध्य नव चिंतन, नव उन्नति और साहचर्य का मार्ग खुल रहा है। प्रत्येक देश का साहित्य पाखंड छोड़कर वैश्वीकरण को ग्रहण कर रहा है, अपने देशवासियों की आकांक्षाओं को व्यक्त कर रहा है। फलत: इक्कीसवीं सदी में सभी देश एक दूसरे की नब्ज़ पहचानते हुए साथ चलने को तत्पर हैं। ऐसे में भारत सभी देशों को आकर्षित करता है। भारत में ज्ञान, योग आयुर्वेद, पांडित्य, संस्कृति, भाषाएँ, धर्म आदि के सुगंधित फूल अपनी अलग- अलग सुगंध के साथ एक ही गुलदस्ते में मस्त होकर झूम रहे हैं। विभिन्नता को एकता में पिरोये भारत जैसे देश को जानने, पहचानने और अपने बाज़ार की संभावना बनाने के लिए विश्व के सभी देश यहाँ की संस्कृति और भाषा को आत्मसात करते हैं। इसीलिए पिछले कुछ वर्षों से अंतरराष्ट्रीय क्षितिज पर हिंदी एक ज़रूरी भाषा के रूप में देखी जा रही है। हिंदी को जाने बिना हम प्रवासी पीड़ा और समस्याओं को नहीं जान सकते। हिंदी हमारी माँ है इसलिए प्रवासियों की वेदना को हिंदी जिस आत्मीयता से प्रस्तुत कर सकती है कोई अन्य भाषा नहीं।

हम प्रवासी साहित्य और प्रवासी भारतीय शब्द का प्रयोग करते हैं। विदेशों में जब हम हिंदी के संदर्भ में बात करते हैं तो मोटी-मोटी दो बातें हमें समझनी होंगी।

पहली—कि जो हमारे प्रवासी भारतीयों के देश हैं जैसे फिजी, मॉरीशस, त्रिनिदाद, टुबैगो आदि, वहाँ हिंदी बोलने वालों की संख्या अधिकता में है। वहाँ हिंदी और भारतीय ग्रंथ, भारतीय संस्कृति और पहचान के रूप में जिंदा हैं। यहाँ के लोगों का साहित्य कुछ अलग है क्योंकि इन लोगों ने उस देश को बनाने में अपना योगदान दिया है। ये कहीं न कहीं उस देश के निर्माण से जुड़े हैं इसलिए उस देश और वहाँ की समस्याओं से इनका अलग संबंध है और इसी कारण इनका लेखन और साहित्य कुछ

अलग तरह का है। यहाँ के लोगों में अपने पूर्वजों के भोगे कष्टों का अहसास है जो उनकी रचनाओं में लक्षित होता है। यह भारत के साथ ही यहाँ की मिट्टी से भी जुड़े हैं।

दूसरे—इनसे अलग अमेरिका, ब्रिटेन, जापान आदि देश, जहाँ व्यापक पैमाने पर हिंदी भाषी पहुँच रहे हैं। इन देशों में जो भारतीय गए हैं वह या तो जीवनयापन के लिए गए हैं या उनकी एक पीढ़ी वहाँ रह चुकी है और वहीं पैदा हुए हैं इसलिए इनके साहित्य और लेखन में अलग तरह की समस्याएँ और पीड़ा है। पर अपने देश और मिट्टी से अलग होने का दंश इन्हें चुभता रहता है और इसी पीड़ा को वह अपने साहित्य के माध्यम से व्यक्त करते हैं। दोनों में ही पीड़ा है पर पीड़ा का रूप अलग-अलग है।

हिंदी पूरे भारत की आत्मा है जिसमें करोड़ों भारतीयों का शुद्ध और निर्मल हृदय बसता है। इस आत्मा को साथ लेकर विदेशों में बसे प्रवासियों ने न केवल सिर्फ स्वयं हिंदी का दामन पकड़कर लेखन कार्य किया वरन वहाँ के लोगों में भी हिंदी के प्रति लौ लगाई और उन्हें हिंदी लेखन के प्रति आकृष्ट किया। हिंदी नत्वा, दत्वा और कृत्वा का प्रतिरूप है। हिंदी का प्रसार भी सागर की भाँति अपार है।

प्रवासी साहित्यकार अपने प्रवास के दौरान एक-एक दीप अपनी रचनाओं के माध्यम से विदेशी भूमि में रखते रहे हैं जिससे हिंदी की ज्योति में विदेशी साहित्यकार भी दैदीप्यमान हो रहे हैं और भारत की पृष्ठभूमि पर निरंतर लेखन कर रहे हैं। बहुत से साहित्यकार और कहानीकार हैं जो निरंतर प्रवासी ज़मीन पर बैठकर भी अपने देश की भावमय भाषा में विदेशी अनुभवों को पिरों रहे हैं। मेरा मानना है कि कोई भी साहित्य प्रवासी नहीं होता। जिस साहित्य की आत्मा, भाव, संस्कार, विचार भारतीय हो, जिस साहित्य में एक सी समस्याएं हो, एक ही पीड़ा हो, समाज की एक सी प्रवंचनाएँ हों, वह साहित्य प्रवासी कैसे हो सकता है, हाँ वह दूर देश में बैठकर लिखा ज़रूर गया है, तो लेखक प्रवासी होता है, साहित्य नहीं। जब मैं प्रवासी लेखकों को पढ़ती हूँ तो लगता है अरे! यह विषय तो हमारे देश की परिस्थिति में मिलता है, भले ही शहर, लोग और स्थान के नाम अलग होते हैं। अर्चना पेन्यूली जी का उपन्यास "पाल की तीर्थ यात्रा" पढ़ते समय मुझे अपने देश के पहाड़ों और राजस्थान का स्मरण हो आया।

नीना पॉल की कहानी "खतरा" में इशिता के कहने पर "क्या अंग्रेज़ माँ अपनी बेटियों की चिंता नहीं करती....."

"क्यों नहीं करती..... माँ तो माँ है बेटा, चाहे किसी रंग या जाति की क्यों न हों" उसकी सास रोहेला का उत्तर यह सिद्ध करता है कि रिश्तों की कोई जाति, नसल, रंग या धर्म नहीं होता, और कहानी उपन्यास रिश्तों की ज़मीन पर ही पल्लवित होते हैं इसलिए साहित्य साहित्य होता है देशी या विदेशी नहीं होता। लंदन में पेशे से इंजीनियर डॉ. कृष्ण कुमार का साहित्य लेखन निरंतर फल फूल रहा है। उनकी कहानी "यह कैसी मान्यता" एक भावपूर्ण कहानी है। मान्यता हर देश की अलग हो

सकती है, पर जब प्रेम और विश्वास का पौधा लग जाता है तो वह किसी भी मान्यता से परे जाकर उसे तोड़ने के लिए यत्नशील हो जाता है। इसी तरह मॉरीशस के श्री रामदेव धुरंधर जी का कथा साहित्य बहुत विशाल है। अपनी मॉरीशस यात्रा के दौरान उनके आवास में जाने का सौभाग्य मिला था। उनके घर जाकर ये नहीं लगा कि हम भारत से दूर हैं। वही संस्कार, वही सजावट, वही तुलसी का पौधा, राम चरित मानस का पाठ, हनुमान का मंदिर और उस पर फहराती पताका—सच मन खुश हो गया। उनकी अनेक कृतियाँ पढ़ी हैं—चेहरों का आदमी, छोटी मछली बड़ी मछली, पूछो इस माटी से, विराट गली के वाशिंदे, जब कपड़ा उतरता है आदि अनेक पुस्तकें लिखी, पर हर कहानी हर व्यंग्य या उपन्यास पढ़कर लगता है मानो यह सब भारत की ही कहानी हैं।

मैबल डोव डैक्चे की कहानी (घाना कहानी) "फटा हुआ नकाब" में एक पत्नी का पति के प्रति अगाध प्रेम हमें भारतीय नारी के पति परायण प्रेम की याद दिलाता है।

जीवन है तो समस्याएँ हैं और उन्हीं समस्याओं के दर्द से जब साहित्यकार छटपटाता है तो उसकी यही छटपटाहट कहानी का कलेवर पहनकर सामने आती है। टपनी इन्हीं समस्याओं को, घुटन को, पीड़ा को और अंतद्र्वंद्व को प्रवासी कलमकारों ने कहानी के माध्यम से प्रकट किया है। उनकी कहानियों में अपने देश से दूर और अपने लोगों से दूर रहने की पीड़ा भी है तो जीवनयापन करने के लिए वहाँ रहने की मजबूरी भी है। जैसे प्राण शर्मा की कहानी 'पराया देश' अपने और पराये देश के अंतर को महसूस करने वाले प्रवासी की वेदना और विवशता को दर्शाती है। नस्लवाद, की समस्या से भी प्रवासी जूझते रहते हैं। नस्लवाद की बात को 'निर्मल वर्मा ने "त्रासद की एक रात" में बखूबी उठाया था। रामदेव धुरंधर ने अपनी कहानी "दुनिया को चुराने वाले" धर्म की आड़ में होने वाले भ्रष्टाचार को बताकर यह संदेश दिया कि विदेश में भी इस तरह का व्यापार फलफूल रहा है। इसके अलावा मास्को के अनिल जनविजय, लंदन से दिव्या माथुर, उषा राजे सक्सेना, तेजेंद्र शर्मा, उषा वर्मा, महावीर शर्मा, शैल अग्रवाल, कादंबरी मेहरा, अमेरिका से उषा प्रियंवदा, अभिरंजन, इला प्रसाद, सुधा ओम ढींगरा, केनेडा से सुमन कुमार घई, शैलजा सक्सेना, इदरीस आभा आदि ने बड़ी संवेदनशीलता और बारीकी से प्रवासी भारतीयों की समस्याओं को उकेरा है। शारजाह से निकलने वाली अभिव्यक्ति अनुभूति बेव पत्रिकाओं की संपादिका पूर्णिमा बर्मन का प्रवासी कहानी को योगदान अप्रतिम है। पूरे विश्व में फैले यह सभी कहानीकार मूलतः इस देश की मिट्टी से जुड़े हैं। 13 अगस्त 2011 की सेंसेक्स ब्यूरो की रिपोर्ट के अनुसार अमेरिकन आबादी का पंद्रह प्रतिशत गरीबी रेखा के नीचे है। प्रवासी कहानी अमेरिका की पृष्ठभूमि लिये हो, ब्रिटेन की या अरब देशों की, इस दारिद्र्य को

कहानीकार ने बड़ी संजीदगी से अपनी कहानी में पिरोया है। इतना अवश्य है कि यहाँ और वहाँ की गरीबी रेखा में फर्क है। अपना घर, अपना परिवार और अपना देश छोड़कर विदेश में प्रवासी की हैसियत से रहना, एक नए संसार का सृजन करना कोई आसान काम नहीं है, भले ही यह उच्च आकांक्षाओं को खाद पानी दे, मन की इच्छाओं को पुष्ट करे और आर्थिक समस्याओं को दूर करे पर प्रवासी को अनेक समस्याओं से रूबरू होना पड़ता है। इन्हीं बातों को प्रवासियों ने अपने लेखन में प्रमुखता से उकेरा है। किसी कहानी में तो हमारे देश की समस्याओ का प्रतिबिंब देखने को मिलता है। कृष्ण कुमार की कहानी हूबी में भावना से ओतप्रोत विश्वास को प्रस्तुत किया है। दिव्या माथुर की कहानी "कबाड़" पढ़कर भारतीय दादी की याद आ जाती है।

कृष्ण बिहारी की 'नातूर' अबू धाबी में बसे अफ़गान भाइयों की त्रासद समस्याओं और आकांक्षाओं का चित्रण लिए है। वह यहाँ के रंग ढंग पसंद नहीं करता और वापस लौटना चाहता है। लिव इन की समस्या अब भारत में भी पैर पसार रही है, लिव इन ने एकल माँ को जन्म दिया है और औरत बहुत तेज़ी से भाग रही है। हाफ मदर या हाफ फादर की समस्या ने बच्चों के लिए नई चुनौतियाँ खड़ी की हैं। "एकल माँ" कहानी लिव इन के बाद की त्रासदी को दर्शाती है। पर इस कहानी में यह साफ़ संदेश देने का प्रयास किया है कि आज स्त्री किसी भी परिस्थिति से मुकाबला कर सकती है। अपने हितों, भावनाओं, संवेदनाओं और सुरक्षा करने की क्षमता वह रखती है। अर्चना पेन्यूली की "बेघर" कहानी उस अनाथ बच्चे की मार्मिक कहानी है जो माँ बाप के तलाक और विवाह के मकड़जाल में अपने बचपन को खो देता है। विवाह करना और उसे निभाना आज हमारे समाज की बहुत बड़ी समस्या हो गयी है। यह समस्या धीरे-धीरे भारत में भी पैर पसार रही है। सामाजिक बंधन टूट रहे हैं संस्कारों की परिभाषा बदल रही है, रिश्ते आत्म-केंद्रित हो रहे हैं, लोग अतृप्त हैं और अनजान गंतव्य की तरफ भाग रहे हैं जिससे जीवन उलझता जा रहा है और समस्याएँ हर कदम पर मिल रही हैं। इन्हीं समस्याओं को प्रवासियों ने कहानी के माध्यम से कहने का प्रयास किया है। प्रवासी सामाजिक, प्रशासनिक, वैयक्तिक, संवैधानिक सभी समस्याओं का सामना कर रहा है। जो हम भुगतते हैं वही हमारी अभिव्यक्ति बन जाती है कि विदेशों में बहुत पैसा है इसलिए प्रवासी रिश्तेदार को लूटते जाओ। सुधा ओम ढींगरा की 'कौन सी ज़मीन अपनी' का मंजीत इसी मकड़जाल में फँसता चला जाता है और अंत में उसे अपनी जान बचाकर भागना पड़ता है।

मान लिया जाता है कि सभ्य देश में सिर्फ सुसंस्कृत लोग ही रहते हैं। पर दिव्या माथुर की 'खल्लास' इंग्लैंड की सुरक्षित ज़मीन पर रहने वाली असुरक्षित युवती की कहानी है। वहाँ भी समस्याओं का अंबार है। दिव्या माथुर की कहानी 'पंगा' में समस्या गढ्ढों भरी सड़क की है। कहानी 'ब्रिटेन की ट्रैफिक समस्या' के संदर्भ में वहाँ की पुलिस व्यवस्था पर प्रश्न चिह्न लगाती है। कई चौराहों पर न तो कैमरे हैं, न पुलिस। यह कहानी हमें भारत की व्यवस्था की याद दिलाती है। इला प्रसाद की

"मुआवजा" कहानी का नायक सड़क पार कर रहा था कि गाड़ी ऊपर से गुज़र गई। दोनों पैर कट गए पर मुआवजा नहीं मिला। वह कहता है—"ये साला न्यूयार्क है न, दुनिया में सबसे ज़्यादा करप्शन यहाँ है..... टेक्सी वाले उसी तरह घुमाते हैं बिल बनाने के लिए, जिस तरह अपनी दिल्ली, मुंबई में बेवकूफ बनाते हैं। सबसे मज़ेदार मुझे लक्ष्मीधर मालवीय की प्रवासी डायरी लगी। आजकल लक्ष्मीधर जी जापान के एक पहाड़ी गाँव क्योतो में रह रहे हैं। उनकी डायरी "अर्थस्य पुरुषो दासो" में उन्होंने जापानी तौर तरीकों का बहुत सटीक वर्णन किया है, और दूर के ढोल सुहावने वाली बात सिद्ध की है। उसमें भी उनकी एक पीड़ा है। प्रवासी साहित्यकारों की कृतियों की फ़ेहरिस्त बहुत लंबी है उसका आँकलन समय-समय पर होता रहेगा। कहने का सार यही है कि प्रवासी साहित्य में हमको वहाँ की झलक मिलती है तो कहीं अपने भारत की झलक भी प्रतिबिंबित होती है। कहीं पीड़ा है तो कहीं आकांक्षा के पल्लवित पुष्प भी हैं। ये आत्मीयता और बढ़ जाती है जब भाषा हिंदी होती है। हिंदी की ऊँचाई देने में प्रवासी साहित्यकारों का अप्रतिम योगदान है।

❑❑

हिंदी : रोमन लिपि में लेखन?

स्नेह ठकुर

आजकल हिंदी में रोमन लिपि की स्वीकार्यता का भीषण प्रश्न अपना मुँह बाए खड़ा हुआ भाषा और लिपि को चुनौती दे रहा है।

किसी भी देश काल की भाषा अपने वृहद समाज से प्रभावित होती है। समाज की विभिन्न विचारधाराएँ उसके लिए चुनौतियाँ प्रस्तावित करती हैं। मानव जीवन ही संघर्षमय है, चुनौतियों से भरा हुआ है। संघर्ष तो जीवन का सार है।

संघर्ष ज़िंदगी का सार है
सफलता की सीढ़ी है
कुछ भी नहीं क़ाबिले-हासिल
गर चुनौतियों के चक्रव्यूह से न निकले जीवन।
हीरा बिन तराशे चमकता नहीं
पॉलिश रत्न की बिन रगड़ होती नहीं
सोना बिन अग्नि निखरता नहीं
बिन धुने कपास रुई बनती नहीं
इंसान भी तब तलक रहता है अधूरा आदमी
जब तलक वह संघर्षों के दौर से गुज़रता नहीं।

भाषा समाज का दर्पण है तो वह उन चुनौतियों को कैसे न प्रतिबिंबित करेगी?

चुनौतियों का सामना करते हैं जो मुस्कुराकर
चुनौतियों के पहाड़ भी टूट जाते हैं उनसे टकराकर।

भाषा चुनौतियों के दौर से न निकले तो निखरेगी कैसे? भाषा में विभिन्न देश-काल के अनुरूप चुनौतियाँ तो आएँगी ही आएँगी पर साहित्यकार को नीर-क्षीर विवेकी हो इनकी मीमांसा करनी चाहिए।

साहित्यकार पर देशकाल की परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पड़ता है पर वह इन सबको स्वयं में पचा, अंतर में उनका विवेचन कर अपनी मनोदृष्टि से उसे प्रस्तुत करता है।

साहित्य साहित्यकार की दिमागी ऐय्याशी नहीं है। साहित्य में साहित्यकार की संपूर्ण विवेकधर्मिता, अनुभव, संवेदनशीलता, उसका संपूर्ण जीवन-यथार्थ प्रतिबिंबित होता है। साहित्य दु:ख-सुख, उत्थान-पतन, समस्या-समाधान की गाथा है।

आपका समाज, आपका रहन-सहन, आपकी आयु का विकास आपके व्यक्तित्व के विकास की एक ऐसी अवस्था है जो आपके व्यवहार में परिलक्षित होती है और होनी भी चाहिए। आप समाज से कटकर नहीं रह सकते। समाज का प्रभाव आप पर न पड़ना अस्वाभाविक है। आपके व्यक्तित्व के विकास की यह माँग है।

कोई भी साहित्यकार समाज में रहते हुए समाज की वर्तमान समस्याओं को जब तक परिलक्षित नहीं करेगा तब तक वह उस समाज का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। साहित्यकार समाज रूपी समुद्र में स्थापित प्रकाश-स्तंभ है। समाज भी अपने साहित्यकार से दिशा-निर्देश की अपेक्षा रखता है। समाज की माँग है कि साहित्यकार तात्कालिक परिस्थितियों का आकलन कर, उनका यथोचित मूल्यांकन कर, उससे ऊपर उठ, निरपेक्ष भाव से अपनी भाषा की रक्षा करते हुए अपने साहित्य का निर्माण करे और उस संवेदनशील साहित्य को संप्रेषित करने की क्षमता रखे।

संवेदनशीलता और संप्रेषणीयता साहित्य की सबसे बड़ी चुनौती है। संवेदनशीलता साहित्यकार का सबसे बड़ा गुण है। साहित्यकार में केवल अपने ही अनुभवों को लिखने की क्षमता के अलावा दूसरों के सुख-दु:ख को भी उसी शिद्दत से अनुभूत करके लिखने की क्षमता भी होनी चाहिए। अच्छे साहित्य की यह एक बहुत बड़ी चुनौती है और हमारा दायित्व है कि हम अपने साहित्य को संवेदनशीलता से संप्रेषित कर सकें।

हिंदी में रोमन लिपि की स्वीकार्यता जहाँ भाषा के लिए चुनौती है वहीं साहित्य के लिए भी है क्योंकि भाषा ही तो साहित्य का प्रस्तुतिकरण है। यदि रोमन लिपि प्रचलित हो प्रबलतम हो गई तो क्या हिंदी की देवनागरी लिपि का शनै:-शनै: लोप अवश्यंभावी नहीं हो जाएगा? और यदि लिपि गई तो क्या वह अपने साथ-साथ भाषा, साहित्य व संस्कृति को भी विस्मृति के रसातल में नहीं ले जाएगी?

आज जबकि देवनागरी लिपि की महत्ता सर्वव्यापी, विश्वव्यापी है, तो भारत उस हिंदी के लिए जिसे देवनागरी लिपि में लिखा जा रहा है, रोमन लिपि में लिखना क्यों आधुनिकता की निशानी समझ रहा है?

हिंदी विश्व-भाषा बनने के पथ पर अग्रसर है, इसमें कोई संदेह नहीं है। आठवें विश्व हिंदी सम्मलेन न्यूयॉर्क में, यू. एन. ए. के मुख्य सभागार में, उद्घाटन सत्र में, संयुक्त राष्ट्र के महासचिव श्री वान की मून के अधरों से निकले हिंदी के कुछ

वाक्यों ने तथा सभी भारतीय एवं प्रवासी भारतीयों के कंठों से निकली हिंदी ने उस महत्वपूर्ण स्थान में अपनी उपस्थिति का डंका बजा दिया था। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हिंदी के उद्घोष की शंख-ध्वनि गूँज उठी थी।

हिंदी के भूमंडलीकरण का साक्षी कैनेडा में भारत के प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी जी का तालियों की गड़गड़ाहट में दिया गया वक्तव्य है। अमेरिका में भी मेडीसन स्क्वैयर और यू. एन. हेतु हिंदी में दिए गए उनके वक्तव्य पर हुईं तालियों की अनुगूँज हिंदी के भूमंडलीकरण का प्रमाण है। अन्य देश व स्थान भी जहाँ-जहाँ भारत के प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी जी ने हिंदी की स्वर-लहरी लहराई है, भारतीय साहित्य-संस्कृति की वाहिनी हिंदी के प्रति प्रेम के साक्ष्य हैं।

"10वें विश्व हिंदी सम्मेलन" की चर्चाएँ भाषा की दृष्टि से सारगर्भित रहीं। यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन में कैनेडा से विशिष्ट अतिथि के रूप में आमंत्रित किया गया था और 10वें विश्व हिंदी सम्मेलन में "विश्व हिंदी सम्मान" से सम्मानित किया गया। तात्पर्य यह कि मैं दोनों सम्मेलनों की विषय-वस्तु की साक्षी रही।

हिंदी के इस भूमंडलीकरण के दौर में रोमन लिपि द्वारा उसके रास्ते में आने वाली उच्चारण संबंधी समस्यापूर्ण चुनौती पर विचार करना समीचीन होगा, विशेष रूप से विदेशों में हिंदी के परिप्रेक्ष्य में जहाँ हिंदी का ज्ञान सीमित है।

वर्तनी भाषा का अनुशासित आवर्तन है। हिंदी के शब्दों की लिपिबद्धता जब रोमन लिपि में की जाएगी तो इस अनुशासन का पालन संभव न होगा। क्योंकि सब अपने-अपने ढंग से शब्दों को लिखेंगे। भाषा लोक-व्यवहार के स्तर पर बोलचाल की हो या साधारण या विशिष्ट लेखन की, भाषा के एक मानक स्वरूप की आवश्यकता अवश्य होती है। रोमन लिपि का उपयोग लोग अपने-अपने हिसाब से, अपने-अपने उच्चारण के अनुरूप करेंगे क्योंकि उसका कोई अनुशासन या मानदंड तो है नहीं।

उच्चारण हमें कभी-कभी हास्यास्पद, अजीबोगरीब स्थिति में डाल देता है। बंगाली भाषी, उत्तर प्रदेश निवासी के घर भजन संध्या का आनंद उठा, उस आनंद की पुनरावृत्ति अपने घर करवाने की सोच विनम्र हो पड़ोसी को अपनी हिंदी में न्योता दे आता है कि आज हमारे घर 'भोजन' है परिवार सहित आइएगा। पड़ोसी भोजन करने पहुँचते हैं और वस्तुतः भूखे पेट न होंहि भजन गोपाला की स्थिति में पहुँच, भूख से पीड़ित अँतड़ियों को दबाते हुए पेट पकड़ कर बैठ जाते हैं। बंगाली मोशाय "भजन" को "भोजन" उच्चारित कर निमंत्रित कर रहे थे और उत्तर प्रदेशी महाशय अपनी समझ में उनके यहाँ "भजन" करने नहीं "भोजन" करने गए थे।

कुछ समय पहले एक पंजाबी भाषी भद्र, सद्भावी महिला ने मेरा हाथ बड़े प्यार से पकड़कर मुझसे कहा "मुझे आपका उपन्यास पढ़ने का बड़ा शोक है।" मैं अचंभित हो उन्हें देखती ही रह गई क्योंकि उनके द्वारा बहुत ही स्नेहपूर्वक पकड़ा हुआ

मेरा हाथ मुझे किसी भी स्थिति में उनकी शोक की अनुभूति से अभिसिंचित नहीं कर रहा था; कि उन्होंने फिर कहा, "सनेह जी, मैंने आपका उपन्यास 'कैकेयी चेतना-शिखा' पढ़ा। मुझे उसे पढ़ने का शोक है'।

लेखक को पाठक की हर प्रतिक्रिया शिरोधार्य होनी चाहिए। पाठक का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है, उसकी अपनी ग्रहणशीलता है, पाठक सदैव लेखक की भावना से ही संचालित हो, अनुप्राणित हो यह आवश्यक नहीं है।

यद्यपि कि साहित्यकार की सबसे बड़ी विशेषता संप्रेषणीयता ही है, तथापि साहित्यकार की हर कृति इतनी सौभाग्यशाली नहीं भी हो सकती है कि वह अपने उसी रूप में पाठक के मन-मस्तिष्क पर छा जाए जिस भावना को लेकर साहित्यकार ने उसे रचा है। लेखक के रूप में यह सब कुछ सैद्धांतिक रूप से जानते-समझते हुए भी, मानव स्वभावानुसार कुछ आहत हो, बिन सोचे-समझे मेरे मुँह से अनायास निकल पड़ा कि माफ़ कीजिएगा "कैकेयी चेतना-शिखा" उपन्यास का प्रकाशन के एक वर्ष बाद ही द्वितीय संस्करण निकलने से बहुत पहले ही उसे राष्ट्रपति भवन पुस्तकालय में रखा गया है। उसे साहित्य अकादमी, म. प्र. द्वारा अखिल भारतीय 'वीरसिंह देव' पुरस्कार से सम्मानित किया गया है; क्षमा चाहती हूँ कि आपको उसे पढ़ने पर शोक हुआ...' उन्होंने मेरी पूरी बात सुने बिना बीच में ही काटते हुए बड़े प्यार से मेरा हाथ थपथपाते हुए कहा, 'अजी बहनजी! मुझे पता है, मैं कह तो रही हूँ कि मुझे वह पढ़कर बड़ा अच्छा लगा। मुझे आपके उपन्यास पढ़ने का बहुत ही शोक है। मैं तो आपका उपन्यास "लोकनायक राम" भी बड़े शोक से पढ़ रही हूँ। सुना है कि आप सीता पर लिख रही हैं....श्रीरामप्रिया सीता.....' अब उनके शोक-शौक को मैं समझी।

जब 'भजन' और 'भोजन', 'शौक' और 'शोक' अपने ही देश के व्यक्तियों का उच्चारण गुदगुदाती गलतफ़हमी पैदा कर सकता है तो रोमन लिपि का अपनी-अपनी डफ़ली, अपना-अपना राग किसी बड़ी समस्या के गह्वर में हमें कैसे नहीं डालेगा? विशेष रूप से विदेशों में जहाँ की मूल भाषा हिंदी नहीं है, और जहाँ हम हिंदी-भाषा-साहित्य व भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार करना चाह रहे हैं। बोलचाल में आमने-सामने के संवाद की स्थिति में स्पष्टीकरण संभव है पर रोमन लिपि में शब्दों की एकरूपता का अभाव भ्रम उत्पन्न कर सकता है जिससे अर्थभेद हो सकता है।

शुद्ध भाषा लिखने-पढ़ने के लिए शुद्ध उच्चारण बहुत महत्वपूर्ण है। हिंदी के संदर्भ में तो यह कथन और भी सत्य है, क्योंकि हिंदी ध्वन्यात्मक भाषा है। हिंदी जिस प्रकार बोली जाती है, प्रायः उसी प्रकार लिखी भी जाती है। इसीलिए हिंदी लिखने-पढ़ने वालों के लिए इसका शुद्ध उच्चारण आवश्यक है। जो शुद्ध उच्चारण करेगा, वह शुद्ध लिखेगा भी।

हिंदी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है, और जैसा कि मैंने ऊपर कहा है कि यह ध्वन्यात्मक लिपि है। देवनागरी की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें जैसा लिखा जाता है वैसा ही बोला जाता है, जैसा बोला जाता है वैसा ही लिखा जाता है जबकि दूसरी

भाषाओं में यह बात नहीं है, अत: विशेषरूप से आज जब हिंदी की वैश्विक पहचान बन रही है, ऐसी स्थिति में अन्य भाषा-भाषियों के लिए देवनागरी लिपि में हिंदी सीखना सहज होगा।

इस दशा में एक और बात विचारणीय है, ध्यान देने योग्य है कि जब हिंदी की देवनागरी लिपि संसार की सर्वाधिक सर्वोत्तम वैज्ञानिक लिपि के रूप में हमें परंपरा से प्राप्त है तो फिर हम क्यों न इसका सदुपयोग करें। कंप्यूटर के इस युग में सार्वभौम लिपि के रूप में खरा उतर सकने का सामर्थ्य अभी तक केवल देवनागरी लिपि में ही है। सबसे अधिक शुद्धता के साथ सभी भाषाओं की ध्वनियों को व्यक्त करने की क्षमता इस लिपि में है। इस अक्षरात्मक लिपि की ध्वन्यात्मक विशेषता इसमें शब्दों को उनके उच्चारणों के ही अनुरूप लिपिबद्ध किए जा सकने का सामर्थ्य पैदा करती है, तो हम क्यों ऐसी शिखरोन्मुख सर्वोच्च श्रेणी की लिपि को त्याग कर हिंदी के लिए रोमन लिपि का प्रयोग करें? प्रगति की ओर बढ़े हुए अपने कदमों को हम अवनति की ओर क्यों घसीटना चाह रहे हैं? हमें वैज्ञानिक धरातल पर देवनागरी लिपि को आगे बढ़ाना है न कि रोमन लिपि को आगे लाकर अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारनी है?

एक बार रोमन लिपि चल गई, नई पीढ़ी में प्रबलतम प्रचलित हो गई, जैसा कि आशंका उठाई जा रही है, तो हर कोई भाषा को तोड़ेगा, मरोड़ेगा, उसका उच्चारण अपनी सुविधानुसार कर उसके रूप के साथ खिलवाड़ कर, अर्थ का अनर्थ कर देगा। अत: भाषा की शुद्धता हेतु हिंदी की देवनागरी लिपि की सुरक्षा अत्यावश्यक है। हमें हिंदी की जड़ सींचनी है न कि कुछ लोगों द्वारा रोमन लिपि की तथाकथित सुगमता की बातों में आकर हिंदी के पत्तों को सींच, केवल उसकी ऊपरी सतह पर थोड़ा-सा छिड़काव कर, उसकी जड़ को खोखला करना है।

आज न केवल यह बात महत्वपूर्ण है वरन् यह आज की अनिवार्यता भी है कि हम हिंदी और देवनागरी लिपि का गर्व और गौरव के साथ प्रयोग करें। यदि हमें अपनी भाषा हिंदी को जीवित रखना है तो उसका निरंतर देवनागरी लिपि में प्रयोग अति आवश्यक है।

मैं साथ ही यह भी कहना चाहूँगी कि हिंदी प्रचार-प्रसार एवं हिंदी व देवनागरी लिपि की रक्षा न केवल भारतवासियों का कर्तव्य व दायित्व है वरन् यह हम सब प्रवासी भारतीयों का भी कर्तव्य व दायित्व है। भाषा संस्कृति की वाहिनी है। भारतीयता, भारतीय संस्कृति को जीवित रखना है तो हिंदी एवं देवनागरी लिपि को जीवित रखना आवश्यक है। हिंदी का लोप हिंदी के प्रति हमारी हीन मानसिकता से होगा। हिंदी का लोप हिंदी के प्रति हमारी हीन भावना से होना अवश्यंभावी है।

हिंदी अनवरत प्रगति के पथ पर चलती रहे, देश-विदेश में उसका प्रचार-प्रसार दिन-दूना रात-चौगुना हो, उसका मार्ग कहीं भी, कभी भी अवरुद्ध न हो और वह अपने साहित्य द्वारा विश्व में भारतीय संस्कृति की ध्वजा फहराती रहे, यही शुभकामना है। यही शुभेच्छा है।

❑❑

उषा प्रियंवदा का 'आधा शहर'

डॉ. विजय शर्मा

उषा प्रियंवदा अपनी कहानियों में प्रवासी मन की उदासी को प्रस्तुत करती हैं। वे संस्कृतियों के टकराव, उससे उत्पन्न मानसिक संघर्ष को चित्रित करती हैं। उनकी स्त्रियाँ परंपरा और गैरपरंपरा के ऊहापोह में फ़ँसी रहती हैं। अक्सर वे विवाहेतर संबंधों वाला जीवन जीती हैं। अपनी एक कहानी 'कितना बड़ा झूठ' में भी वे यही दिखाती हैं। इस कहानी में किरन एक शादीशुदा पत्नी और माँ है। एक बार वह भारत से घूमकर अपने घर अमेरिका लौटती है तो पाती है कि उसके प्रेमी ने अपनी एक युवा छात्रा से शादी कर ली है। उसे धक्का लगता है मगर इस सदमे को वह चुपचाप पी जाती है। इसी दु:खद मन:स्थिति में वह अपना मेकअप करती है, अपनी मनपसंद साड़ी पहनती है और अपने पति तथा बच्चों के साथ एक भारतीय रेस्तराँ में खाने जाती है। उषा प्रियंवदा के पास एक अनोखी दृष्टि है जिसके तहत वे पात्रों की मन:स्थिति को पात्र के भीतर चल रही भावनाओं को आंतरिक संवाद के द्वारा व्यक्त करती हैं। उनके यहाँ अचानक ही संबंध स्थापित होते हैं खासकर सैक्सुअल संबंध। वे पुरुष सत्तात्मक दुनिया में अपने तरीके से अपने स्त्री पात्रों को खड़ा करती हैं। ये स्त्रियाँ साहसी हैं मगर खुल कर विद्रोह नहीं करती हैं।

उनकी कहानी 'आधा शहर' एक ऐसी ही साहसी स्त्री की कहानी है जो अपनी तथाकथित बदनामी से पूरी तौर पर परिचित है मगर जिंदगी अपनी तरह से जीती है। इला पंडित अमेरिका के एक विश्वविद्यालय में अंग्रेजी की प्राध्यापिका हैं। वह बहुत मन से अपना काम करती है मगर उसे स्थाई करने में तमाम लोग अड़चन डालते हैं। अड़चन डालने वाले वे लोग हैं जो उसे अकेला पाकर अपनी स्वार्थ सिद्धि करना चाहते हैं। वह ऐसे लोगों को मुँह नहीं लगाती है। जब ऐसे लोगों की दाल नहीं गलती है, वे उसके विषय में कुत्सित बातें फ़ैलाते हैं। ऐसे लोग न केवल उसकी बदनामी करते हैं वरन खुलेआम उसकी शारीरिक सुंदरता की गंदे तरीके से चर्चा करते हैं, "अरे राघव

साहब, क्या बॉडी है उसकी। साफ़ शफ़्फ़ाक झकाझक, एकदम संगमरमर, कहीं एक भी दाग़ या धब्बा नहीं, एक तिल तक नहीं।" इसकी सच्चाई कहानी के अंत में खुलती है जब इला राघव को बताती है कि बचपन में दीवाली पर सलवार में आग लग जाने से वह बुरी तरह जल गई थी और उसके पैर जल गए थे। उसके निशान अब तक हैं।

उसे स्थाई करने में आपत्ति के रूप में कहा जाता है कि उसका प्रकाशकीय पक्ष कमज़ोर है। अत: उसे लेख-पुस्तक लिखने और प्रकाशित करने की सलाह दी जाती है। इसी सिलसिले में वह दो साल के शैक्षणिक अवकाश पर गोवा आकर ठहरी हुई है। राघव को उसकी प्रगति की रपट तैयार करने के लिए, उससे साक्षात्कार करने के लिए गोवा भेजा गया है। वहाँ पहुँच कर उन्हें ज्ञात होता है कि इला विभाग से भेजे गए पत्रों को खोलती नहीं है, लिख रही है मगर विश्वविद्यालय की माँग के अनुरूप नहीं। राघव को लगता है, "यह ठीक नहीं है; उसे यह अमूल्य समय इस तरह नहीं गँवाना चाहिए—उसे पुस्तकालय में होना चाहिए। टाइपराइटर खटखटाना चाहिए, गंभीर पुस्तकें छापने वाले प्रकाशकों और यूनिवर्सिटी प्रेसों को चिट्ठियाँ लिखनी चाहिए।"

राघव शुरु से ही इला के प्रति एक खिंचाव अनुभव करते हैं। इला के पति अभय को वे अपने छोटे भाई की तरह मानते थे। वह उनके दोस्त का छोटा भाई था। जब अभय की समुद्र में डूब कर मृत्यु हो जाती है तो वे इला की सहायता करते हैं। उनके मन में एक ओर उसके लिए पितृवत भाव है दूसरी ओर वे दूसरों से उसकी चरित्रहीनता की बातें सुन-सुन कर अपने लिए भी उसे उपलब्ध मान बैठते हैं। उनकी पत्नी भी उसे अच्छी स्त्री नहीं मानती है। उसका जेठ भी उसे ललचाई नजर से देखता है। वे भी बाद में लोकलाज के भय से उससे दूरी बनाए रखते हैं। विभाग में सीनियर होने के कारण उन्हें अपनी इज़्ज़त-साख की बड़ी चिंता है। मुझे बांग्ला फ़िल्म 'पुनःश्च' की याद आ रही है जहाँ नायक (सौमित्र चटर्जी) एक प्रसिद्ध लेखक है, उसे अपनी इज़्ज़त की चिंता है। वह बिना किसी को बताए चुपचाप नायिका (रूपा गांगुली) से मिलने आता है। उसके अनुसार उसने एक बड़ा रिस्क लिया है। नायिका को दूसरों की चिंता नहीं है। वह कहती है, 'मुझे रिस्क नहीं चाहिए, मुझे परिवार चाहिए।'

उषा प्रियंवदा की कहानी 'आधा शहर' में विभाग के लोग एक अन्य स्त्री को स्थाई करना चाहते हैं, यह भी राघव को अच्छा नहीं लगता है। कभी वे उसके प्रति ममत्व से भर जाते हैं कभी दूसरी भावना जोर मारने लगती है। कहानी की ये पंक्तियाँ उनके मन के ऊहापोह को दर्शाती हैं, "मेरे मन में उसके लिए एकदम बड़ा ममत्व उमड़ा और मेरे अंदर चाहत हुई कि मैं उसे सीने से लगा लूँ।" तत्काल वे डर जाते हैं। थोड़ी देर बाद इला कुछ कहकर उन्हें इस मानसिक स्थिति से उबार लेती है, "मुझे खुशी हुई कि मेरी क्षणिक दुर्बलता भंग हो गई। इस छोटी-सी भावुकता का भयंकर परिणाम हो सकता था, यह मुझे अच्छी तरह मालूम था।" वे अपनी बीवी को कैसा लगेगा इस नाते भी खुद को रोकते हैं। मतलब यह कि यदि बीवी और लोकलाज की चिंता न होती तो इला के प्रति अपने मनोभावों को व्यक्त करने में उन्हें कोई संकोच न

होता।

जब उन्हें पता चलता है कि इला ने अपने और उनके ठहरने के लिए एक ही स्थान पर व्यवस्था की है तो उन्हें उसकी नीयत पर शक होता है वे मान बैठते हैं कि इला अपनी नौकरी स्थाई करवाने के लिए उनका इस्तेमाल करना चाहती है। मगर इला स्पष्ट कहती है कि उसकी मेहमाननवाजी को रिश्वत के रूप में न लिया जाए। वे अपनी रिश्वत न लेने की बात की पुष्टि करते हैं। इला उन पर तिक्त व्यंग्य करते हुए कहती है, "तुम हर प्रकार की रिश्वत से ऊपर हो, कि तुम शुद्ध और प्रबुद्ध हो, कि छब्बीस साल में शुभा के अतिरिक्त तुमने किसी को आँख उठा कर भी नहीं देखा है। फ़िर दूसरे कमरे में मेरे रहने से फ़र्क ही क्या पड़ता है?"

राघव दक्षिण एशिया के हैं अत: यूनिवर्सिटी की ओर से भारत भेजा गया है। गोवा में इला और हैदराबाद में कादंबरी का साक्षात्कार लेकर किसी एक को स्थाई करना है। कादंबरी ने पीएच्. डी. पूरी कर ली है। विश्वविद्यालय में कादंबरी की देह के ढलेपन के आगे उन्हें इला का चुस्त शरीर देखने की इच्छा है। वे सोचते हैं कि यदि वह स्थाई न हुई तो कितना सूना हो जाएगा शहर और विश्वविद्यालय। समाज में अधिकतर लोगों के लिए स्त्री के काम की नहीं उसके शरीर का मूल्य है।

इला अपने बारे में दूसरों की राय जानती है। अत: वह एक स्थान पर साथ रहने की, राघव के आपत्ति करने पर कहती है, "मैं जा रही हूँ। हालाँकि आपको या आपकी रेपूटेशन को मुझसे कोई खतरा नहीं था, मगर हमेशा की तरह आप ठीक और सूझ-बूझ की बातें कहते हैं। आपको अपनी छवि का ख्याल रखना है। शार्क मछली की तरह आदमखोर इला के साथ एक ही कॉटेज में आप कैसे रह सकते हैं।"

वे जब अपने अध्यक्ष-पद स्वीकारने का कारण उसकी सहायता करना बताते हैं तो वह बहुत बेबाक तरीके से राघव से पूछती है कि आखीरकार जफ़र या गिरिराज को यह पद मिलने से उसे नुकसान क्यों होता? आखीरकार उनके अनुसार वे दोनों ही इला के प्रेमी रह चुके हैं। वह बताती है, "जो लोग घूम-घूम कर मेरे खिलाफ़ प्रचार करते हैं, उन्हें कभी अपने पास फ़टकने भी नहीं दिया। यह उनका आहत पुरुषत्व ही है. .." राघव जफ़र और गिरिराज को सम्मानित लोग बताते हैं। इस पर इला उत्तेजित होकर उनसे प्रतिप्रश्न करती है, "जो आदमी अच्छा अध्यापक या स्कॉलर हो, वह लुच्चा या शोहदा नहीं हो सकता यह कहाँ लिखा है? वह थोड़ी-थोड़ी उत्तेजित हो चली थी, "फ़िर मैं यूनिवर्सिटी में नहीं पढ़ाती? फिर मैं ही चरित्रहीन क्यों कहलाई जाती..."

इस कहानी में उषा प्रियंवदा इला के मुँह से कई महत्वपूर्ण प्रश्न करवाती हैं। वह पूछती है क्या वह औरत है इसीलिए उसके लिए भिन्न पैमाने हैं? वह अकेली है इसीलिए जिसके मन में जो आएगा वह कहेगा? वह सत्रह साल में घर से भाग गई इसीलिए चरित्रहीन कहलाएगी? उसके पति ने डूब कर आत्महत्या की इसकी जिम्मेदार क्या वह है? क्या इसीलिए आधा शहर उसे बदचलन कहेगा? राघव जब कहते हैं कि आधे शहर को प्रेमी बना कर रखना इला का अपना विकल्प है तो वह बहुत उत्तेजित और व्यथित होकर कहती है, "कुछ सुन रहे हो कि तुम्हारी आवाज़ में कितनी हिकारत है? एक पुरुष पचास स्त्रियों से प्रेम करता फ़िरता है, उसे तुम्हारा

समाज कुछ नहीं कहता है? एक स्त्री अगर अकेली, सम्मान से जीना चाहती है तो उसके चारों तरफ़ गिद्ध नोच खाने को तैयार रहते हैं?" इला की आवाज़ तेज़ हो गई...।

वह आत्मसम्मान के साथ जीना चाहती है। मगर लोग उसके इसी रूप को सहन नहीं कर सकते हैं, "इतनी हिंसा...इतना प्रतिकार...मुझे मिटा देने की इतनी तिलमिलाहट, कितने दयनीय हैं वे तुम्हारे मित्र...यूनिवर्सिटी के वे जाने-माने लोग।" वह यूनिवर्सिटी की नौकरी की परवाह नहीं करती है। वह समाज के द्वारा सौंपी हुई भूमिका को नहीं स्वीकारती है। उसे नकार कर अपनी मर्जी से जीना चाहती है इसीलिए प्रोफ़ेसरशिप से इस्तीफ़ा दे देती है तथा स्वतंत्र लेखन करके अपना जीवन व्यतीत करना चाहती है। हाँ, यह भी सच है कि आधा शहर उसका प्रेमी बनने का दावा करता है उसमें राघव भी कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी तरह शामिल है। वह राघव को बताती है कि उसके मन में उनके लिए क्या भाव हैं, "एक बात कहूँ, एकदम सच-सच। आपके लिए मेरे मन में इतना आदर, इतना स्नेह है कि आप कभी जान नहीं सकेंगे। पहले मैं आपको अमृत भाई की तरह ही बदमाश समझती थी, पर अभय की मौत के बाद आपने जो सहारा दिया, और बिना मुझसे कुछ चाहे हुए..."

'आधा शहर' कहानी में उषा प्रियंवदा प्रेम, घृणा, सहानुभूति, आकर्षण-विकर्षण, ईर्ष्या-द्वेष, ममता, लगाव आदि मानव मन की विभिन्न भावनाओं-संवेदनाओं को चित्रित करती हैं। वे दिखाती हैं कि व्यक्ति अपना जीवन अपनी तरह से जी सकता है यदि वह साहस करे तो। इला ने ऐसा ही साहसपूर्ण निर्णय कर लिया है। वह राघव को बताती है, "मैं कुछ नया करना चाहती हूँ। अपनी जिंदगी नए सिरे से शुरु करना चाहती हूँ। अतीत को एकदम धोकर- नई स्लेट की तरह। अब तक इधर-उधर भटकती रही। बिना चप्पू की नाव की तरह। अब स्थिर बैठूँगी। इतने लंबे एकांत और एकाकी रहकर मैंने खूब आत्मविश्लेषण किया है।" इला के चरित्र में हम उषा जी की कही बात की सार्थकता देख सकते हैं।

उषा प्रियंवदा एक साक्षात्कार में कहती हैं, "स्त्री चरित्र मेरे यहाँ धीरे-धीरे शक्तिशाली होता है। इसमें उनके अपने निर्णयों और परिस्थितियों की भूमिका होती हैं परिवार और समाज ने उन्हें एक भूमिका दे रखी है।" ज़रूरी नहीं कि वे इस भूमिका को सिर झुका कर स्वीकार कर लें, कभी वे इसे स्वीकार करती हैं, कभी इनसे विद्रोह करके अपने लिए अपनी भूमिका स्वयं चुनती हैं।

❑❑

प्रवासी साहित्यकार सुरेशचंद्र शुक्ल 'शरद आलोक' की काव्यकृति—

('गंगा से ग्लोमा तक' : भारतीय-नॉर्वेजीय संस्कृति का अपूर्व संगम)

डॉ. महेश 'दिवाकर'

"बाँसुरी की जिंदगी से सीखले, ऐ आदमी!
जख़्म सीने में भले हों गुनगुनाना चाहिए॥"

किस कवि की कविता की ये पंक्तियाँ प्रवासी भारतीय साहित्यकार **श्री सुरेशचंद्र शुक्ल** '**शरद आलोक**' के व्यक्तित्व पर सटीक उतरती हैं।

10 फरवरी, 1954 को **भारत** के प्रख्यात प्रांत '**उत्तर प्रदेश**' की राजधानी **लखनऊ** में जन्मे **श्री सुरेशचंद्र शुक्ल** विगत 30 वर्षों से **नॉर्वे** की राजधानी **ओस्लो** में रहते हैं। उनकी ख्याति '**शरद आलोक**' के रूप में साहित्य जगत में व्याप्त है। आपने भारत स्थित लखनऊ विश्वविद्यालय से स्नातक की उपाधि प्राप्त की है और ओस्लो विश्वविद्यालय से पत्रकारिता, नॉर्वेजीय भाषा और साहित्य में उच्च शैक्षिक उपाधियाँ अर्जित की हैं। यही नहीं, यूरोपीय देशों में स्कैन्डिनेवियन भाषा, साहित्य और पत्रकारिता की शिक्षा लेने वाले कदाचित वे प्रथम भारतीय हैं। **नॉर्वे** में उनका स्थायी निवास पता है—P.B.31,Veitvet, 0518, Oslo, Norway.

बहुआयामी काव्य प्रतिभा के धनी कवि, पत्रकार और लेखक श्री '**शरद आलोक**' नार्वे में '**स्पाइल**' नामक पत्रिका के संपादक भी हैं और ओस्लो से निकलने वाले एक बड़े साप्ताहिक पत्र '**गुरूद्दालेन**' के उप संपादक भी। मिलनसार, आत्मीय, हँसमुख स्वभाव वाले '**शरद आलोक**' के व्यक्तित्व में सहजता, सरलता और सादगी जैसे दुर्लभ एवं श्रेष्ठ मानवीय गुण हैं।

भावयित्री एवं कारयित्री काव्य प्रतिभा के अनूठे संगम—श्री 'शरद आलोक' ने हिंदी काव्य के क्षेत्र में विविध विद्याश: कई कृतियाँ विश्व वाङ्मय को दी हैं। इनमें '**वेदना**' (1976); '**रजनी**' (1984); '**नंगे पाँवों का सुख**' (1986); '**दीप जो बुझते नहीं**' (1988); '**संभावनाओं की तलाश**' (1993); '**नीड़ में फँसे पंख**' (1999) **(कविता-संग्रह)** और '**अर्धरात्रि का सूरज**' (1996) तथा '**सरहदों के**

पीछे' (2011) उनके दो **कहानी संग्रह** हैं। इनके अतिरिक्त उनकी कई कृतियाँ **'अनुवाद'** और **'संपादन'** के क्षेत्र में भी आई हैं।

'गंगा से ग्लोमा तक' उनका सन् 2010 के अंत में प्रकाशित काव्य-संग्रह है, जो विश्व पुस्तक प्रकाशन, नई दिल्ली-63 ने प्रकाशित किया है। 120 पृष्ठों के कलेवर वाली इस काव्य कृति का मूल्य 125/- मात्र है।

भारतीय साहित्यकार **डॉ. बालशौरी रेड्डी** (चेन्नै) ने इसके प्रकाशन पर अपनी शुभकामनाएँ देते हुए **'शरद आलोक'** को **'भारतीय सांस्कृतिक दूत'**[1] की संज्ञा से विभूषित किया है। **'राष्ट्र किंकर', दिल्ली** के संपादक **डॉ. विनोद बब्बर** ने **'शरद आलोक'** को नॉर्वे में **'भारतीय गुलाब'** की संज्ञा प्रदान की है तथा **'गंगा से ग्लोमा तक'** काव्य कृति को **दो देशों की संस्कृति का संगम** भी कहा है।[2]

यही नहीं, लखनऊ (उ. प्र.) के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार **डॉ. रामाश्रय सविता** ने **'गंगा से ग्लोमा तक'** की **भावभूमि** शीर्षक से प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए इसे दो देशों की संस्कृतियों का संगम स्थल माना है।[3] स्वयं साहित्यकार **'शरद आलोक'** ने **'गंगा से ग्लोमा तक'** काव्य कृति के **'आमुख'** में लिखा है—**"...मेरा उद्देश्य दो देशों—मातृभूमि 'भारत' और प्रवासी देश नॉर्वे के मध्य सांस्कृतिक सेतु का जो कार्य मैं गत 30 वर्षों से कर रहा हूँ, उसे शब्द देना है। × × × यदि अपने को श्रीकृष्ण और श्रीराम की संतान मानूँ तो भारत मेरे लिए देवकी माँ और नॉर्वे मेरी यशोदा माँ है।"**[4] वस्तुतः 'शरद आलोक' का उपर्युक्त सहज वक्तव्य डॉ. बालशौरि रेड्डी, डॉ. बिनोद बब्बर और डॉ. रामाश्रय सविता के कथनों की संपुष्टि करता है। वस्तुतः इन साहित्यकारों के सरल कथन 'शरद आलोक' को काव्य के क्षेत्र में एक असाधारण व्यक्तित्व के रूप में निरूपित करने हेतु यथेष्ट हैं।

काव्य-संवेदना की दृष्टि से **'गंगा से ग्लोमा तक'** की रचनाएँ तीन उपखंडों में समाहित हैं—'गंगा', 'ग्लोमा' और 'संगम'। 'गंगा' शीर्षक में 'शरद आलोक' की 19 कविताएँ हैं, 'ग्लोमा' के अंतर्गत 12 कविताएँ और 'संगम' में 23 कविताएँ हैं अर्थात् कुल 54 कविताएँ 'गंगा से ग्लोमा तक' के कलेवर में संजोयी गई हैं।

'गंगा से ग्लोमा तक' की रचनाओं में भारत और नॉर्वेजीय संस्कृति को प्रमुख रूप से उकेरा गया है। इन रचनाओं में प्रकृति, पर्यावरण, देश प्रेम, राजनीति, अशिक्षा, यायावरी, आध्यात्मिकता, गरीबी, बेरोजगारी, स्वतंत्रता-समता, सहअस्तित्व, अंतरराष्ट्रीय शांति, आतंकवाद, जातीय व सांप्रदायिक वैमनस्य, दलित उत्पीड़न, अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार, दुराचार, अज्ञान, बेमेल विवाह, बालकों के प्रति चिंता, वृद्धों के प्रति सम्मान, भिक्षावृत्ति, भूख, साहित्यकार का दायित्व, दीन-दुर्बल असहाय लोगों के प्रति दयाभाव, जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण, शोर प्रदूषण, सांस्कृतिक प्रदूषण, त्योहारों की उपादेयता, कार्य की 'महत्ता', सद्भाव, मूल्यहीनता आदि बिंदुओं को अपनी संवेदना

का आधार बनाते हुए एक समग्र विश्व परिवार अर्थात् **वसुधैव कुटुंबकम्** की भावना की प्रतिष्ठा कवि शरद आलोक ने करनी चाही है। वे समग्रतः एक ऐसे विश्व परिवार का निर्माण करना चाहते हैं, जहाँ परस्पर प्यार हो, सद्भाव हो, किंतु भेद भाव का नाम नहीं हो, पारस्परिक सौहार्द्र जो सत्य और अहिंसा, प्यार और स्वतंत्रता की मूल भित्तियों पर खड़ा हो। इसीलिए 'शरद आलोक' ऐसे विश्व के निर्माण में बाधक 'अज्ञान रूपी अंधकार' को हटाकर ज्ञान का दीप जलाना चाहते हैं। '**ज्ञान के दीप जलाते चलो**' नामक उनकी कविता में यही भाव समाहित है–

"सबसे बड़ा मानव धर्म है
जीवन में सबसे बड़ा कर्म है
न कोई छोटा-बड़ा है यहाँ,
सभी बराबर यही मर्म है॥
× × × ×
पग-पग में बिछे काँटे जहाँ,
रास्ते से उनको हटाते चलो।
छाया अँधेरा देखो जहाँ,
ज्ञान के दीपक जलाते चलो॥"[5]

इस कविता में कवि हृदय की मार्मिक संवेदना, उच्च मानवीय मूल्य समाहित हैं। शरद आलोक की यही अकेली रचना उन्हें समकालीन प्रवासी भारतीय साहित्यकारों में गौरवपूर्ण स्थान देने हेतु पर्याप्त है। इस रचना की एक-एक पंक्ति गहन संवेदना को आत्मसात किए है। इस रचना में दिए हुए बिंदुओं को ही यदि व्यवहार में ले लिया जाये, तो एक सुंदर, स्वस्थ और समग्र मानवता से युक्त कल्याणकारी विश्व की संरचना सहज ही हो जायेगी! इसी संवेदना की अन्य रचनाएँ '**अंधकार में दीप अनेकों**' और '**शिक्षा के दीप जलाओ**' भी हैं। कवि का आशावादी दृष्टिकोण देखें–

"राम राज्य आया ही समझो
मिशन, दृष्टि कर्मठता होगी,
मन में सृजन पिपासा होगी
बनकर दीप तेज फैलाना।
मन-मंदिर में दीप जलाना॥"[6]

आज भारत ही नहीं, समग्र विश्व के लिए आतंकवाद कैंसर की तरह लाइलाज बीमारी बन गई है। कवि इसे जड़ से खत्म कर देना चाहता है, क्योंकि यह सुंदर एवं स्वस्थ और प्रेम एवं सहानुभूति से भरे विश्व के निर्माण में घोर बाधक है। '**शांति के**

दीप जलाओ बंधु!' शीर्षक कविता में 'शरद आलोक' आतंकवाद के खात्मे के लिए सभी का आह्वान करते हुए कहते हैं–

"गांधी के देश में
हिंसा का तांडव बंद करो
अपनी माता के दूध की खातिर
आतंकी हमला ख़त्म करो।
× × × ×
जिनके घरों में न जले हों चूल्हे,
उनको दो रोटी और प्रेम,
घायल, पीड़ित हों जहाँ-जहाँ
उन्हें लगाओ मरहम बंधु!
अपने कदम बढ़ाओ, बंधु!
शांति के दीप जलाओ, बंधु!"[7]

इसी संवेदना पर आधारित हैं '**युग पुरुष गांधी से**'[8], '**समय की शिला पर**'[9], **उठाओ हाथ में मशाल**'[10] कविताएँ।

आज जिधर देखो, पर्यावरण पर गहरा खतरा मँडरा रहा है। विविध प्रकार के प्रदूषण ने मानव-जीवन को दुरूह बना दिया है। जल प्रदूषण, वायु-प्रदूषण, शोर प्रदूषण और अपसंस्कृति का प्रदूषण तो मानव को समाप्त कर देने पर तुला है। '**सड़क पर पर्यावरण देवी**'[11], '**लखनऊ में सर्दी है**'[12] आदि कविताओं में 'शरद आलोक' की पर्यावरण संबंधी चिंताएँ मर्मभेदी हैं।

'शरद आलोक' में हिंदी और हिंदुस्तान के प्रति अनन्य प्रेम है। वे हिंदी और हिंदुस्तान' की सुरभि से समग्र विश्व को सुगंधित कर देना चाहते हैं। '**अंचल से अंतरिक्ष तक हिंदी**'[13] **और** '**स्वदेश प्रेम**'[14], '**जीवन में पुण्य कमाएँ**'[15], '**उज्जैन की प्रभा**'[16], '**लखनऊ की चाशनी कहाँ गई।**'[17], '**भूला-बिसरा अमृतसर**'[18] आदि उनके देश-प्रेम को अभिव्यक्ति देती रचनाएँ हैं। यथा–'**स्वदेश प्रेम**' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ देखें–

"रोम-रोम में बसता है
अनुपम यह देश हमारा।
जिसकी मधुमय यादों में
पुलकित तन-मन हो सारा॥
× × × ×

जब मातृभूमि जाता हूँ
है नव स्फूर्ति भर जाती।
प्रेरक स्रोत माँ मेरी,
संग-संग मेरे आती॥"[19]

और—

अपने देश में सब कुछ रखा
ज्ञान और विज्ञान
लौटो अपना देश बुलाता
छोड़ो प्रवास का ध्यान॥"[20]

'शरद आलोक' ने राजनीतिक-विद्रूपता-अवसरवाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद, भ्रष्टाचार और शोषण को लेकर भी इस संग्रह में कई कविताएँ, दी हैं। ये हैं—'**राजनीति और लेखनी**'[21], '**भेद भाव मिटाओ बंधु।**'[22] और '**अमेरिका, खुली हवा में**'[23] आदि में राजनीतिक प्रदूषण पर कुठाराघात किया है। '**राजनीति और लेखनी**' शीर्षक कविता से ये पंक्तियाँ देखें—

"राजनीति तो समझ आती नहीं,
प्रेम के गीत वह गाती नहीं,
राजनीति व्यक्त करने के लिए
लेखनी-सा अस्त्र दूजा है नहीं।"[24]

और—

"गांधी-सी मशाल जलाओ
राजनीति से सेवा-भाव से
पहले हृदय में दीप जलाओ।"[25]

वस्तुतः कवि राजनीति में गांधी जी की विचारधारा का प्रबल समर्थक है जिसके द्वारा राजनीतिक क्षेत्र से प्रदूषण को समाप्त किया जा सकता है।

कवि मानव जीवन में समता, समानता, न्याय, सह अस्तित्व, स्वतंत्रता जैसे नए मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा का समर्थक है, '**आकलन**' नामक रचना में कवि का यही व्यापक दृष्टिकोण देखा जा सकता है—

"समानता नहीं हो,
वहाँ न्याय नहीं है,
मानवता जहाँ नहीं,
वह धर्म ही नहीं है।"[26]

नारी के प्रति कवि के मन में असीम सम्मान का भाव है, तभी तो कवि कहता है–

"नारी को धन समझकर
युवतियों को पीटते हैं।
दहेजों के बहाने
मानव को लूटते हैं।
जिसको पिलाया दूध
वह नाग बन गये हैं।
कोख अपनी माँ की
बदनाम कर रहे हैं।"[27]

कवि विगत 30 वर्षों से अधिक से नॉर्वे में रह रहा है। उसने अनेकशः यूरोपीय देशों की यात्रा की है। नॉर्वे की संस्कृति, सभ्यता और भाषा व साहित्य के प्रति उसके मन में श्रद्धा और प्रेम का भाव निहित है। उसकी ऐसी रचनाओं में उल्लेखनीय है–**'प्रवासी युवती का पत्र नॉर्वे के नाम'**[28], **'आकेर नदी के तट पर'**[29], **'बेरोजगारों का दर्द'**[30], **'तुम भी आओ ओस्लो की सैर पर'**[31], **'बर्फीला मौसम'**[32], **'शरदोत्सव'**[33] आदि रचनाएँ नॉर्वे के प्राकृतिक सौंदर्य के भी दर्शन कराती हैं।

कवि के मन में प्रकृति के प्रति भी असीम प्यार है। प्राकृतिक सौंदर्य को देखकर उसका मन खिंचा चला जाता है। मन अभिभूत हो जाता है। भारत और नॉर्वे के प्राकृतिक स्थल उसके रोम-रोम को रोमांचित करते हैं। कवि के प्रकृति प्रेम की रचना **'आकुल वसंत'** का यह स्थल देखें–

"महुआ महके
फूल उठे आमों के बौर
खिलते हैं कचनार और कनेर
पीले-पीले सरसों के फूलों ने
खेतों के पीले किए हाथ बंधु॥"[34]

और– **"ओ! वसंत**
तुम्हारा नहीं है जवाब
बर्फीला मौसम,
बिहँसते गुलाब।"[35]

इसी प्रकार– **"बरखा की लेकर बारात,**
डोली उठाए मेघा कहार,
बदरा गरजे, बिजुरी चमके,
रिमझिम-रिमझिम फुहार
दादुर लगाए गुहार।"[36]

'**शरदोत्सव**' नामक कविता में प्रकृति का एक अनन्य चित्र देखें–

"चहुँ ओर बर्फ़बारी होती
तुहिन कणों से भर जाता है
घाटी, पर्वत मालाओं पर
चहुँ ओर उजाला भर जाता है।"[37]

संक्षेप में, कविवर 'शरद आलोक' ने अपनी रचनाओं में प्रकृति के अनेक मनोरम चित्र अंकित किए हैं। प्रकृति अपने विविध रूपों में उनके काव्य की प्रेरिका बनकर आई है। कहीं वह आलंबन रूप में आयी है, तो कहीं उद्दीपन रूप में और कहीं उसका मानवीकरण रूप मन को लुभाता है। हाँ, कवि ने प्रकृति के मनोरम चित्रों को ही अधिक प्रस्तुत किया है। प्रकृति के रौद्र अथवा वीभत्स रूप को 'शरद आलोक' ने प्रस्तुत नहीं किया है।

'शरद आलोक' ने समकालीन परिवेश को भी यथार्थ अभिव्यक्ति दी है। यथा '**सड़क पर विचरते देवदूत**' नामक रचना की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

"खींचते ठेलों के पहियों में
चीथड़ों से बँधी धुरी
बादलों के साथ-साथ दौड़ते
विश्वास की लिए गगरी
खुले मुख, जिह्वा कर रही नर्तन
मनुष्य समझता जीवन रेगिस्तान
मीन-सा श्वांस-श्वांस चल रहा
दौड़ते बच्चों की कतार से
जन्म ले रहा मनुष्य और भविष्य।"[38]

इसी प्रकार '**यह वह सूरज नहीं**' रचना में आज के जीवन का यथार्थ भी देखें–

"ये अनगिनत सूरज
(बालक-बालिकाएँ)
जो निर्धन देशों में
नंगे पाँवों सड़कों की गर्म देह पर
भीषण वर्षा में टूटी छतों के नीचे
जाड़े में ठिठुरते हुए
हँसते, गाते, रोते, चिल्लाते
दिन में समाज को
ऊष्मा से बचाते हुए
रात का पहरा देते हैं।"[39]

इसी प्रकार, '**नई दस्तक**' नामक रचना में कवि ने समकालीन यथार्थ को उजागर करने के साथ-साथ आम आदमी का आह्वान भी किया है कि वे परिवर्तन के लिए आगे आएँ–

"नया विद्रोही
बजा, उठा बिगुल
पुनः धर्म-पथ पर
एक नयी आज़ादी का
शंखनाद आज
मौन बैठे रचनाकार
दल से दल दल में?
कानून जब ढीला हो
शासन अस्वस्थ बदल दो
चुनो ईमानदार नेतृत्व।"[41]

'**नई दस्तक**' आदि से लेकर अंत तक एक क्रांतिकारी नई कविता है जो हमें शोषण, अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार के विरुद्ध एक जुट होकर खड़े हो जाने और युग परिवर्तन की प्रेरणा देती है। 'शरद आलोक', ऐसी रचनाओं के सृजन के लिए सदैव स्मरण किए जाएँगे।

कुल मिलाकर, '**गंगा से ग्लोमा तक**' की समग्र रचनाएँ वैश्विक क्रांति की रचनाएँ हैं। कवि ने उन तमाम बिंदुओं को भी अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति दी है, जिनके कारण आदर्श परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व-संरचना की भावना धूमिल होती जा रही है। आम आदमी की आज़ादी का सपना चकनाचूर होता जा रहा है। आतंकवाद, नस्लवाद, सांप्रदायिक वितंडावाद, पूँजीवादी और साम्यवादी कलह आदि विसंगतियाँ विश्व मानवता के रक्त को चूस रही हैं जिसके कारण अखंड वैश्विक शांति का सपना केवल सपना ही बनकर रह गया है। ऐसे में 'शरद आलोक' जैसे प्रवासी भारतीय साहित्यकार की रचनाएँ मन को धैर्य और विश्वास की डोर से बाँधती प्रतीत होती हैं और एक सुंदर एवं स्वस्थ विश्व की संरचना का संदेश सुनाती हैं।

अस्तु '**गंगा से ग्लोमा तक**' की रचनाएँ भावपक्षीय दृष्टि से बहुआयामी सफल तथा प्रभावी रचनाएँ हैं। कवि ने अपनी अनुभूतियों को संप्रेषित करने हेतु आम बोलचाल की हिंदी भाषा को चुना है जिसमें यथा स्थान तत्सम्, तद्भव और देशज शब्दावली ने उपस्थित होकर उनके अभिव्यक्ति कौशल को चार-चाँद लगा दिए हैं। उनकी इन रचनाओं में भाषा एवं शिल्पगत सरलता, सहजता, प्रभविष्णुता, सरसता, ओज, प्रसाद, माधुर्य, चित्रात्मकता, प्रतीकात्मकता, बिंबात्मकता और आलंकारिकता के गुण विद्यमान हैं। अपनी भाषा को प्रभावी बनाने के लिए उन्होंने लोकोक्तियों,

कहावतों और मुहावरों का भी यथास्थान सहज एवं स्वाभाविक प्रयोग किया है। भाषा उनके भावों की अनुगामिनी बनकर आयी है। अलंकारों और प्रतीकों के पीछे वे दौड़े नहीं हैं, अपितु अनेकशः शब्दालंकार और अर्थालंकार अनायास उनकी रचनाओं में आकर शामिल हो गये हैं। उनका बिंबविधान और प्रतीक विधान वैविध्यपूर्ण है। कुल मिलाकर 'शरद आलोक' ने अपनी काव्यभाषा को वह स्वरूप प्रदान किया है, जिसके कारण ये रचनाएँ सहज संप्रेषित हो गयी हैं। नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षरों—अज्ञेय, मुक्तिबोध, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, धूमिल और नागार्जुन की श्रेणी में उनके रचनाकार को रखना संगत होगा। निस्संदेह, 'शरद आलोक' यथानामः तथागुण को चरितार्थ करने वाले महान रचनाकार हैं। हिंदी साहित्य में उनका योगदान सदैव अमर रहेगा। अभी वे निरंतर काव्य-सृजन में रत हैं और भारतीय संस्कृति की पताका को पाश्चात्य जगत में लहराते हुए प्रेरणा के स्रोत बने हैं। उनमें अपार संभावनाएँ छुपी हैं जिनको अभी आलोकित होना है। एक प्रवासी भारतीय साहित्यकार और पत्रकार के रूप में हम उनकी स्वस्थ दीर्घायु की प्रार्थना माँ सरस्वती से करते हैं।

❑❑

संदर्भ :

1. 'गंगा से ग्लोमा तक'; पृ. 11
2. उपरिवत्; पृ. 12
3. उपरिवत्; पृ. 13
4. उपरिवत्; पृ. 8
5. उपरिवत्; पृ. 79
6. उपरिवत्; पृ. 84
7. उपरिवत्; पृ. 92
8. उपरिवत्; पृ. 93
9. उपरिवत्; पृ. 98
10. उपरिवत्; पृ. 48
11. उपरिवत्; पृ. 20
12. उपरिवत्; पृ. 36
13. उपरिवत्; पृ. 70
14. उपरिवत्; पृ. 102
15. उपरिवत्; पृ. 107
22. उपरिवत्; पृ. 45
23. उपरिवत्; पृ. 61
24. उपरिवत्; पृ. 28
25. उपरिवत्; पृ. 46
26. उपरिवत्; पृ. 51
27. उपरिवत्; पृ. 51-52
28. उपरिवत्; पृ. 55
29. उपरिवत्; पृ. 57
30. उपरिवत्; पृ. 59
31. उपरिवत्; पृ. 73
32. उपरिवत्; पृ. 66
33. उपरिवत्; पृ. 69
34. उपरिवत्; पृ. 17
35. उपरिवत्; पृ. 67
36. उपरिवत्; पृ. 83

16. उपरिवत्; पृ. 43
17. उपरिवत्; पृ. 34
18. उपरिवत्; पृ. 33
19. उपरिवत्; पृ. 102
20. उपरिवत्; पृ. 88
21. उपरिवत्; पृ. 28
37. उपरिवत्; पृ. 69
38. उपरिवत्; पृ. 18
39. उपरिवत्; पृ. 23
40. उपरिवत्; पृ. 112
41. उपरिवत्; पृ. 114

पुस्तक प्राप्ति का पता—

Suresh Chandra Shukla 'Sharad Alok'
Cheif Editor—'SPEILE'
Grevlingveien 2G, 0595 Oslo
Norwey.

प्रो. हरिशंकर आदेश रचित 'निर्वाण' : महाकाव्य के निकष पर

डॉ. कृष्णगोपाल मिश्र

बहुआयामी प्रतिभा के धनी प्रो. हरिशंकर तीन सौ से अधिक विविध विधाओं का सृजन करने वाले साहित्यकार का नाम है। जो चार दशक से अधिक अपने जीवन के महत्वपूर्ण वर्ष विदेश की विभिन्न देशों की धरती पर व्यतीत करने वाले **प्रवासी भारतीय** बन गए हैं। प्रवासी भारतीय के रूप में वे ऐसे प्रथम साहित्यकार हैं, जिन्होंने साहित्य-सृजन के क्षेत्र में न केवल कीर्तिमान अर्जित किया है, अपितु भारतीय संस्कृति, साहित्य और ललित कला की त्रिवेणी से विदेश धरती को आप्यायित कर दिया है।

प्रवासी भारतीय साहित्यकार के रूप में वे ऐसे प्रथम महाकवि भी हैं, जिन्होंने हिंदी साहित्य को एक नहीं, चार महाकाव्य उपहार में दिए हैं; ये हैं—'**शकुंतला**', '**महारानी दमयंती**' और '**निर्वाण**'। यही नहीं वे '**रघुवंश शिरोमणि पुरुषोत्तम राम**' महाकाव्य के सृजन में रत हैं। उनकी सृजनात्मक उपलब्धियों की सूची इस ग्रंथ के अंत में दी हुई है।

सुकवि प्रो. हरिशंकर आदेश की संघ: प्रकाशित कृति '**निर्वाण**' बुद्धकाव्य-परंपरा की नवीनतम रचना है। बुद्धकाव्य **महाकवि अश्वघोष** बुद्धकाव्य के प्रथम प्रणेता हैं। उनका प्रख्यात महाकाव्य '**बुद्धचरितम्**' पर्वतीय बुद्धकाव्य परंपरा के लिए प्रमुख उपजीव्य काव्य बना है। इसके अतिरिक्त बुद्धचरितम् पर आधारित उनकी अन्य कृतियाँ 'वज्रसूचि उपनिषद', 'चंडी स्तोत्र', 'सुत्रालंकार', 'कल्पनालंकृतिका', 'महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र' और 'राष्ट्रपाल' शीर्षकों से मिलती हैं किंतु जैसी ख्याति और लोकप्रियता उनकी महाकाव्यकृति '**बुद्धचरितम्**' को मिली है, वैसी अन्य किसी को प्राप्त नहीं हुई। शताब्दियों पूर्व **अश्वघोष** ने साहित्य में जिस बुद्धकाव्य परंपरा का सूत्रपात किया वह उनके अनंतर उत्तरोत्तर विकसित होती रही। सम्राट कनिष्क के समय में एक अन्य कवि मातृचेट ने 'महाराज कणिक लेख' और 'वर्णार्हवर्ण स्तोत्र' रचनाकार बुद्ध काव्य की परंपरा को नयी गति प्रदान की। संस्कृत के उपरांत 'पालि' भाषा में महात्मा बुद्ध के कृतित्व पर अनेक ग्रंथ रचे गये जिनमें से

'त्रिपिटक' बौद्ध धर्म के उपदेशों का मूल आधार बने। 'प्राकृत' की 'धम्मपद' रचना भी बौद्ध धर्म का मुख्य आधार ग्रंथ रही। 'अपभ्रंश-साहित्य' में सिद्धों ने बौद्ध-धर्मावलंबियों के लिए महत्वपूर्ण धार्मिक साहित्य रचा। इस प्रकार संस्कृत की पर्वतीय भाषाओं (पालि, प्राकृत और अपभ्रंश) में बौद्धकाव्य परंपरा का साहित्य धार्मिक सिद्धांतों-मान्यताओं के विवेचन में व्यस्त रहा। 'बुद्धचरितम्' का काव्य-सौंदर्य इन कृतियों में प्रवेश नहीं पा सका। हिंदी साहित्य में भी वीरगाथा काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक साहित्य में बुद्ध-काव्य परंपरा की धारा अत्यंत मंद गति से प्रवाहित रही। 'गीत गोविंद', 'रामचरितमानस' आदि ग्रंथों में यत्र-तत्र बुद्धदेव का स्पष्ट उल्लेख हुआ किंतु परिस्थितिजन्य कारणों से बुद्धकाव्य-परंपरा अवरुद्ध सी रही। इस लंबी अवधि में साहित्य ने दूसरे अश्वघोष से साक्षात्कार नहीं कराया है जो कि महात्मा बुद्ध के वंदनीय व्यक्तित्व और कृतित्व को साहित्य-पट पर पुनः अंकित करता। यह उत्साहवर्धक तथ्य है कि बीसवीं शताब्दी में डॉ. भीमराव अंबेडकर और महात्मा गांधी के प्रभाव से राजनीति में बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का पुनरुत्थान हुआ तथा हिंदी साहित्यकारों ने 'बुद्धकाव्य-परंपरा' के प्रणयन में रुचि ली। अंग्रेजी कवि 'सर एडमिन अर्नाल्ड' की महाकाव्य कृति 'द लाईट आफ एशिया' भी हिंदी कवियों के लिए प्रेरणा स्रोत बनी और हिंदी में बीसवीं शताब्दी में बुद्धकाव्य-परंपरा की धारा तीव्रगति से प्रवाहित हुई।

प्रकाशन की दृष्टि से हिंदी में बुद्धकाव्य परंपरा का विकास **मैथिलीशरण गुप्त** कृत '**यशोधरा**' (1932) से होता है। इसके अनंतर **अनूप शर्मा** कृत '**सिद्धार्थ**' (1937), **उमाशंकर जोशी** कृत '**बाल राहुल**' (1968), **जगदीश कुमार** कृत '**निर्वाण**' (1969), **रामानंद त्रिवेदी शास्त्री** कृत '**मृगबाद**' (1972), **राजेंद्र मिश्र** कृत '**गृहत्याग**' (1977), **पं. हरिलाल शर्मा 'नीरव'** कृत '**सत्यरथी**' (1978), **रमेशचंद्र गौड़** कृत '**शाक्य**' (1984), **डॉ. जगदीश गुप्त** कृत '**गोपा गौतम**' (1984), '**आचार्य रामचंद्र शुक्ल**' कृत '**बुद्धचरित**' (1985), **डॉ. विनोद चंद्र पांडेय** कृत '**भगवान बुद्ध**' (1986), **डॉ. जगदीश गुप्त 'बोधिवृक्ष'** (1987), **श्री कृष्णराय हृदयेश** कृत '**महा प्रकाश**' (1989), **उमेश शास्त्री** कृत '**अपराजिता गौतमी**' (1992), **डॉ. कृष्ण गोपाल मिश्र** कृत '**युग-संदेश**' (1999) और **सत्य प्रकाश नंदा 'आस'** कृत '**बुद्ध महापरिनिर्वाण**' नामक प्रबंधकाव्य कृतियाँ प्राप्त होती हैं। इन सभी रचनाओं में भगवान बुद्ध के जीवन वृत्त और विचार दर्शन को रेखांकित किया गया है। '**निर्वाण**' इस परंपरा की संघः प्रकाशित (प्रकाशन वर्ष 2008) नवीनतम रचना है और उपयुक्त समस्त कृतियों में विशेषतः महत्वपूर्ण है, क्योंकि इस प्रबंध रचना में कवि ने न केवल महात्मा बुद्ध के संपूर्ण जीवन वृत्त को प्रस्तुत किया है अपितु उनके विचारों को भी समसामयिक संदर्भों में व्याख्यायित किया है। प्रबंध-वक्रता, जीवन दर्शन, प्रसंग-निरूपण, पात्र-चित्रण आदि अन्य अनेक दृष्टियों से भी बुद्ध काव्य परंपरा की अन्य प्रबंध कृतियों की तुलना में '**निर्वाण**' विशिष्ट है। इसलिए समीक्षणीय भी है।

शताब्दियों-पूर्व भारतीय साहित्य में संस्कृत के काव्याचार्यों ने महाकाव्य के

संदर्भ में जिन लक्षणों का निर्देश किया था वे स्वातंत्र्योतर युगीन काव्य-परिदृश्य में नयी कविता के परंपरा-विरोधी आंदोलन के प्रभाव से यथावत स्वीकृत नहीं रहे। स्वंतत्रता से पूर्व रचित 'कामायनी', 'साकेत', 'उर्वशी' आदि मान्य प्रबंध कृतियों में भी परंपरा से युक्त परिवर्तन-संपन्न नवीनता का आग्रह मिलता है। यह आग्रह नयी कविता से संबंधित आंदोलनों में विशेषत: पुष्ट होकर नये प्रबंध-शिल्प का आधार बना है और बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में रची प्रबंध रचनाओं में व्यावहारिक धरातल पर पुष्ट हुआ है। '**निर्वाण**' में भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। अत: '**निर्वाण**' के महाकाव्य को महाकाव्य की परंपरागत रुढ़-मान्यताओं की कसौटी पर परखने के स्थान पर समकालीन प्रबंध-परंपरा के नये प्रतिमानों में परिक्षित किया जाना अधिक युक्ति युक्त है। नये प्रबंध-शिल्प के प्रतिमानों की कसौटी पर यह रचना अधिकांशत: सफल भी है।

संस्कृत-काव्यशास्त्र और उससे प्रभावित हिंदी काव्यशास्त्र की रीतिकालीन अवधारणाओं का अनुशीलन करते हुए डॉ. नगेंद्र ने पाश्चात्य-काव्यशास्त्र के साथ उनकी तर्क संगत तुलना करते हुए महाकाव्य के **पाँच तत्व** निर्देशित किये हैं।

उदात्त-कथानक, उदात्त कार्य (उद्देश्य), उदात्त-चरित्र, उदात्त-भाव, एवं उदात्त-शैली। '**उदात्त**' से डॉ. नगेंद्र का अभिप्राय 'महानता' से है। वास्तव में संस्कृत के काव्याचार्य भी महाकाव्य में महानता का सन्निवेश प्रत्येक स्तर पर चाहते थे और इस प्रकार महाकाव्य के माध्यम से समाज को परिष्कृत रुचियों से समृद्ध करना चाहते थे। मूलत: यही प्रयोजन आज भी महाकाव्य की प्रेरणा बना हुआ है और रहेगा। इसलिए युगीन प्रभाव जनित नवीनता का आग्रह नव-प्रस्तुति के साथ पारंपरिक सूत्रों का संवहन करता है। कथानक, कार्य, चरित्र, भाव एवं शिल्प में औदात्य का सन्निवेश इस तथ्य का साक्षी है। '**निर्वाण**' आदि अनेक नए महाकाव्य व्यावहारिक स्तर पर उक्त उदात्त की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील मिलते हैं।

परंपरागत काव्य-शास्त्रों की दृष्टि से सुकवि प्रो. हरिशंकर आदेश के इस महाकाव्य का कथानक प्रख्यात कोटि का है क्योंकि भगवान बुद्ध की कथा विश्व-विश्रुत है। यद्यपि कवि ने विभिन्न कथा प्रसंगों में आवश्यकतानुसार कल्पना का भी आश्रय लिया है किंतु कथावस्तु उत्पाघ, मिश्रित कोटि में वर्गीकृत नहीं की जा सकती, क्योंकि कथानक में वर्णित सभी प्रसंग पुराणेतिहास सम्मत हैं। लोक बुद्ध को विष्णु के अवतार के रूप में मान्यता मिली है। साथ ही उनकी मृत्यु सामान्य मनुष्य की मृत्यु की भाँति दर्शायी जाती है। इसलिए समीक्ष्य रचना का **कथानक दिव्य-मत्र्य** कोटि का है।

समीक्ष्य-महाकाव्य का कथानक अत्यंक विस्तृत फलक पर प्रसूत है। कवि ने कथावस्तु को **पूर्वखंड, महाखंड** एवं **उत्तराखंड** शीर्षक से तीन पादों में प्रस्तुत किया है। **पूर्व खंड** से अवतरण, शैशव, कैशोर्य, प्रेमानुभूति, शुभ-विवाह, मिलन महोत्सव, निमित चतुष्टयी और महाभिनिष्क्रमण नामक आठ सर्ग हैं—जिनमें गौतमबुद्ध के जन्म से लेकर गृहत्याग तक की घटनाएँ वर्णित हुई हैं। **मध्य-खंड** कथानक के

कृतित्व पर केंद्रित रहा है। इसमें कपिलवस्तु: प्रभंजन के पश्चात् सधाना, राहुल, यशोधरा के आँसू, वनदेवी और निर्वाण प्राप्ति नामक **छः सर्ग** (क्रमांक नौ से चौदह तक) हैं। **तृतीय पाद 'उत्तर खंड'** में बौद्ध मत का अभ्युदय, विलक्षण भिक्षु, धर्म-साम्राज्य और परिनिर्वाण शीर्षकों से बुद्ध के जीवन की उत्तरकालिक घटनाओं का वर्णन हुआ है। कथानक में लोक विख्यात पारंपरिक घटनाओं का पुनराख्यान हुआ है। कथानक महाकाव्योचित औदात्य से पूर्ण है। उसमें स्थान, काल और प्रभाव की अन्वितियाँ निर्देश हैं। कवि ने कथानक को विस्तृत होने के बावजूद व्यवस्थित रखा है तथा घटनाओं को विश्रृंखलित नहीं होने दिया है। यह वैशिष्ट्य समीक्ष्य काव्य की विशिष्ट उपलब्धि है।

समीक्ष्य महाकाव्य में **चरित्रांकन** के स्तर पर उदात्त-तत्व सर्वत्र सुलभ हैं। रचयिता ने विदूषक कवि एवं गोपा की सखियों के नामकरण में कल्पना का आश्रय लिया है। अन्य सभी पात्र इतिहास-सम्मत हैं और कथानक के विकास में अपूर्ण योगदान हैं। अत: अन्य पात्र उनके चरित्र को रेखांकित करने, महत्वपूर्ण बनाने की दृष्टि से रचे गये हैं। कथानक का चरित्रांकन उनकी लोक-स्वीकृत छवि के अनुरूप है। बुद्ध को अवतार रूप में मान्य करने की दृष्टि से कवि ने महर्षि असित द्वारा उनकी पद वंदना दर्शाई है—

इतना कह शिशु के चरणों में,
ऋषि ने मस्तक विनत किया।
पुनः पुनः कर पूर्ण दंडवत्
ऋषि ने शिशु को नमन किया।

सिद्धार्थ की द्वंद्वग्रस्त मनोदशा और वैचारिक दृढ़ता को कवि ने उनके चरित्रांकन में अत्यंत सफलतापूर्वक अंकित किया है। इस संदर्भ में गृहत्याग के पूर्व सिद्धार्थ का चिंतन इस प्रकार द्रष्टव्य है—

लगे सोचने दृढ़ होकर सिद्धार्थ अचानक।
उगने लगे तुरंत हृदय में भाव भयानक॥
यह तन-मन मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ।
पुनरपि मैं क्यों बनता इसका अनुगामी हूँ॥
पाना है यदि मर्म सत्य को जगना होगा।
माया के असत्य बंधन को तजना होगा॥
× × × ×
एक बार निश्चय कर आगे पाँव बढ़ाओ।
मिथ्या भोग-विलास तजो, सच्चा सुख पाओ॥

कवि श्री आदेश ने **चरित्रांकन** में दर्शन का सन्निवेश करके चरित्र-प्रस्तुति

को अधिक जीवंत बनाने का प्रयत्न किया है। यशोधरा के चरित्र-चित्रण में इस तथ्य की पुष्टि इस प्रकार मिलती है—

यशोधरा है यश की धरा,
यश तृष्णा को उपजता॥
हो जाती अवरुद्ध प्रगति,
जो इस धारा में बह जाता॥

कवि के इस अनुभव-जनित जीवन-दर्शन की अनदेखी नहीं की जा सकती है। वस्तुत: यशकामी व्यक्ति यश प्राप्ति के लिए निरंतर लोकेषणाओं से घिरा रहता है और लौकिक लाभों की प्राप्ति के मकड़ जाल में उलझता जाता है। ऐसी स्थिति में मुक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसलिए गौतम को यशोधरा का त्याग करना पड़ता है। चरित्रांकन में यह प्रतीकात्मक महाकवि की काव्यकला का उत्कर्ष प्रकट करती है। महाराज शुद्धोदन, महारानी महामाया, प्रजावती, छंदक, यशोधरा, राहुल, बिंबसार, सुजता, अंगुलिमाल आदि अनेक महत्वपूर्ण पात्रों के वैशिष्ट्य को प्रकट करती है। यह प्रबंध काव्य रचना चरित्रांकन की दृष्टि से सफल है।

समीक्ष्य महाकाव्य कृति में कथा प्रसंगों के अनुरूप **विविध रसों** की प्रस्तुति हुई है। यह प्रस्तुति महाकाव्य की गरिमा के अनुरूप है। भावों के निरूपण में कवि को अद्‌भुत सफलता मिली है। यद्‌यपि समीक्ष्य-काव्य का कथानायक शृंगारी भावों से प्राय: मुक्त रहा है तथापि कवि ने महाकाव्य के नवरस के प्रयोग की रूढ़ि का निर्वाह करने के लिए सिद्‌धार्थ और यशोधरा के मिलन में संयोग शृंगार का प्रसंग निर्मित कर लिया है। सिद्‌धार्थ की निम्नांकित भावाभिव्यक्ति में संयोग शृंगार की अंतर्दशा 'संभाषण' इस प्रकार द्रष्टव्य है—

मुझे मिल गई तुम मानो संसार मिल गया।
एक निमिष में सुख का पारावार मिल गया॥

× × × ×

जब से मेरे जीवन में प्रिय! तुम आई हो,
मेरे हृदय व्योम पर तुम ही तुम छाई हो॥
तीनों जग मिल गए, सृष्टि का सार मिल गया॥

नवरस के आग्रह से प्रस्तुत ऐसे शृंगारिक स्थल काव्य में अधिक नहीं हैं, किंतु करुण रस के प्रवाह से संपूर्ण महाकाव्य सर्वत्र अभिषिक्त है। गौतम की प्रव्रज्या पर न केवल छंदक अपितु कथक तथा करुणा का आलंबन बन जाता है—

मूक कथक की न स्थिर थी चेतना।
सह सका उर और अधिक न वेदना॥
झर रहे थे अश्रु टप-टप अनवरत।
था खड़ा वह सुन रहा सब मूर्तिवत॥

वियोग शृंगार और वियोग से वात्सल्य के स्थल इस महाकाव्य में अत्यंत मार्मिक हैं। कहीं-कहीं पर शृंगार और वात्सल्य की भाव शबलता देखते ही बनती है। यशोधरा के निम्नांकित कथन में सिद्धार्थ के प्रति रति-भाव और राहुल के प्रति वात्सल्य एक साथ प्रस्तुत हुए हैं–

उगा आलोक नूतन,
दग्ध कर शोक-उपवन।
जगा वात्सल्य बरसों।
पुत्र बन प्रेम के घन।
तुम्हारी माँ सतत् सुत।
नियति के कर छली हैं॥

यशोधरा के विरह-वर्णन में द्वादश सर्ग में कवि ने प्रकृति के उद्दीपक चित्र अंकित करने में अद्भुत सफलता पायी है। इस सर्ग में 'बारहमासा' की परंपरा का सफल निर्वाह हुआ है। महात्मा बुद्ध के दार्शनिक चिंतन एवं उपदेशों में शांत रस का सफल प्रयोग मिलता है। इस प्रकार रचना भावगत औदात्य से समृद्ध है।

समीक्ष्य महाकाव्य का **शिल्प-विधान** भी उदात्त तत्वों से परिपूर्ण है। काव्य की भाषा तत्सम शब्द प्रधान खड़ी बोली है।

कवि ने भाषा को सहज सुबोध बनाने का भरसक प्रयत्न किया है। उसमें अलंकारिकता, स्वाभाविकता, चित्रात्मकता, लाक्षणिकता आदि विशेषताएँ सहज सुलभ हैं। निम्नांकित पंक्तियों में दृश्य बिंब की प्रभावोत्पादकता अद्भुत है–

है शांत वस्त्र मंडल,
कर-ग्रस्त है कमंडल।
परिधान हुताशन स,
अलंकर अति समुज्ज्वल।
वीणा बजा रहा है॥

इन पंक्तियों में एक भी विदेशी भाषा-भाषी शब्द नहीं है। सामाजिक प्रयोग संतुलित है। उपमा और विरोधाभास की प्रस्तुति स्वाभाविक रूप से हुई है तथा गीत शैली अभिधात्मक होकर भी काव्य सौंदर्य, शिल्पगत, वैविध्य, बिंबात्मक साफल्य, प्रतीकात्मक प्रयोग, अलंकारात्मक सहजता तथा छंदगत विविधता ने इस रचना के शिल्प-विधान को अपूर्व गरिमा प्रदान की है। अतएव शिल्पगत उदात्तता की दृष्टि से भी रचना सफल है। प्रारंभ में **मंगलाचरण** और अंत में **शुभकामना** युक्त प्रस्तुति ने समीक्ष्य काव्य को भारतीय महाकाव्यों की महान परंपरा में प्रतिष्ठित किया है। **समग्रतः यह काव्यकृति उदात्त कथानक, उदात्त कार्य और उदात्त शिल्प की**

दृष्टि से श्रेष्ठतम महाकाव्यों की परंपरा में स्थापनीय है। विरल होती जा रही प्रबंधकाव्य परंपरा की सृजनशीलता के नूतन गति देने में यह कृति प्रेरणास्पद रहेगी। अतएव इसका महत्व स्वत: सिद्ध है।

❑❑

शोध-संदर्भ :

1. कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ-पृष्ठ 16
2. निर्वाण-पृष्ठ 30
3. निर्वाण-पृष्ठ 300-301
4. निर्वाण-पृष्ठ 301
5. निर्वाण-पृष्ठ 181
6. निर्वाण-पृष्ठ 323
7. निर्वाण-पृष्ठ 447
8. निर्वाण-पृष्ठ 240

लेखकों के नाम और पते

1. **सुषम बेदी**—404, West 116 Street, apt. 33, New York NY-10027
   Email - susham.bedi@gmail.com
2. **देवी नागरानी**—322, Harmon cove, secaucus NJ 07094, United States.
   Email - dnangrani@gmail.com
3. **शशि पाधा**—1080, Sunset Hill RD, Reston, Virginia, US 20190
   Email - shashipadha@gmail.com
4. **कमल किशोर गोयनका**—ए–98, अशोक विहार, फेज–1, दिल्ली–110052
   Email - kkgoyanka@gmail.com
5. **सुधा ओम ढींगरा**—101, Guymon court, Morrisville, NC-27560, USA
   Email - sudhadrishti@gmail.com/ ceddlt@yahoo.com
6. **भावना सक्सेना**—64, इंद्रप्रस्थ कॉलोनी, सेक्टर 30-33, फरीदाबाद (हरियाणा)
   Email - bhawnasaxena@hotmail. com
7. **विमलेश कांति वर्मा**—73, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली–110034
   Email - vimleshkanti@gmail.com
8. **अभिनव**—101 सी, डी.डी.ए., जनता फ्लैट, शिवाजी इन्क्लेव एक्सटेंशन, समीप शिवाजी कॉलेज, राजा गार्डन, नई दिल्ली–110027
   Email - abhinav15081988@gmail.com
9. **कविता वाचक्नवी**—ह्यूटन, अमेरिका
   Email - kavita.vachaknavee@ gmail.com
10. **अनीता कपूर**—3248, Bruce Drive, Fremont, CA-94539 (USA)
    Email - anitakapoor.us@gmail.com
11. **रमेश जोशी**—आइडिया टावर के सामने, दुर्गादास कॉलोनी, कृषि उपज मंडी के पास, सीकर–332001 (राजस्थान)
    Email - joshikavirai@gmail.com
12. **सुरेशचंद्र शुक्ल 'शरद आलोक'**—Chief Editor, 'SPEILE', Grevling-veien 2 G, 0595, OSLO, Norway
    Email - speil.nett@gmail.com
13. **सुनीता पाहूजा**—सहायक निदेशक (रा.भा.), केंद्रीय अनुवाद ब्यूरो, गृह मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली
    Email - sunitapahuja23@gmail.com

14. **हरजेंद्र चौधरी**—ई–1 / 32, सेक्टर–7, रोहिणी, नई दिल्ली– 110085
Email - visproharwar@yahoo.com

15. **करुणा पांडेय**—26/5, इन्कम टैक्स कॉलोनी, जी.बी. ब्लॉक, साल्ट लेक, कोलकाता–97
Email - karunapande15@gmail.com

16. **स्नेह ठाकुर**—16, Revlis Crescent, Toronto, Ont. M1V-1E9, Canada
Email - sneh.thakore@rogers.com / dr.snehthakore@gmail.com

17. **विजय शर्मा**—5वाँ तल, 326, न्यू सीताराम डेरा, एग्रीको, जमेशपुर–831009
Email - vijshain@gmail.com

18. **महेश 'दिवाकर'**—सरस्वती भवन, मिलन विहार, मुरादाबाद (उ.प्र.)
Email - mcdiwakar@gmail.com

19. **कृष्ण गोपाल मिश्र**—विभागाध्यक्ष (हिंदी विभाग), शासकीय महाविद्यालय, भोपाल (मध्य प्रदेश)
Email - drkgmishra49@gmail.com

20. **राकेश पांडेय**—5/23, गीता कॉलोनी, नई दिल्ली–110031
Email - pravasisansar@gmail.com

रचनाकारों से निवेदन

प्रवासी जगत में प्रकाशन हेतु पत्रिका की प्रकृति के अनुरूप केवल प्रवासी साहित्य, भाषा, समाज एवं प्रवासी साहित्यकारों से संबंधित रचनाएँ आमंत्रित हैं। कृपया सभी लेखक अपनी रचनाएँ केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा स्वीकृत मानक हिंदी, यूनिकोड में टाइप कर pravasijagat.khsagra17@gmail.com पर भेजने का कष्ट करें। दूसरे अन्य फॉण्ट से लेख भेजने पर उसके साथ फॉण्ट भी भेजें। अस्वीकृत रचनाएँ लौटाई नहीं जाएँगी।

'प्रवासी जगत' सदस्यता फार्म

नाम .....

डाक का पता .....

.....

.....

सदस्यता शुल्क : व्यक्तिगत – प्रति अंक ₹ 40 / –, वार्षिक – ₹ 150 / –
संस्थागत – वार्षिक शुल्क ₹ 250 / –
(डाक व्यय प्रति अंक ₹ 35 / – तथा वार्षिक ₹ 100 / – अतिरिक्त होगा)
विदेशों में प्रति अंक $ 10, वार्षिक $ 40

डी.डी./मनीआर्डर का विवरण .....

दूरभाष ..... ईमेल .....

निर्धारित सदस्यता शुल्क का डी.डी./मनीऑर्डर सचिव, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा के नाम से देय है। अधिक जानकारी के लिए संपर्क करें–प्रकाशन विभाग, केंद्रीय हिंदी संस्थान, हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा–282005 (उत्तर प्रदेश), भारत

फोन/फैक्स : 0562–2530684, मोबाइल नं. 9456010035

ई–मेल : pravasijagat.khsagra17@gmail.com

संस्थान प्रकाशन

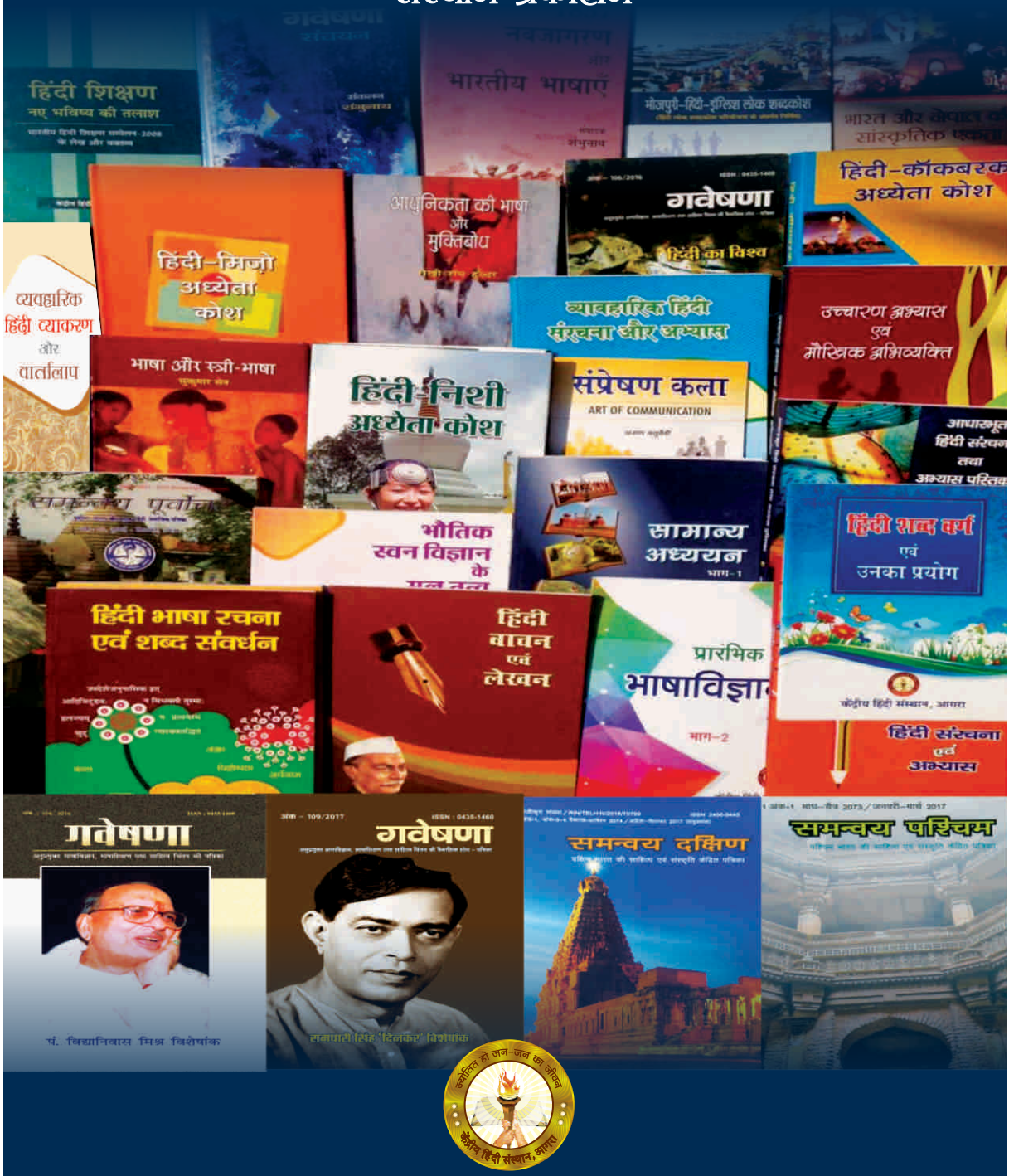

मुद्रक राष्ट्रभाषा ऑफ्सेट प्रेस, आगरा तथा प्रकाशक डॉ. गंगाधर वानोडे, विभागाध्यक्ष, अंतरराष्ट्रीय हिंदी शिक्षण विभाग, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा द्वारा सचिव, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा के पक्ष में 26/470, बल्का बस्ती, राजा की मंडी, आगरा (मुद्रण स्थल) से मुद्रित तथा केंद्रीय हिंदी संस्थान, हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005 (उ.प्र.) (प्रकाशन स्थल) से प्रकाशित, संपादक डॉ. गंगाधर वानोडे।